विशिष्ट रचनाएं

चौधरी चरण सिंह

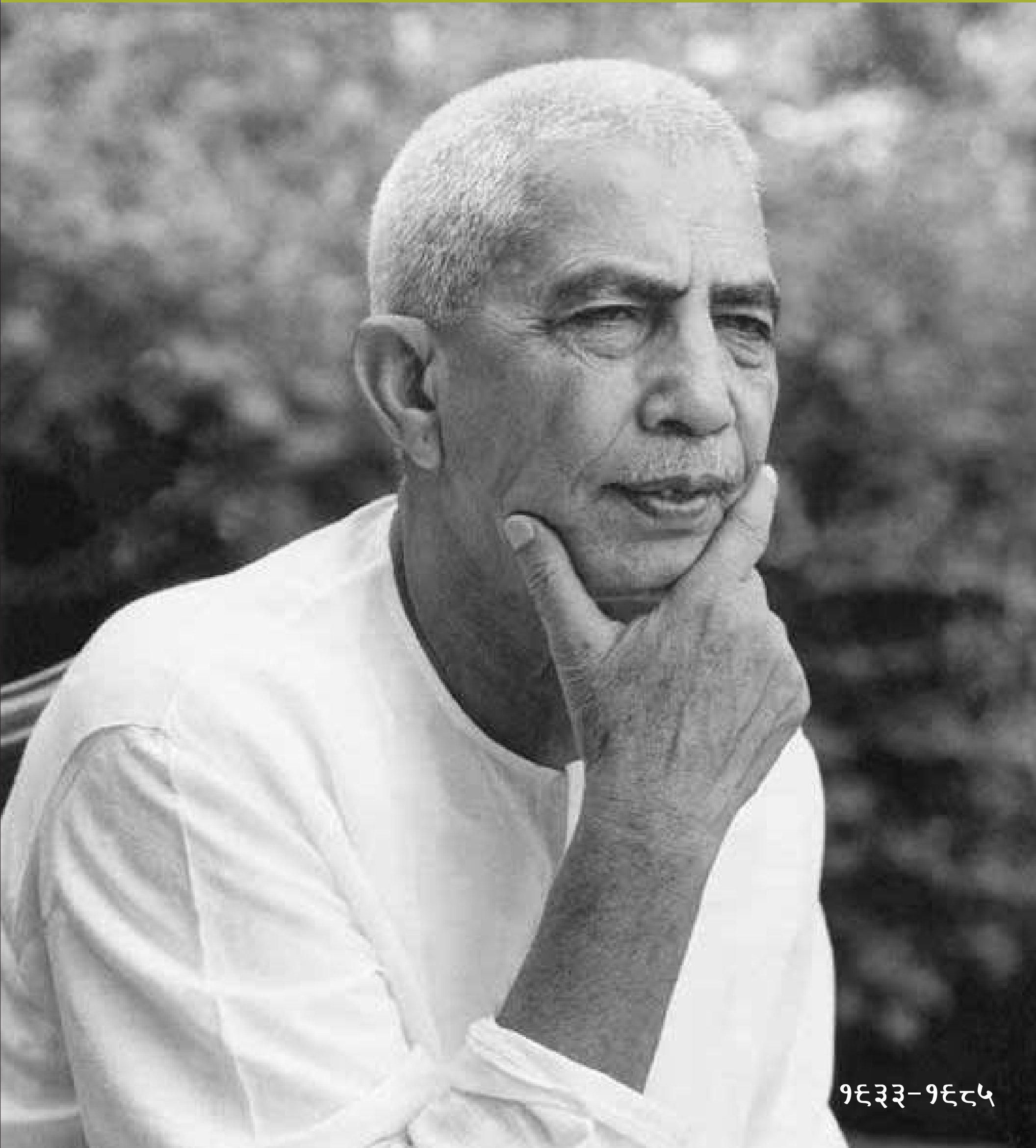

विशिष्ट रचनाएं

चौधरी चरण सिंह

भूमिका
मधु लिमये

सम्पादक
अजय सिंह

प्रकाशनाधिकार © किसान ट्रस्ट
प्रथम संस्करण १९८८, किसान ट्रस्ट, दिल्ली

२३ दिसम्बर २०२०
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.org
info@charansingh.org

मूल्य १९९ रूपये

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

परिचय

किसी भी व्यक्ति के चिंतन और लेखन का महत्व इस बात में निहित होता है कि उनके विचार न केवल समकालीन चुनौतियों से मुठभेड़ करते हैं, अपितु आने वाले दौर के प्रश्नों से भी टकराते हैं, उनका समाधान प्रस्तुत करते हैं। देश के पांचवें प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह एक ऐसे ही राजनेता थे। खेती–किसानी से लेकर जातिवाद और सांप्रदायिकता, लोकसत्ता बनाम तानाशाही, भ्रष्टाचार, शिष्टाचार, जनसंख्या–नियंत्रण, भाषाई विवाद तथा ऐसे तमाम मुद्दों पर, जो आज भी हमारे राष्ट्रीय फलक पर विद्यमान हैं, वह न केवल राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय रहे अपितु अपनी कई पुस्तकों, अखबारी लेखन और भाषणों के जरिए उन्होंने समय–समय पर अपने विचारों को कलमबद्ध किया।

चौधरी साहब जानते थे कि उनकी बातें–विचार गांव का किसान–मजदूर तो ग्रामसभाओं, खेत–खलिहानों और जनसभाओं में भी सुन–समझ लेगा लेकिन महानगरों की ऊंची–ऊंची अट्टालिकाओं में रहने वाले प्रभुवर्ग और सरकारी दफ्तरों के एयरकंडीशंड कमरों में बैठे नये भारत के भाग्य–विधाताओं को समझाने के लिए लेखन जरूरी है और वह भी उसी भाषा में, जिसके बल पर ये वर्ग जन गण मन को आतंकित करते हैं अर्थात अंग्रेजी। इसीलिए चौधरी साहब ने अधिकांश लेखन अंग्रेजी में ही किया।

गुजरे दौर और वर्तमान समय के यक्ष–प्रश्नों पर चौधरी साहब के विचार इस पुस्तक में संकलित हैं जिस के अध्ययन से आज का पाठक वर्ग जान सकेगा कि मौजूदा समय की चुनौतियां न तो नई हैं और न ही समाधानहीन। इनसे निपटने के लिए एक मन–सोच अथवा जिगरा चाहिए, जो निश्चय ही धरा–पुत्र चरण सिंह में था। उनका लेखन उस प्रकाशस्तंभ की तरह है जो समुद्र में भटके हुए जहाजों को किनारे तक आने का रास्ता दिखाता है। जी हाँ, उनके लेखन के आलोक में हम मौजूदा चुनौतियों को सही परिप्रेक्ष्य में न केवल समझ सकते हैं अपितु उनका समाधान भी पा सकते हैं।

चौधरी अजीत सिंह और किसान ट्रस्ट उम्मीद करते हैं की इस पुस्तक का पुनः प्रकाशन चौधरी चरण सिंह के इन बेहद समीचीन तथा महत्वपूर्ण रचनाओं को जनता के बीच पहुंचाने में सफल होगा।

दिल्ली
२३ दिसंबर २०२०

भोला शंकर शर्मा
मैनेजिंग ट्रस्टी, किसान ट्रस्ट

चरण सिंह के पिता मीर सिंह तथा माता नेत्र कौर, १९५०

भूमिका

आगरा और अवध के संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) ने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, मोतीलाल नेहरू और वज़ीर हसन जैसे नेताओं की एक आकाशगंगा को जन्म दिया। लेकिन वस्तुतः गांधी–युग में यह प्रांत अपने उरूज पर आया। असहयोग आन्दोलन के दौरान जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, गोविन्द वल्लभ पंत, आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानंद, रफी अहमद किदवई और मोहनलाल सक्सेना जैसे विशिष्ट व्यक्तियों ने ख्याति पाई। जवाहरलाल नेहरू इनमें सबसे बड़े कद के नेता थे। चौधरी चरण सिंह, चन्द्रभानु गुप्ता, कमलापति त्रिपाठी और बनारसी दास इन नेताओं के शिष्य थे, जिन्होंने राज्य में महत्त्वपूर्ण ओहदे सम्हाले।

नयी पीढ़ी के नेताओं में चरण सिंह सिर्फ सबसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं बल्कि कई मायनों में सबसे ज़्यादा असामान्य नेता भी थे। उनके बीच चरण सिंह ही ऐसे व्यक्ति थे, जो समाजवादी विचारों से अछूते थे और ये विचार कांग्रेसी नेताओं और उनके अनुवर्तियों के सामान्य गुण थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक बड़े नेता दादा भाई नौरोजी ने भारत के स्वराज्य के संघर्ष के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन का समर्थन प्राप्त करने हेतु एम्स्टर्डम में आयोजित सोशलिस्ट इन्टर नेशनल की कान्फ्रेंस में हिस्सा लिया था, जिसके कारण इंग्लैण्ड में उनके उदारवादी मित्र और भारत में नरम दलवादी साथी उनसे नाराज भी हुए। दादाभाई के इस कदम की प्रशंसा करते हुए लोकमान्य तिलक ने बड़े पूंजीपतियों और जमीदारों द्वारा गरीबों के शोषण के खिलाफ विश्वव्यापी समाजवादी आन्दोलन और गुलाम भारत के प्रति इसकी सहानुभूति की बात की थी। तिलक ने यह भी कहा था कि किसी न किसी दिन समाजवादी आन्दोलन की निःसंदेह जीत होगी। उन्होंने कहा कि भारत में विदेशी नौकरशाही तंत्र से लड़ने के लिए दुनिया के समाजवादियों से मदद लेने में कुछ गलत नहीं है। तिलक के अलावा लाला लाजपत राय, सी० आर० दास और दूसरे कई पुराने नेताओं के मन में समाजवादी उद्देश्य के प्रति सहानुभूति थी। महात्मा गांधी ने, जिन्होंने कांग्रेस आन्दोलन को स्वरूप प्रदान किया,

अपने आप को समाजवादी या साम्यवादी कहा लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उनके समाजवाद में हिंसा, राज्यवाद और केन्द्रीकरण लेश मात्र भी नहीं था। जहां तक जवाहरलाल नेहरू और सुभाष बोस का सवाल है, उन्होंने समाजवाद में अपनी आस्था खुले तौर पर घोषित की।

उत्तर प्रदेश की कांग्रेस समाजवादी विचारों से रंगी हुई थी और एक मौलिक कृषि कार्यक्रम के प्रति प्रतिबद्ध थी, जिसमें ज़मींदारी प्रथा को खत्म करना और राज्य एवं किसानों के बीच से बिचौलियों को समाप्त करना शामिल था। लेकिन यह कुछ आश्चर्य की बात है कि जहां उत्तर प्रदेश के वरिष्ठ नेता और समकालीन लोग समाजवादी विचारों से प्रभावित थे, वहीं चरण सिंह इन प्रभावों से पूरी तरह अछूते रहे थे। मेरी राय में इसके दो कारण हैं। पहला, उनकी प्रेरणा के स्रोत सबसे पहले स्वामी दयानंद और फिर महात्मा गांधी थे। दूसरा कारण यह था कि समाजवादी विचारों से उनका परिचय कभी भी ठीक तरह से नहीं हुआ था। वह एक गैर औद्योगिक क्षेत्र के व्यक्ति थे और उन्होंने मुझसे कई बार यह कहा कि औद्योगिक पूंजीवाद की कार्य–प्रणाली के बारे में उन्हें ज़्यादा जानकारी नहीं है। बहरहाल, वह बड़े व्यापारियों और एकाधिकारियों के प्रभुत्व के खिलाफ थे। यह उनके और समाजवादियों के बीच एक कड़ी की तरह होना चाहिये था। मगर ऐसा नहीं हुआ और इसका बड़ा कारण यह है कि उनकी सोच का मुख्य विषय औद्योगिक शोषण नहीं, बल्कि कृषि सम्बन्धी समस्या और सामाजिक सवाल थे।

समाजवादी दल ज़मींदारी प्रथा को खत्म करने के पक्ष में था। जवाहरलाल खुद इसके कट्टर समर्थक थे। चरण सिंह के मन में सरदार पटेल के लिए बहुत श्रद्धा थी, लेकिन उन्हें मालूम नहीं था कि सरदार पटेल ज़मींदारी खत्म करने के पक्ष में नहीं थे। उत्तर प्रदेश में वस्तुतः जवाहरलाल, गोविन्द बल्लभ पंत, पुरुषोत्तम दास टण्डन और समाजवादियों ने कांग्रेस को इस दिशा में कदम उठाने के लिए मजबूर किया।

जब चरण सिंह एक कनिष्ठ मंत्री बने और महान भूमि–सुधार विधेयक विधान मंडल में पारित करवाने की जिम्मेवारी उन्हें सौंपी गयी, तब तक समाजवादी कांग्रेस छोड़ चुके थे और भूमि सुधार के मामले में उन दोनों के बीच सहयोग की कोई सम्भावना नहीं थी।

चौधरी भूमि सुधार कानून को बिना प्रतिक्रियावादी परिवर्तन के पास करने तथा उसको निष्फल बनाने के निहित स्वार्थों द्वारा किये गये प्रयासों के खिलाफ लड़े। हालांकि हमेशा उनकी चल नहीं पाई किन्तु इसमें संदेह नहीं कि मुख्य रूप से उन्हीं की लगन और समर्पण के कारण उत्तर प्रदेश भूमि–सुधार कानून का प्रगतिशील चरित्र बना रहा।

इसलिए चौधरी को कुलकों का समर्थक कहना अन्याय है। वह ज़मीन के स्वामित्व के मामले में व्यापक असमानता के खिलाफ थे और एक किस्म के कृषि प्रजातंत्र के पक्षधर थे। औद्योगिक क्षेत्र में वह एक ऐसी विकेन्द्रीकृत अर्थ–व्यवस्था के पक्ष में रहे, जिसमें बड़े पैमाने पर तकनीक का प्रयोग सिर्फ उन क्षेत्रों में सीमित हो, जहां उसकी निहायत ज़रूरत है।

तब समाजवादी कार्यक्रम में ऐसा क्या था, जिस पर चौधरी चरण सिंह का आक्षेप था? इसका कारण ज़मींदारी खत्म करना नहीं हो सकता था। इसका कारण पूंजीवाद का विरोध नहीं हो सकता था। इसका कारण लोहिया द्वारा छोटी इकाई की तकनीक का समर्थन भी नहीं हो सकता था। मेरी समझ से इसका मुख्य कारण राज्य द्वारा खेती और सामूहिक खेती का समर्थन था, जिससे चरण सिंह के बुनियादी मतभेद थे। जवाहरलाल ने बार–बार व्यक्तिगत खेती की जगह सामूहिक और सहकारी खेती पर जोर दिया था। प्रारम्भ के कांग्रेस–समाजवादी कार्यक्रम ने भी सामूहिक खेती का समर्थन किया, हालांकि बाद में समाजवादियों ने इस कार्यक्रम को त्याग दिया था। लेकिन चरण सिंह को समाजवादियों की नयी सोच और उनके द्वारा अपने परम्परागत कार्यक्रमों के पुनर्मूल्यांकन की जानकारी नहीं थी।

चरण सिंह जानते थे कि अपने खेत से किसानों का कितना गहरा जुड़ाव है। वे मानते थे कि सामूहिक खेती मानव स्वभाव के विरुद्ध है। उन्हें विश्वास था कि सामूहिक या सहकारी खेती से उत्पादन पर बुरा असर होगा और मुल्क विनाश की ओर अग्रसर होगा।

पोलैण्ड, चीन, यूगोस्लाविया और अब सोवियत रूस जैसे साम्यवादी देशों का अनुभव यह बतलाता है कि चौधरी साहब की राय सही थी। खेती के जबरन सामूहीकरण से सोवियत कृषि को पहुंची हानि से उबारने के लिए सोवियत सुधारक १९५३ से भरसक कोशिश कर रहे हैं। लेकिन वे सफल नहीं हो पाये, क्योंकि उन्होंने व्यवस्था में मौलिक सुधार किये बिना ही सुधार लाने की कोशिश की। सामूहिक किसानों को ज़मीन के छोटे–छोटे टुकड़े देने की सोवियत पद्धति काफी पुरानी है। ज़मीन के इन टुकड़ों की, जिन पर किसान फल के पेड़, सब्जियां लगाते थे और मुर्गी, सूअर, गाय आदि पालते थे, उत्पादन क्षमता हमेशा बहुत ज़्यादा रही है। फिर भी सोवियत नेताओं ने इससे आवश्यक सीख नहीं ली। बुरे हाल में फंसी सोवियत कृषि को बचाने के लिए गोर्वाचेव हिम्मत के साथ प्रयास कर रहे हैं। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के जून–जुलाई में हुए सम्मेलन में कई वक्ताओं ने यह विलाप किया कि "ग्रामीण क्षेत्र तबाही में है।" गोर्वाचेव ने अब पट्टेदारी पद्धति के प्रयोग की बात चलाई है। यह और कुछ नहीं

बल्कि पिछले दरवाजे से निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को लागू करना है। लेकिन मूल्य की गारंटी, ऋण देने वाली संस्थाओं और कृषि से सम्बद्ध एजेंसियों से आवश्यक मदद के बिना पट्टेदारी से प्राप्त ज़मीन पर अपनी बचत का धन कौन खर्च करना चाहेगा? निःसंदेह गोर्वाचेव के रास्ते में कई मुश्किलें हैं, मगर इस सोवियत प्रयोग से बहुत उम्मीदें हैं और इससे यह पता चलता है कि चरण सिंह द्वारा सामूहीकरण और सहकारी करण का विरोध दुराग्रहपूर्ण नहीं था। सहकारी खेती पर जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रायोजित नागपुर प्रस्ताव का (१९५९), चौधरी ने साहसपूर्वक विरोध किया था, जो मृत–पत्र ही रहा है। इससे भी चरण सिंह की समझ सही साबित होती है।

सामाजिक व सांस्कृतिक नीति के क्षेत्र में चरण सिंह के विचारों में कुछ विरोधाभास या अन्तर्विरोध रहे हैं। जहां वह हिन्दू एकता के विचारों से आकर्षित हुए थे, वहीं उन्होंने परम्परागत श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था, जिसके कारण निम्न श्रेणी के लोग निकृष्ट माने जाते थे, को पूर्णतया अस्वीकार किया। चरण सिंह ब्राह्मणवाद और उसकी अवधारणाओं के खिलाफ थे। जनसंघ–भाजपा और आर० एस० एस० के साथ उनके संदिग्ध सम्बन्ध का मुख्य कारण यही था। हिन्दुओं के गौरवपूर्ण अतीत की उनकी बातें उन्हें उनकी ओर खींचती थीं लेकिन उनके उच्च जातीय से आपूरित अक्खड़पन के कारण चरण सिंह का आकर्षण विरोध में बदल गया। वर्ण की पवित्रता का पक्ष लेना उनकी दूसरी अस्पष्टता थी। चूंकि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का सार तत्त्व जाति है; जाति संस्था का विरोध और हिन्दू सुदृढ़ीकरण के प्रति जुड़ाव के बीच का विरोधाभास, कम से कम अल्पकाल में, खत्म नहीं हो सकता। चूंकि चरण सिंह ने वर्ण–व्यवस्था को स्वीकारा था, डॉ० अम्बेदकर, जो जन्म पर आधारित वर्ण और जाति व्यवस्था में कोई भेद नही देखते थे, के अनुयायी उन्हें प्रतिक्रियावादी मानते थे। और इसलिए वे उनका विश्वास नहीं जीत पाये। कुछ वर्षों तक महात्मा गांधी भी वर्ण–व्यवस्था के पक्षधर रहे और उन्होंने अन्तर्जातीय और अन्तर साम्प्रदायिक विवाहों को गैर–जरूरी ही नहीं, हानिकारक भी माना। बाद में उन्होंने पूरी तरह अपने विचार बदल दिये और ऐसे मिश्र विवाहों के कट्टर समर्थक बने। चौधरी साहब भी मिश्रित विवाहों के बड़े समर्थक थे और इसलिए मेरी राय में, उन्हें जातिवादी कहना अन्यायपूर्ण होगा।

हालांकि कृषक लोकतंत्र और विकेन्द्रीकृत अर्थ–व्यवस्था में उनका गहरा और ईमानदार विश्वास था, उन्होंने महसूस किया कि सत्ता के वगैर कुछ भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए वे सत्ता चाहते थे और उसे पाने

के लिए उन्होंने विरोधाभासी गठबंधन भी किये। गैर–कांग्रेसी पार्टियों और कांग्रेस (१९६७ और १९७०), दोनों के साथ, उन्होंने सम्बंध बनाये। फिर भी आम कांग्रेसियों की तरह वह खालिस रूप से सत्ता के पीछे भागने वाले राजनीतिज्ञ नहीं थे। चूंकि वह अपनी आस्थाओं और कार्यक्रम से गहरे रूप से जुड़े हुए थे, सत्ता में आने पर उन्हें लागू करने में वह कभी नहीं झिझके, और इस प्रक्रिया में उन्होंने हमेशा पदच्युत होने का खतरा मोल लिया। यही कारण है कि वह अपने पदों पर हमेशा थोड़े समय के लिए रहे–जैसे १९६७–६८; १९७०, १९७७–७८ तथा १९७९ में। जब भी वह किसी पद पर रहे, एक सशक्त और ईमानदार शासक के रूप में उनकी ख्याति रही और वह कामचोर कर्मचारियों के लिए सिरदर्द बने रहे।

हालांकि चरण सिंह के व्यक्तित्व का विकास गांधी–युग में हुआ और वह कई बार जेल गये थे, उनका विचार था कि लोकतंत्र में नागरिक अवज्ञा के लिए कोई जगह नहीं है। अन्याय के निदान के लिए सरकार को वोट के जरिये बदलना चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता थी। हम लोग उनके इस विचार से कतई सहमत नहीं थे। चौधरी दुराग्रही नहीं थे और उनकी राय बदलवा पाने में मैं सफल हुआ। अंतिम वर्षों में उन्होंने इस बात की ज़रूरत को स्वीकार किया कि प्रत्यक्ष बुराइयों को दूर करने के लिए शांतिपूर्ण संघर्ष आवश्यक है। ऐसा एक अवसर माया त्यागी का वीभत्स प्रसंग था। जब सरकार पर हमारे प्रतिवेदनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब उन्होंने सत्याग्रह करने के लिए मुझे और दल को न सिर्फ अपनी स्वीकृति दी, बल्कि एक लेख भी लिखा, जिसका शीर्षक था 'सत्याग्रह की घड़ी'। वह खुद इस सत्याग्रह में हिस्सा लेना चाहते थे, लेकिन कुछ पक्षपाती लोगों ने उन पर अनुचित दबाव डाला और उनके सहज बोध को कुंठित कर दिया। आज इस घड़ी में, जब विपक्षी पार्टियों के बीच एकता की आवश्यकता व्यापक पैमाने पर महसूस की जा रही है, चरण सिंह का व्यावहारिक ज्ञान और विपक्षी एकता का उनका कट्टर समर्थन, राजनीतिक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा–स्रोत होगा।

किसान ट्रस्ट के अध्यक्ष, अजय सिंह, चरण सिंह के उदीयमान युवा शिष्यों में से एक हैं। चरण सिंह के लेखों का संग्रह अनुकूल समय पर प्रकाशित करने के लिए मैं उन्हें बधाई देता हूं।

मधु लिमये

जुलाई ८, १९८८
नई दिल्ली

चरण सिंह उत्तर प्रदेश में मंत्री के रूप में, १९५२

प्रस्तावना

राजनीतिक जीवन की शुरूआत से जीवन के अंतिम सोपान तक जिस व्यक्ति ने इस देश के दलितों और पिछड़ों के दर्द को जिया और उनके लिए संघर्ष किया, भारतीय राजनीति के उस शलाका पुरुष का नाम था—चौधरी चरण सिंह। २३ दिसम्बर १९०२ को मेरठ कमिश्नरी की हापुड़ तहसील में, बाबूगढ़ छावनी के निकट, नूरपुर गांव में चौधरी चरण सिंह का जन्म हुआ था। गांव के परिवेश में पलते—बढ़ते हुए उन्होंने किसानों की समस्याओं और ग्राम्य जीवन की दुरूहताओं को बहुत करीब से देखा था, और देखा था उस शोषण को, जिसके चलते देश का अन्नदाता खुद भूखा—नंगा रहने को विवश था। इन्हीं हालात ने उनके मन में एक संकल्प—बीज को रोपा, यह संकल्प था समाज के सबसे पिछड़े और दलित जन के अधिकारों की बहाली के लिए संघर्ष करने का। जीवन पर्यन्त वह इसी लक्ष्य को समर्पित रहे।

चौधरी चरण सिंह ने १९२५ में आगरा विश्वविद्यालय से इतिहास में स्नातकोत्तर उपाधि तथा १९२६ में कानून की डिग्री प्राप्त की। १९२८ में उन्होंने गाजियाबाद में वकालत की प्रैक्टिस शुरू कर दी। १९२९ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य का उद्घोष हुआ। इन्हीं दिनों युवा एडवोकेट चौधरी चरण सिंह ने गोपीनाथ 'अमन', जो बाद में दिल्ली से प्रकाशित प्रसिद्ध उर्दू दैनिक 'तेज' के सम्पादक मंडल में चले गये, के साथ मिलकर गाजियाबाद में कांग्रेस कमेटी का गठन किया। १९३० में नमक सत्याग्रह के दौरान वह पहली बार जेल गये। छह महीने की सजा हुई। जिन दिनों चौधरी साहब जेल गये थे, उनके बच्चे छोटे—छोटे थे। उन्हें सामान्य शिष्टाचार और सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देने के उद्देश्य से चौधरी साहब ने जेल से उन्हें पत्र लिखे थे। उनमें से दो पत्र इस पुस्तक में दिये जा रहे हैं (देखें पृष्ठ १४ से २०)।

नवम्बर, १९४० में आजादी के लिए उन्होंने फिर से जेल यात्रा की। व्यक्तिगत सत्याग्रही के रूप में उन्हें एक साल की सजा हुई। अक्टूबर, १९४१ में उन्हें जेल से छोड़ा गया। १९४२ में महात्मा गांधी के "करो या मरो" के आह्वान पर चौधरी साहब ने भूमिगत रूप से गाजियाबाद, हापुड़,

मेरठ, मवाना, सरधना, बुलन्दशहर आदि स्थानों पर क्रांतिकारियों का गुप्त संगठन खड़ा कर दिया। ब्रिटिश गुप्तचर और पुलिस उनके पीछे लग गये। अगस्त, १९४२ में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस बार उनकी गिरफ्तारी डी० आई० आर० के अन्तर्गत हुई थी। नवम्बर, १९४३ में उन्हें रिहा किया गया।

१९२९ से १९३९ तक गाजियाबाद जिला कांग्रेस कमेटी में वह विभिन्न पदों पर रहे। १९३९ में उन्हें मेरठ भेज दिया गया। यहां पर भी, १९३९ से १९४६ तक, वह जिला पार्टी संगठन में महासचिव या अध्यक्ष पद पर रहे।

१९३७ में वह पहली बार बागपत–गाजियाबाद क्षेत्र से उत्तर प्रदेश धारा सभा के लिए चुने गए। उस समय उनकी आयु मात्र ३५ वर्ष थी। जनहितकारी सोच, कुशाग्र बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा का समन्वय चौधरी साहब में शुरू से ही था। १९३८ के शुरू में, उन्होंने मंडी में होने वाले किसान के शोषण को उजागर करते हुए एक लेख लिखा, जो ३१ मार्च और एक अप्रैल १९३८ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में 'Agricultural Marketing' (कृषि विपणन) पर आधारित शीर्षक से दो किश्तों में प्रकाशित हुआ। उक्त लेख इस पुस्तक में भी संकलित है (देखें पृष्ठ ८१ और ८९)। इन्हीं लेखों की विषय वस्तु के आधार पर पंजाब में तत्कालीन यूनियनिस्ट सरकार के कृषिमंत्री सर छोटूराम ने 'मंडी समिति एक्ट' पारित कराया। उत्तर प्रदेश धारा सभा में भी चौधरी साहब इस तरह का बिल रखना चाहते थे किन्तु तभी धारा सभा भंग कर दी गई।

१९३८ में चौधरी चरण सिंह पुनः धारा सभा के लिए निर्वाचित हुए। नवनिर्वाचित धारा सभा में उन्होंने एक प्रस्ताव रखा, जिसमें उन्होंने ५० प्रतिशत उच्च प्रशासनिक पद खेतिहर अथवा गांवों के निवासियों के लिए आरक्षित रखने का सुझाव दिया था, जो पारित न हो सका।

चौधरी साहब ने १९३९ में 'लैण्ड यूटिलाइजेशन' शीर्षक से एक मसविदा तैयार किया। इस बिल में यह प्रावधान था कि लगान का दस गुना जमा कर देने पर ज़मीन का स्वामित्व जोतदार को दे दिया जाए। यह बिल यद्यपि धारा सभा में पारित न हो सका किन्तु गरीब किसानों को एहसास हो गया कि उनकी समस्याओं के बारे में शिद्दत से सोचने वाला कोई व्यक्ति धारा सभा में मौजूद है।

अप्रैल १९३९ में चौधरी चरण सिंह ने कांग्रेस विधान मंडल दल के सम्मुख प्रस्ताव रखा, जिसमें प्रावधान था, "हिन्दू प्रत्याशियों से लोक सेवाओं और शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के समय जाति के बारे में कोई पूछताछ नहीं की जानी चाहिए। केवल यह जांच की जानी चाहिए कि क्या प्रत्याशी अनुसूचित जाति से सम्बंधित है।" १९४८ में उत्तर प्रदेश

सरकार द्वारा लिया गया यह फैसला उन्हीं के प्रयास का प्रतिफल था, जिसके अनुसार भविष्य में भू–राजस्व के इन्दराजों में पट्टेदारों की जाति का उल्लेख न करने का निर्णय लिया गया था।

अगस्त, १९३९ में ही चौधरी साहब को धारा सभा में ऋण निर्मोचन विधेयक पारित कराने में सफलता मिली, जिसके परिणामस्वरूप प्रदेश के लाखों गरीब किसान ऋण–मुक्त हो गये।

१९५२ में चौधरी चरण सिंह ने किसानों के सन्दर्भ में एक क्रांतिकारी कदम उठाया। जमींदारों के शोषण को समाप्त करने की दृष्टि से एक जुलाई १९५२ को उन्होंने उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार बिल पारित कराया। इस प्रक्रिया से प्रदेश के उन सभी काश्तकारों को उन जोतों का सीरदार बना दिया गया, जिन पर वे हल चला रहे थे। ऐसे सीरदारों को, जिन्होंने सरकारी मालखाने में अपने लगान की दस गुना रकम जमा कर दी, भूमिधर बना दिया गया। निर्बल, भूमिहीन किसानों के हक में यह एक क्रांतिकारी कदम था।

इसी तरह कृषि एवं राजस्व मंत्री के रूप में चौधरी साहब ने आने वाले वक्त में देश की खाद्यान्न समस्या को दृष्टिगत रखते हुए अन्न का उत्पादन बढ़ाने के उपायों पर विचार किया। बिखरी हुई कृषि जोतें अन्न उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से कितनी अनुपयुक्त हैं, चौधरी साहब इस तथ्य से वाकिफ थे। उन्होंने १९५३ में, 'चकबंदी कानून' पारित कराया। १९५४ में जब यह कानून लागू हुआ, तो इसके फायदे सामने आये। चकबंदी से श्रम और लागत में कमी आने के साथ ही अन्न उत्पादन में खासी वृद्धि हुई।

१९६३ से पूर्व सस्ते बीज, खाद तथा कृषि यंत्रों की सुविधाएं उन किसानों को ही मिल पाती थीं, जो सहकारी समितियों के सदस्य होते थे, जो किसानों की कुल संख्या के ४० प्रतिशत ही थे। चौधरी साहब ने कृषि आपूर्ति संस्थानों की योजना शुरू की, जिनके माध्यम से सभी गरीब किसानों को ये सुविधाएं मिलने लगीं। मिट्टी के वैज्ञानिक परीक्षण की योजना की शुरूआत भी उन्होंने ही की।

आत्मसम्मान के प्रश्न पर चौधरी चरण सिंह एक अप्रैल, १९६७ को विधान सभा में अपने साथियों सहित विरोधी बेंचों पर जा बैठे। इसी के परिणाम स्वरूप तीन अप्रैल, १९६७ को उत्तर प्रदेश में संविद सरकार का गठन हुआ और चौधरी चरण सिंह मुख्यमंत्री बने।

चौधरी साहब ने मुख्यमंत्री बनते ही निचले तबकों और किसानों की हालत में सुधार लाने के अनेक काम किये। कुटीर उद्योग तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि की योजनाओं को क्रियान्वित करने की दृष्टि से सरकारी

एजेंसियों द्वारा ऋण देने के तौर–तरीकों को सुगम बनाया, साढ़े छह एकड़ तक की जोत पर आधा लगान माफ कर दिया तथा दो रुपये तक का लगान बिल्कुल समाप्त कर दिया गया, किसानों की उपज–विशेषकर नकदी फसलों–के लाभकारी मूल्य दिलाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये, भूमि भवन कर समाप्त कर दिया। सरकारी काम–काज में हिन्दी का शत–प्रतिशत प्रयोग तथा २३ तहसीलों में, जो उर्दू बहुल थीं, सरकारी गजट उर्दू में उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गयी।

अलबत्ता तमाम जनहित के कार्यों और सफल प्रशासनिक क्षमता के बावजूद संविद के संसोपा और जनसंघ घटकों के मनमाने तौर–तरीकों के कारण, १० माह बाद ही चौधरी चरण सिंह ने खिन्न होकर मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया।

१० फरवरी, १९७० को चन्द्रभानु गुप्त की कांग्रेस सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। हालात कुछ ऐसे बने कि १७ फरवरी को चौधरी साहब भारतीय क्रांति दल के नेता के रूप में पुनः मुख्यमंत्री बने।

चौधरी साहब ने सत्ता में आते ही कृषि उत्पादन बढ़ाने की नीति को प्रोत्साहन देते हुए उर्वरकों से बिक्री कर उठा लिया, साढ़े तीन एकड़ वाली जोतों का लगान माफ कर दिया भूमिहीन खेतिहर मजदूरों को कृषि भूमि दिलाने के कार्य पर और जोर दिया। छह महीने की अवधि में ही ६,२६,३३८ एकड़ भूमि के सीरदारी पट्टे और ३१,१८८ एकड़ के आसामी पट्टे वितरित किये गये। सीलिंग से प्राप्त सारी ज़मीन भूमिहीन हरिजनों तथा पिछड़े लोगों को ही दी गयी। भूमि विकास बैंकों की कार्य–प्रणाली को उपयोगी बनाया।

२६ जून, १९७५ की रात को श्रीमती इंदिरा गांधी ने देश में आपात स्थिति लागू कर दी। बड़े–बड़े नेता जेलों में डाल दिये गये। मार्च, १९७६ में चौधरी साहब को इलाज के लिए पैरोल पर जेल से छोड़ा गया। उन दिनों आपात स्थिति के विरुद्ध एक शब्द भी कहना भयानक अपराध था। ऐसे माहौल में चौधरी साहब ने २३ मार्च १९७६ को उत्तर प्रदेश विधान सभा में नेता–विरोधी दल की हैसियत से जो भाषण दिया, वह अपने आप में एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। उक्त भाषण इस पुस्तक के राजनैतिक लेखन में सम्मिलित है (देखें पृष्ठ १५८)।

चौधरी साहब ने जनता पार्टी के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। जनता पार्टी का नाम, चुनाव चिन्ह एवं घोषणा पत्र उन्हीं के द्वारा प्रस्तावित था।

१९७७ में आम चुनाव के बाद केन्द्र में जनता पार्टी शासन में आई। चौधरी चरण सिंह केन्द्रीय गृहमंत्री बने। गृहमंत्री बनते ही चौधरी साहब

ने पिछड़ों और परिगणित जाति के लोगों के लिए सरकारी नौकरियों में समुचित आरक्षण की दृष्टि से मंडल आयोग की स्थापना का ऐतिहासिक काम किया। दुर्भाग्य की बात यह रही कि जनता सरकार का अल्पकाल में ही पतन हो गया, अन्यथा मंडल आयोग की सिफारिशें लागू होने पर पिछड़ों के साथ सामाजिक न्याय की स्थिति बेहतर होती।

चौधरी साहब ने अल्पसंख्यकों के हित संवर्धन की दृष्टि से अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की थी।

१९७९ में जब चौधरी चरण सिंह उप–प्रधानमंत्री तथा वित्त मंत्री बने, तब भी उन्होंने कृषि तथा कुटीर उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक निर्णय लिये।

२४ जुलाई, १९७९ को जब चौधरी चरण सिंह प्रधानमंत्री बने, उस दिन इस देश के करोड़ों दलितों–पिछड़ों में हर्ष की लहर दौड़ गई।

प्रधानमंत्री के पद पर रहते हुए उन्होंने पहली बार देश में ग्रामीण पुनरुत्थान मंत्रालय की स्थापना की, जिसका लक्ष्य स्वतंत्र रूप से ग्रामीण विकास की सम्भावनाओं का आंकलन कर, उन्हें क्रियान्वित करना था। केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के बाद इंका सरकार ने ग्रामीण पुनरुत्थान मंत्रालय का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त कर, 'ग्रामीण विकास विभाग' के नाम से कृषि मंत्रालय के अधीन कर दिया।

चौधरी चरण सिंह उन लोगों में से थे, जो कर्म के साथ चिंतन और लेखन में भी सक्रिय रहते थे। चौधरी साहब के मन में आचार से पहले जिस विचार का जन्म होता था, उसे वह लिखते थे, समाज के सामने रखते थे। सम्बंधित विषय की आलोचना का उत्तर भी बेहद ईमानदारी से देते थे। यह दीगर बात है कि उनके आलोचकों ने उनके उत्तर के बाद उनसे सहमत या असहमत होने की ईमानदारी कम ही दिखाई।

चौधरी साहब ने १९४९ में जब ज़मींदारी उन्मूलन विधेयक तैयार किया और उक्त विधेयक को विधान मंडल के दोनों सदनों की समितियों को संस्तुति के लिए भेजा गया, तो कांग्रेस के ही कुछ विधायकों ने इस विधेयक की आलोचना की। इन आलोचनाओं के उत्तर में चौधरी साहब ने एक लेख लिखा, जो लखनऊ से प्रकाशित 'नेशनल हेराल्ड' के १६ अगस्त १९४९ के अंक में प्रकाशित हुआ था–'उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलनः आलोचनाओं का जवाब' (देखें पृष्ठ ९२)।

इसी तरह चौधरी साहब पर उनके विरोधी सुनियोजित ढंग से जातिवादी होने का आरोप लगाते रहे थे। एक बार श्रीमती इंदिरा गांधी ने उन्हें 'जाट नेता' कहकर सम्बोधित किया। इसी तरह एक रिपोर्ट में 'ब्लिट्ज' साप्ताहिक (२९ अगस्त १९८३) के दिल्ली ब्यूरो प्रमुख श्री ए. राघवन ने भी उन्हें

'जाने–माने जाट नेता' कहकर सम्बोधित किया। इस तरह के सभी आरोपों का चौधरी साहब ने तर्क के आधार पर खंडन किया।

यह सब लिखने का आशय यह है कि चौधरी साहब कर्म और चिंतन, दोनों, के धरातल पर समान रूप से सक्रिय थे। अनेक विद्वानों का मत है और हाल ही में अर्थशास्त्री जे० डी० सेठी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है कि गांधीजी के बाद भारतीय राजनेताओं में चौधरी चरण सिंह ही एकमात्र ऐसे राजनेता थे, जिनकी अपनी आर्थिक विचारधारा थी। चौधरी साहब की लिखी पुस्तक 'इकोनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इंडियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर' (भारत की भयावह आर्थिक स्थितिः कारण और निदान) देश–विदेश में चर्चित रही है। अमेरिका के प्रमुख विश्वविद्यालय हारर्वड युनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में भी यह शामिल है।

चौधरी साहब से मेरा पारिवारिक सम्पर्क था। १९४८ में जिस समय मेरे पिता, कैप्टन भगवान सिंह बुलन्दशहर जिले में, जिलाधीश थे, चौधरी साहब उत्तर प्रदेश शासन में पार्लियामेन्ट्री सेक्रेटरी थे। जब भी चौधरी साहब बुलन्दशहर आते, हमारा आतिथ्य अवश्य स्वीकार करते। चौधरी साहब ने उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलन के जरिए, जिसे क्रियान्वित करने में पिताजी का और चौधरी साहब का पूर्णरूपेण मतैक्य था, जो क्रांतिकारी कार्य किया तथा इसका प्रदेश के पिछडों और भूमिहीनों के जीवन पर जो प्रभाव पड़ा था, उसके विषय में मुझे पिता जी से काफी कुछ सुनने और समझने को मिला।

जहां तक व्यक्तिगत सम्पर्क का सवाल है, तो यह अवसर मुझे १९७७ में मिला। मैं विदेशों में पढ़ाई पूरी कर, भारत वापस लौटा था और "इंडिया टुडे" पत्रिका में, पत्रकार के तौर पर, अपने कॅरियर की शुरूआत की थी। चौधरी साहब उन दिनों जनताशासन में गृहमंत्री थे। मैं "इंडिया टुडे" की ओर से उन्हें इन्टरव्यू करने गया था। चौधरी साहब के बारे में जिस अनुशासन और सादगी की बात मैं सुनता आया था, उनसे मिलकर मुझे वैसी ही अनुभूति हुई। कभी–कभी वह पत्रिका की "लाइन" से भले ही नाराज हो जाते थे किन्तु व्यक्तिगत तौर पर मेरे प्रति उनका स्नेह सदैव बढ़ता ही रहा।

जिस समय चौधरी साहब भारत सरकार में गृहमंत्री एवं प्रधानमंत्री थे, उन्होंने मुझे अपने साथ काम करने को बुलाया किन्तु मैंने उस समय विनम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी, क्योंकि वे उस समय सत्ता में थे और उनके साथ काम करने वालों की कोई कमी नहीं थी। १९८० में, जब विधान सभा चुनाव हो रहे थे तथा चौधरी साहब की पार्टी सत्ता से बाहर जा चुकी थी, उन्होंने मुझे फिर बलाया और अपने साथ जुड़ जाने

को कहा। इस बार मैं ना न कह सका और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ग्रुप की डिप्टी एडीटरी छोड़कर उनसे जुड़ गया। तब से अंतिम समय तक उनका सानिध्य मुझे प्राप्त हुआ। इस दौरान चौधरी साहब ने मुझे जितना स्नेह दिया, उतना ही विश्वास भी दिया। वैसे तो मैं उनके लेखन–पठन सम्बंधी कार्यों में सहायता करता था किन्तु उन्होंने मेरा प्रयोग अपने 'विश्वासपात्र' के तौर पर भी किया। मुझे उन्होंने देश के बड़े से बड़े नेताओं के पास अपना संदेश–वाहक बनाकर भेजा।

१९८० से ८५ तक ऐसे बहुत से अवसर आये, जब मुझे वस्तुस्थिति के प्रति उनके नजरिये को, अवसर विशेष पर उनकी निर्णय लेने की क्षमता और दिशा–दृष्टि को, बहुत करीब से समझने का मौका मिला। उस अनुभव के आधार पर यों तो चौधरी साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व पर ग्रंथ लिखे जा सकते हैं किन्तु चौधरी साहब के साथ बीते वर्षों के दौरान, अपने अनुभवों के आधार पर, यहां मैं उन दो बातों का उल्लेख करूंगा, जो उन्हें अन्य भारतीय राजनेताओं से अलग करती हैं।

पहली बात तो यह है कि भारतीय राजनीति में हम बड़े–बड़े नेताओं के जैसे–जैसे करीब पहुंचते जाते हैं, वैसे–वैसे उनका कद छोटा पाते हैं किन्तु चौधरी साहब के साथ इसका उल्टा था। उनको जितना करीब से कोई देखता, उनकी सरलता, सादगी, अनुशासन, विनम्रता तथा ईमानदारी के नये–नये पृष्ठ उसके सामने खुलते जाते और इस तरह से उनका कद करीब आने पर और ऊंचा नजर आता था।

दूसरी बात–चौधरी साहब के सहयोगी के रूप में काम करते हुए मुझे बहुत से राजनेताओं के सम्पर्क में आने का तथा उन्हें करीब से बरतने का मौका मिला। मैंने चौधरी चरण सिंह के अलावा–श्री मधु लिमये को छोड़कर–सामान्यतः राजनेताओं की गहन–अध्ययन में अभिरुचि नहीं पाई। चौधरी साहब के अन्दर पढ़ने की एक भूख थी, जो जितनी मिटती थी, उतनी ही बढ़ती थी। यद्यपि निहित स्वार्थी तत्त्व उनकी छवि बिगाड़ने के प्रयास में लगे ही रहते थे किन्तु चौधरी साहब इस तरह की ओछी आलोचनाओं से अप्रभावित रहते थे।

चौधरी साहब जब किसी बात को सिद्धांत–रूप में अपना लेते थे, तो उसके पहले गहन अध्ययन और मनन करते थे। उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार विधेयक उनके गहन चिंतन और अध्यवसाय का परिणाम था और यही कारण था कि उक्त विधेयक विधान सभा में मूल रूप से पारित हो सका तथा उसकी एक भी धारा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकी।

चौधरी साहब की यह विशेषता थी कि वह अपने मंत्रिमंडलीय

सहयोगियों को उनके विभागों से सम्बंधित विषयों पर लम्बे–लम्बे नोट्स भेजा करते थे। गहन चिंतन पर आधारित ये नोट्स बेहद महत्त्वपूर्ण होते थे तथा नीति निदेशक सिद्धांतों के रूप में इन पर अमल किया जा सकता था। इस पुस्तक के खण्ड दो में 'आर्थिक लेखन' के अन्तर्गत एक लेख है, 'काले धन का विमुद्रीकरण', (पृष्ठ १११); दरअसल यह एक ऐसा नोट है, जो चौधरी साहब ने जुलाई १९६७ में लिखा था एवं देश के सभी सांसदों, प्रदेश के मुख्यमंत्रियों और प्रधानमंत्री को भेजा था। उस समय वे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। आज काले धन की समानान्तर अर्थ–व्यवस्था देश को अन्दर ही अन्दर खोखला बना रही है। 'काले धन का विमुद्रीकरण' लेख से ज़ाहिर है कि चौधरी साहब ने इस भावी संकट को आज से २१ वर्ष पूर्व ही पहचान लिया था तथा इसके उन्मूलन के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे।

यहां एक बात का उल्लेख करना गैर–मुनासिब न होगा–पश्चिमी जीवन शैली की भौंड़ी नकल करने तथा अंग्रेजी की अधकचरी जानकारी से स्वयं को महिमामंडित समझने वाले, ऐसे लोगों के लिए, जो चौधरी चरण सिंह को गांव–गवई का प्रतीक मानते रहे हैं–वह उल्लेख यह है कि चौधरी साहब का जितना अच्छा अधिकार हिन्दी भाषा पर था, वैसा ही अंग्रेजी भाषा पर भी था। इस पुस्तक में संकलित उनकी अधिकांश रचनाएं अंग्रेजी से ही अनुदित हैं।

'लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स' जैसी अकादमिक पुस्तक तथा 'इकोनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इंडियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर' जैसी विशद पुस्तक, जिसमें उनके आर्थिक दर्शन का निचोड़ है, भी चौधरी साहब ने अंग्रेजी में लिखी थीं। इस सबके बावजूद चौधरी साहब की हिन्दी के प्रति अनन्य निष्ठा थी तथा सार्वजनिक मंचों से वे कहा करते थे कि राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने का काम, भाषा के स्तर पर, हिन्दी ही कर सकती है।

अध्ययन और लेखन से चौधरी साहब जीवन के अंतिम सोपान तक जुड़े रहे। जीवन के अंतिम दिनों में ही उन्होंने "लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स" पुस्तक लिखी, जिसमें उत्तर प्रदेश में भूमि सुधारों तथा ज़मींदारी उन्मूलन का विशद विवेचन किया है। १९८५ में अस्वस्थ होने से पूर्व वे, "जनता पार्टी कैसे बनी और किन विसंगतियों के चलते टूटी", इस विषय पर एक पुस्तक लिख रहे थे, साथ ही आरक्षण पर भी एक पुस्तक लिख रहे थे।

चौधरी साहब अस्वस्थ होने से पूर्व अपनी फाइलों को भी पुनर्व्यवस्थित कर रहे थे। इन सब कार्यों में मैं उनकी सहायता कर रहा था। इस कार्य

के परिणामस्वरूप नई कृति हमारे सामने आतीं किन्तु दुर्भाग्य से उनकी अस्वस्थता और अन्ततः अवसान के कारण इन महत्त्वपूर्ण कृतियों से हम वंचित रह गये।

यों तो चौधरी साहब ने उत्तर प्रदेश में सत्ता में रहते हुए गरीबों और पिछड़ों के लिए बहुत कुछ किया किन्तु इस दिशा में उनका जो अप्रतिम योगदान था वह था इस वर्ग में राजनीतिक चेतना जागृत करना। उन्होंने समाज के दबे–थके वर्गों के मन में, सत्ता में भागीदारी की भावना पैदा की। यह चौधरी साहब ही थे, जिन्होंने उत्तर प्रदेश में अपने मुख्यमंत्रित्व काल में पिछड़े वर्ग के चार लोगों को कैबिनेट स्तर का मंत्री बनाया था।

आज देश में कोई भी राजनीतिक दल किसानों और पिछड़ों की अनदेखी नहीं कर सकता। इन हालात को पैदा करने तथा सत्ता के समीकरण में इन वर्गों को एक महत्त्वपूर्ण कारक की हैसियत प्रदान करने में, चौधरी साहब की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

आज चौधरी चरण सिंह हम लोगों के बीच नहीं हैं किन्तु उन्होंने कर्म और चिंतन के स्तर पर जिस सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया, उस चिंतन को, उन विचारों को, इस देश के दबे–थके लोगों, दलितों–पिछड़ों और किसानों–मजदूरों तक पहंचाया जा सके, यही इस पुस्तक का अभीष्ट है। चौधरी साहब ने १९३३ से १९८३ के बीच जो महत्वपूर्ण लेख लिखे, उनमें से अधिकांश को इस पुस्तक में संकलित किया गया है। साथ ही उनके दो भाषण, जो कालखण्ड की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं, भी पुस्तक में संकलित हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से लेखों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लेखन–तीन खण्डों में रखा गया है। चौथे खण्ड, उपसंहार में, चौधरी साहब का १९८३ में 'रियल इंडिया' में प्रकाशित लेख संकलित है। इस लेख में उन्होंने अधिकांश मुद्दों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

अंत में, मेरा अपना विश्वास है कि वह युग अब दूर नहीं है, जब चौधरी साहब के नैतिक तथा आर्थिक मूल्यों को भारत की प्रगति का यथार्थ मानदण्ड मानकर स्वीकार कर लिया जायेगा। उस समय इस पुस्तक का विशेष मूल्य होगा। सम्भवतः यह प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर सकेगी।

किसान ट्रस्ट, **अजय सिंह**
दिल्ली

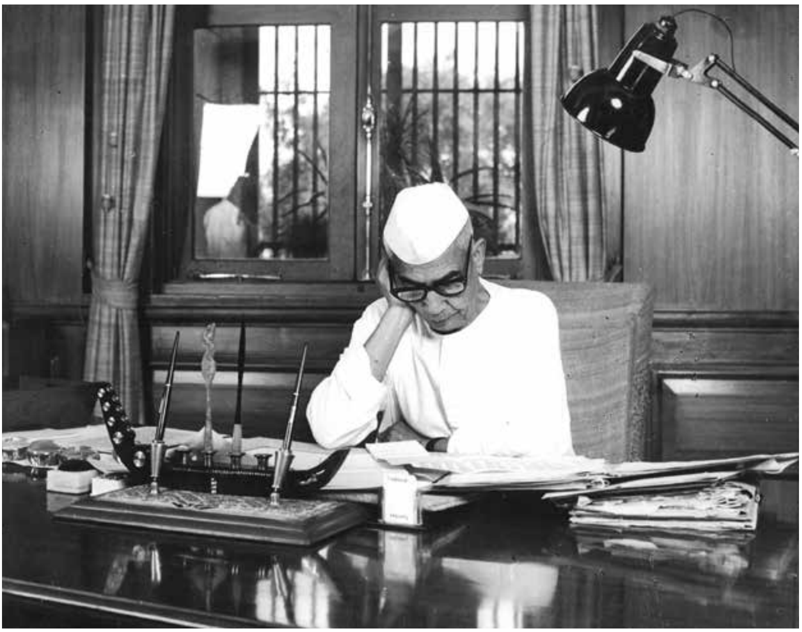

चरण सिंह
भारत के प्रधान मंत्री। दिल्ली, १९७९

अनुक्रम

परिचय iii

भूमिका v

प्रस्तावना xi

खण्ड एक

सामाजिक लेखन

१. हमारा दायित्व? (१९३३) ३

२. महर्षि का जीवन दर्शन (१९८३) ८

३. शिष्टाचार का महत्व (१९४१) १४

४. बाते हाथी पाइये, बाते हाथी पांव (१९४१) २१

५. सरकारी सेवाओं में किसान–संतान के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण क्यों? (१९४७) ३५

६. जाति–प्रथा (१९८१) ५१

७. जनसंख्या–नियंत्रण (१९७२) ६९

खण्ड दो

आर्थिक लेखन

८. कृषि विपणन (I) मंडी में किसान की लूट (१९३८) ८१

९. कृषि विपणन (II) नियमन के लिए प्रस्तावित कानून (१९३८) ८९

१०. ज़मींदारी उन्मूलनः आलोचनाओं के जवाब (१९४९) ९४

११. काले धन का विमुद्रीकरण (१९६७) १११

१२. गरीबी और भाग्यवाद का सहसम्बन्ध (१९६२) ११९

१३. भारत का बिगड़ता रूप (१९८२) १२७

खण्ड तीन
राजनैतिक लेखन

१४. हमारी गुलामी के कारण (१९४७)	१४१
१५. गांधी और गांधीवाद (१९५१)	१४९
१६. हमारा सरदार (१९५०)	१५४
१७. तानाशाही को खुली चुनौती (१९७६)	१५८
१८. नई सरकार के उद्देश्य (१९७७)	१८६
१९. सविनय अवज्ञा की घड़ी (१९८०)	१९२
२०. पंजाब समस्याः एक निर्भीक चिंतन (१९८३)	१९६
२१. भाषायी राज्यों का गठन (१९८५)	२१०

खण्ड चार
उपसंहार

२२. मेरी प्रतिबद्धता (१९७९)	२२१
चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां	२३४

खण्ड एक

सामाजिक लेखन

१
हमारा दायित्व?

चौधरी चरणसिंह के जीवन पर महर्षि दयानन्द का गहरा प्रभाव था। जिस समय अजमेर में 'महर्षि दयानन्द सरस्वती अर्द्ध–शताब्दी समारोह' का आयोजन किया गया था, उस अवसर पर चौधरी चरणसिंह ने एक लेख लिखा था–'हमारा दायित्व' (ह्वाट इज अवर ड्यूटी?) यह लेख दिल्ली से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के ३ जून १९३३ के अंक में प्रकाशित हुआ था।

इस लेख में चौधरी साहब ने आर्य–पथ के अनुयायियों का आह्वान करते हुए लिखा है कि नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा के साथ हम अपने महान गुरू के कार्यों की पूर्ति में जुट जायें, जो अजमेर में उनसे अधूरे छूट गए थे; हमारी यात्रा का यही पाथेय है।

महर्षि दयानन्द को कौन नहीं जानता? उन्होंने हमें ऐसे निराकार ईश्वर में विश्वास करने की शिक्षा दी थी, जो कभी जन्म नहीं लेता। उनका नारा था "वेदों की ओर चलो"–आर्य संस्कृति की यही आधार–शिला है, इसी पर उन्होंने अपने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों को आधारित किया है। उन्होंने वर्ण–श्रेष्ठता अथवा ब्राह्मणत्व के लिए केवल योग्यता को कसौटी निर्धारित किया था, जाति विशेष में जन्म को नहीं। हिन्दू राज्य–व्यवस्था की शक्ति को क्षीण करने वाली सामाजिक असमानता की समस्या का समाधान उन्होंने इस प्रकार किया था। उन्होंने महिला वर्ग को भी पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने का समर्थन किया था और इस क्षेत्र में वह गौतम बुद्ध तथा शंकर से भी आगे निकल गए थे।

शिक्षा के क्षेत्र में सुधार लाने के लिए भी महर्षि दयानन्द ने दुस्साध्य प्रयत्न किए थे। उन्होंने अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था और दीर्घकाल से भुला दी गई 'गुरुकुल शिक्षा–पद्धति' का पुनरावर्तन भी किया था, जहां बड़े तथा छोटे बालक–समान स्तर पर–शहरी जीवन के विकृत वातावरण से मुक्त होकर, अध्यापकों की

व्यक्तिगत समीपता से लाभान्वित होते हुए, शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। उनके अनुसार छात्रों के लिए ब्रह्मचर्य अनेक लाभ प्रदान करने वाला होता है। उन्होंने एक मनीषी के रूप में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया था।

सन्तों की लम्बी परम्परा में गैर–हिन्दू लोगों के लिए हिन्दू धर्म के द्वार खोलने वाले वह पहले संत थे। एक समय ऐसा था, जब एक हिन्दू अपने धर्म पर लज्जित होता था और ईसाई मत को अंगीकार करके लज्जा से मुक्ति की खोज किया करता था, किन्तु महर्षि के परिश्रम के लिए धन्यवाद है कि आज एक हिन्दू अपने अन्तर्मन में वैदिक धर्म के सत्य से आश्वस्त होकर और अपने मत के समर्थन में विश्वास के साथ, गर्दन ऊंची उठाकर घूम सकता है।

महर्षि दयानन्द ने इस मत का जमकर विरोध किया था कि यह संसार विकारों का घर है, अतः इससे दूर रहना चाहिए। समाज के प्रति एक सामान्य हिन्दू की इस उदासीनता का परिणाम यह हुआ कि वह सिर्फ अपने मोक्ष के विषय में ही प्रयत्नशील रहा। महर्षि दयानन्द ने प्रतिपादित किया था कि जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण, यह व्यक्तिवादी चेतना, जो जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रचार का विकृत प्रभाव है, भारत के राजनीतिक पराभव का प्रमुख कारण है। महर्षि दयानन्द भारतवर्ष के अतीत के प्रति श्रद्धा रखते थे और उनका विश्वास था कि विश्व के अन्य भागों में ज्ञान का प्रसारक स्रोत भारतवर्ष ही था। उन्होंने अपने देशवासियों की दृष्टि के सामने विलुप्त आर्य वैभव को फिर से प्रस्तुत किया था और उनको आश्वस्त किया था कि यदि हम उस मार्ग पर फिर से आसीन हो जायें और कार्य करना प्रारम्भ कर दें, तो गौरव–वृद्धि की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।

समाचार–पत्र के एक स्तम्भ में उस महान आत्मा द्वारा किए गए समस्त हितकर कार्यों को गिनाना एक निरर्थक कार्य होगा, किन्तु यह निश्चित है कि ऐसे महान व्यक्ति के प्रति हमारी श्रद्धा अपेक्षित है। पचास वर्ष पूर्व, क्रूर मृत्यु ने उनको हमारे बीच से उठा लिया था।

आर्य समाज की सर्वोच्च कार्यकारिणी समिति, जो भारत में आज तक सुसंगठित समिति है, ने आगामी दीपावली के अवसर पर अजमेर में, उस महान गुरू की 'अर्द्ध–शताब्दी स्मरणोत्सव' मनाने का निश्चय किया है। इस सम्बन्ध में आर्य समाज के अनुयायियों का विशेष रूप से तथा अन्यों का सामान्य रूप से क्या दायित्व है? इस स्मरणोत्सव की आवश्यकता तथा उपयुक्तता के विषय में मतभेद हो सकते हैं, किन्तु एक बार जब इसका निश्चय कर लिया गया है, तब हममें से किसी को इसे बुरा कहने

की आवश्यकता नहीं है। क्या हम लोग अभी तक इसके विषय में बहस करते रहेंगे? इस विषय में अब समस्त विवाद समाप्त हो जाने चाहिएं और प्रत्येक समाज को, अपनी शक्ति के अनुरूप इसको सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमें लाखों की संख्या में महर्षि द्वारा रिक्त किए गए स्थान पर एकत्रित होकर, आर्य समाज की शक्ति तथा क्षमता का प्रमाण उसी प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, जिस प्रकार उस स्थान पर एकत्र होकर किया था, जहां वह गुरुवर स्वामी बिरजानन्द के चरणों में बैठे थे।

विचारों की स्वतंत्रता

महर्षि दयानन्द चरम सीमा तक विनम्र थे। अन्यों के समान उन्होंने स्वयं को ऋषि होने, परमात्मा का अवतार होने अथवा अतिमानवीय सत्ता का अंग होने का दावा नहीं किया, हालांकि ऐसा वह सरलतापूर्वक कर सकते थे। इसके विपरीत, उन्होंने बड़ी दृढ़तापूर्वक व्यक्ति–पूजा का विरोध किया। उन्होंने किसी नवीन सत्य अथवा धर्म के उपदेश का दावा नहीं किया, वरन् उसी का उपदेश देते रहे, जिसका प्रतिपादन ऋषियों द्वारा किया गया है। अपने अमोघ होने का दावा भी कभी नहीं किया। उन्होंने आर्य समाज के छठे नियमानुसार सबके विचार स्वातंत्त्र्य का समर्थन किया था। महर्षि दयानन्द विनम्र थे, क्या इसी कारण हम उनको आदर प्रदान करने से पीछे हट जायेंगे? महर्षि आत्म–अस्वीकृति की साक्षात प्रतिमा थे, इसलिए यह हमारा दायित्व है कि हम अपनी श्रद्धा तथा भावना के पुष्प उनको समर्पित करें और अपने आचरणों द्वारा इस शंकालु विश्व को यह बता दें कि वह युग के महान व्यक्तियों में से एक हैं।

समस्त प्रकार की लज्जा, अंधविश्वास, भ्रान्त धारणाएं एवं विरोधी संसार के विरुद्ध महर्षि दयानन्द एक ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ की भांति खड़े रहे, जिसने समस्त तूफानों को चुनौती दी हो। कैथोलिक ईसाइयों के एक विकारग्रसित रिवाज के विरोध में मार्टिन लूथर ने विद्रोह किया था, लेकिन महर्षि को अनेक धर्मों तथा सामाजिक रीति–रिवाजों के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा था। जनता की प्रशंसाएं उनके भाग्य में नहीं आईं। राजनीतिक नेताओं की तरह प्रशंसात्मक भीड़ों की जयकारें पाने की अपेक्षा उनको जूतों, पत्थरों तथा विष के रास्ते से सफलता अर्जित करनी पड़ी थी। महर्षि दयानन्द को तब तक आराम से नहीं बैठना था, जब तक कि धर्म का पूर्णतःसंस्कार नहीं हो जाता। उनके विरोध तथा आलोचना का विषय सनातन धर्म की तरह इस्लाम तथा ईसाई धर्म भी बना। विरोधियों को

उनकी कठोर आलोचना का प्रभाव अनुभव करना पड़ा था। इस आलोचना से मुक्ति पाने के लिए उनको अपना घर व्यवस्थित करना पड़ा था, यही कारण है कि आज हम देखते हैं कि सभी धर्मों के लोगों का उद्देश्य अपने धर्म का संस्कार करना हो गया है। क्या हम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि हमने स्वामीजी का यह कार्य पूरा कर लिया है? मेरा मत है कि हम अभी ऐसा नहीं कर पाये हैं। आज भी लोग भ्रान्त धर्म की छाया में पल रहे हैं, पुजारीपन यद्यपि विघटित हो रहा है, पर अभी तक पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। अजमेर में हमारे विद्वानों को एकत्र होकर इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि वे कौन से तरीके हो सकते हैं, जिनके द्वारा इस प्राचीन भूमि पर वर्तमान भ्रान्त धर्मों को मिटाने का कार्य प्रारम्भ किया जाए?

सत्य की खोज

जब तक महर्षि जीवित रहे, तब तक हमने प्रत्येक सम्भव–घृणा तथा विरोध का व्यवहार उनके साथ किया। जहां कहीं वह प्रकटित हुए, लोगों ने उनका विरोध किया, कोई ऐसा मंच नहीं था, जिससे उन्होंने लोगों को सम्बोधित किया हो और उस पर उनका विरोध न किया गया हो। अपने पार्थिव शरीर के साथ, जब तक वह इस पृथ्वी पर विचरण करते रहे, तब तक घातक की तलवार और विष देने वालों का प्याला उनके भाग्य में लिखा था। मेरठ आर्य समाज अधिवेशन के, अपने अंतिम सम्बोधन में उन्होंने घोषणा की थी कि जब तक वह जीवित हैं, तब तक आर्य समाज तथा उनको घृणा की दृष्टि से देखा जायेगा, लेकिन एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जबकि आर्यसमाज के कार्यों का पुष्प–हारों से सम्मान किया जायेगा। ये शब्द पैगम्बर की तरह थे, समय की गति के साथ उनके कार्यों को अधिकतर स्वीकृति मिलती रही है और शीघ्र ही वह असली रूप में जाने जा सकेंगे।

स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित आर्य–समाज के सिद्धांतों को विश्व के अनेक विद्वान् मान्यताएं प्रदान करते जा रहे हैं। इस समय, भारत की भूमि पर ऐसा कोई आन्दोलन मौजूद नहीं है, जिसका श्रीगणेश महर्षि द्वारा साठ वर्ष पूर्व न कर दिया गया हो। स्वामीजी ने इस देश को संगठन का वरदान प्रदान किया था। हमको अजमेर में उस महान् सन्यासी को अपनी श्रद्धा, प्रशंसा तथा सम्मान इसलिए समर्पित करने के लिए एकत्र होना चाहिए, जिसके ऐतिहासिक उद्बोधन के फलस्वरूप हम युगों की दासता के प्रति पहली बार सजग हुए थे। ऐसे महर्षि दयानन्द को, जो

संस्कृति का प्रतीक बन गया था, हम पूर्णतः बिना किसी विवाद तथा संकोच के अपनी श्रद्धांजलियां समर्पित करेंगे।

मानव–इतिहास में उनका संन्यास अभूतपूर्व था। सत्य के अनुसंधान के प्रति उनके भावुकतापूर्ण शोध ने उन्हें अपना घर जीवन के आरम्भ में ही छोड़ने के लिए अनुप्रेरित किया था और उन्होंने अद्वितीय पावनता का जीवन–यापन भी किया था। उनका अद्वितीय ब्रह्मचर्य, उनकी शिक्षा, उनका दृढ़ विश्वास, उनकी निर्भीकता, परमात्मा के अस्तित्व में अनुपमेय विश्वास के साथ जीवन और अपने उद्देश्य की ईमानदारी आदि कुछ ऐसे गुण थे, जिन्होंने उनको अप्रतिरोध्य शक्ति बनाया था। उनके गतिशील व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप आस्थाहीन व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करने के लिए विवश हो गए थे। जो लोग उनकी भर्त्सना करने के लिए आये थे, वे उनकी प्रार्थना करने पर मज़बूर हुए। उन्होंने हमारे लिए लिखा तथा जीवन व्यतीत किया था। इस ऋण से हम किस प्रकार मुक्त हो सकेंगे? निश्चय ही उनके द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलकर, उस कार्य को सम्पादित करके, जो उनको बहुत प्रिय था–वैदिक धर्म–जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन तथा रक्त समर्पित कर दिया था, का प्रचार करके और जैसी कि वह हमसे अपेक्षा करते थे, सच्चे वैदिक आर्य बनकर ही हम उस ऋण से मुक्त हो सकते हैं। हमको स्वयं महर्षि के उदाहरण से अनुप्रेरित होने की आवश्यकता है। हमें अजमेर में एकत्र होने की आवश्यकता इसलिए है, ताकि हम उस शक्ति के स्रोत से नवीन स्फूर्ति ग्रहण कर सकें। अजमेर में हम अपनी क्षमता का मूल्यांकन कर सकेंगे, अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकेंगे और उसके पश्चात् यदि ईश्वर की कृपा हुई, तो भारतवर्ष की युवा पीढ़ी को नास्तिकता के ज्वार से प्रभावित करने वाली विचारधारा के विपरीत एक प्रबल संघर्ष खड़ा कर सकेंगे।

हमको अजमेर में क्या करना चाहिए, इसके विषय में विस्तार के साथ मैं कुछ भी नहीं कहूंगा। इस विषय में सोचना हमारे अग्रजों का कार्य है। आर्य पुरुष, आर्य महिला तथा आर्य कुमारों से मेरा अनुरोध है कि वे अजमेर की महान यात्रा पर निकल पड़ें और उसके पश्चात् नवीन स्फूर्ति तथा प्रेरणा के साथ उस अपूर्ण कार्य की पूर्ति पर जुट जायें, जिसे हमारे महान गुरू ने अजमेर में अधूरा छोड़ दिया था। साथियो, हमारी तीर्थ–यात्रा का यही पाथेय है।

२
महर्षि का जीवन दर्शन

महर्षि दयानन्द सरस्वती की जन्म शताब्दी वर्ष (१९८३) में चौधरी चरणसिंह ने यह लेख एक स्मारिका के लिए लिखा था। स्वामी जी के जीवन–दर्शन और चिन्तन पर आधारित इस लेख में चौधरी चरण सिंह ने कुछ ऐसे सवाल उठाए हैं, जो राष्ट्रीय समस्या के रूप में हमारे सामने हैं। जातिवादी व्यवस्था, नारी वर्ग के समान अधिकार, सामाजिक अन्याय, समान शिक्षा का जन्मसिद्ध अधिकार तथा राष्ट्र–भाषा की समस्या–ये ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर स्वामी जी ने स्पष्ट विचार व्यक्त किए थे। चौधरी साहब का यक्ष–प्रश्न है कि क्या हम स्वामी जी के बताए रास्ते से आज भटक नहीं गए हैं?

आधुनिक भारत में महात्मा गांधी के नाम का जो महत्त्व है, वही महत्त्व इस देश के अगणित व्यक्तियों के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती, दयाराम मूलशंकर अथवा 'मूलजी' का है। उनका जीवन तथा उनके कार्य बहुत बड़ी सीमा तक स्वाधीन भारत की योजना की प्रेरणा के आधार बने थे। उनके स्वर्गवास के सात दशकों के पश्चात् यह आधार स्पष्ट हो गया है।

बीती शताब्दी में उनके विषय में पर्याप्त कहा तथा लिखा गया है और आगामी शताब्दी वर्ष में पर्याप्त लिखा तथा कहा जाएगा। उनके सिद्धांतों के प्रति यावज्जीवन श्रद्धालु होने के कारण मैं यह सब कुछ नहीं कह रहा हूं, बल्कि निरंतर सर्वाधिक आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से यह सब कुछ लिख रहा हूं। नवोदित, स्वाधीन, संयुक्त तथा गतिशील भारत के विषय में स्वामीजी की जो कल्पना थी और जो हमारे लोकतंत्र के संस्थापक नेताओं के सामने आदर्श रूप में मान्य थी, वह स्वाधीन भारत के प्रथम तीस वर्षों में ही धूमिल होती जा रही है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि पूर्व की अपेक्षा यह समुचित अवसर है कि हम स्वामी जी की समस्त देन पर विचार करें और यह जानने का प्रयास करें कि कहां और क्यों हम मार्ग से विचलित हुए हैं?

स्वामी जी की अनेक उपलब्धियों में से एक प्रमुख उपलब्धि थी हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप सांस्कृतिक तथा संगठनात्मक आधार प्रस्तुत करना। यह इसलिए सम्भव हो सका था कि उनकी सीमातीत शक्ति एवं कुशाग्र बुद्धि केवल वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील नहीं थी, अपितु वह अपने समाज के शारीरिक, नैतिक, भौतिक तथा धार्मिक उत्थान की दिशा में संलग्न थी।

संतों तथा सुधारकों की लम्बी पंक्ति में, वह पहले व्यक्ति थे, जिसने हिन्दुत्व अथवा वैदिक धर्म के द्वार अहिन्दू लोगों के लिए खोले थे।

उनकी उपस्थिति तथा उनके सैद्धांतिक उपदेशों ने उन हालात को समाप्त कर दिया था, जबकि एक हिन्दू अपने धर्म पर लज्जा का अनुभव करता था और ईसाई तथा इस्लाम मत को अंगीकार करके लज्जा से मुक्ति पा लेता था। बाद के काल में, हिन्दू धर्म में घुस आए विकारों तथा विकृतियों पर प्रहार करते हुए, जैसा कि उनका स्वभाव बन गया था, उन्होंने एक नारा लगाया था—"वेदों के धर्म की ओर वापस चलो।" उनके समस्त सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों की आधारशिला यही थी। वेद परमात्मा के ज्ञान के प्रतीक हैं, वे सात्विक प्रमाण हैं, इसीलिए जन्म एवं जीवन के निकर्ष भी हैं।

इस सत्य के साथ वह वर्तमान हिन्दू धर्म पर अभियोग पत्र लेकर उपस्थित हुए। उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' का अधिकांश भाग हिन्दू धर्म की अनेक विकृतियों—जन्म पर आधारित जाति का सिद्धांत, मूर्ति पूजा, चमत्कारवादिता, तीर्थ—यात्रा, पुरोहिती शोषण, पवित्रता की ठेकेदारी, रीति—रिवाज आदि की आलोचना पर आधारित है। सत्य के निर्णय की दिशा में उनके पास केवल दो सैद्धांतिक कसौटियां थीं.— "तर्क की तलवार और नैतिकता का आधार।" 'भारतवर्ष अंधकार से परिपूरित है' शीर्षक के अन्तर्गत, संक्षेपित पृष्ठों में आपने हिन्दू धर्म के असंख्य रीति—रिवाजों तथा सामाजिक आडम्बरों की कटु आलोचना करते हुए, मूर्ति—पूजा तथा मदिरों के विशाल प्रांगणों से जुड़ी तीर्थयात्राओं, संकीर्ण तथा अंधविश्वासपरक कर्मकाण्डों को व्यर्थ तथा सारहीन घोषित किया था।

जाति—प्रथा उन्मूलन

जातिवादी व्यवस्था की, उसकी अगणित वर्जनाओं एवं वरीयताओं के साथ, आपने आलोचना की और व्यक्तिगत जीवन में उसकी विकृतियों का खुलासा किया। जन्म के स्थान पर ज्ञान अथवा योग्यता को श्रेष्ठता की कसौटी निर्धारित करते हुए, आपने उस सामाजिक असमानता की समस्या

का समाधान प्रस्तुत किया था, जो हमारी सतत राजनीतिक दासता का कारण रही है और आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन की शक्ति का क्षय कर रही है।

एक आदर्श समाज के विषय में, आपकी मान्यतानुसार, वर्णों का विभाजन जन्म अथवा जाति के आधार पर न होकर गण अथवा ज्ञान के आधार पर होना चाहिए। वर्णों का निर्धारण भी स्कूल तथा कालिजों से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद राज्य द्वारा होना चाहिए।

आपने बड़ी तथा छोटी जाति में उत्पत्ति के आधार पर जाति–व्यवस्था के सिद्धांत को स्वीकार करके सर्वाधिक बल शिक्षा पर दिया था। यथार्थ में, आपने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में इसी विषय पर बल दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में सुधार विषयक उनके भागीरथ प्रयत्न अपने समय के सर्वाधिक अग्रगामी थे। आपने दीर्घकाल से विस्मृत गुरुकुलीन शिक्षा–पद्धति को, जिसमें बड़े तथा छोटे व्यक्ति के बालक एक ही स्तर पर, शहर के दूषित वातावरण से दूर रहकर, अध्यापक के स्नेहमय वैयक्तिक सम्पर्क के वरदान से पूरित शिक्षा पाने में समर्थ हो सकते हैं, पुनर्जीवित किया था।

चारों जातियों (जिनमें शूद्रों को भी अन्यों के समान शिक्षा दी जाये) में पुरुष तथा महिला वर्ग के लिए अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करते हुए आपने चेतावनी दी कि इसके अभाव में देश की समृद्धि की कोई सम्भावना नहीं है। नारी–समाज के लिए समान शिक्षा का प्रतिपादन करने वालों में वह अग्रगण्य थे। विशेष रूप से उनका विश्वास था कि विवाहित जीवन की खुशियां भी पति तथा पत्नी दोनों के शिक्षित होने पर निर्भर करती हैं।

आपने नारी वर्ग का समर्थन किया और उसके लिए पुरुष के समान अधिकारों की वकालत की। आपने पुरुष के लिए एक विवाह का सिद्धांत रखा और सोलह वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का समर्थन नहीं किया। आपने यहां तक कहा कि एक अयोग्य एवं अनुपयुक्त व्यक्ति के साथ विवाहित होने की अपेक्षा एक कन्या का अपने पिता के घर में ही रहना अधिक अच्छा है। दोनों साथियों की पूर्व तथा पूर्ण स्वीकृति के अभाव में शादी के वह विरोधी थे। उन्होंने बार–बार इस बात पर बल दिया कि एक घर की सुदृढ़ शांति का आधार पति–पत्नी का पारस्परिक प्रेम एवं दायित्व की समान भागीदारी है। उन्होंने अपने अनुयायियों को वैदिक कालीन उन स्वर्णिम दिनों का स्मरण कराया, जब कि नारी सामाजिक जीवन के समस्त कार्यों में समान रूप से भाग लेती थी।

महर्षि दयानन्द उन लोगों में से प्रमुख थे, जिन्होंने एक मनीषी की दृष्टि से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा था। हिन्दी यहां के बुद्धि

जीवियों तथा न्यायालय की भाषा कभी नहीं रही, फिर भी वह यहां के अधिकांश सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा थी, इसलिए उन्होंने यह भली प्रकार अनुभव कर लिया था कि स्वाधीन तथा संयुक्त भारत में अंग्रेजी के स्थान पर यही राष्ट्र भाषा हो सकती है। वह गुजरात के मोरवी नामक राज्य में पैदा हए थे। उनकी मातृभाषा गुजराती थी, किन्तु उन्होंने स्वयं को हिन्दी में शिक्षित किया और कालान्तर में हिन्दी में ही अपना महान कार्य करने का निश्चय किया। यह निश्चय भी उस अवस्था में था, जबकि उनका सम्पूर्ण प्रशिक्षण संस्कृत में हुआ था। यथार्थ में, उनकी प्रतिभा का दूसरा प्रतीक, उनकी प्रारम्भिक संस्कृतनिष्ठ भाषा, जिसमें आपने कुछ पुस्तिकाएं लिखी थीं, की अपेक्षा प्रवाहपूर्ण हिन्दी में लिखी उनकी अंतिम रचना, वेदभाष्य है।

हिन्दी को प्रमुखता

आपने सब प्रकार की शिक्षा में हिन्दी को प्रथम स्थान दिया था। इसका एक छोटा–सा उदाहरण जोधपुर के राजकुमार की शिक्षा के विषय में दिया गया परामर्श है, जो उनके स्वदेशी चरित्र का प्रतीक भी है। अन्य बातों के अतिरिक्त आपने विशेष रूप से लिखा था कि राजकुमार को संस्कृत तथा हिन्दी का ज्ञान अंग्रेजी से पहले कराना चाहिए।

स्वामीजी के जीवन का, अनेक प्रकार से, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इस विश्वास को चुनौती देना था कि यह संसार विकारों का भण्डार है, अतः इसका त्याग कर देना चाहिए। आपने व्यक्ति के लिए मोक्ष–साधना का भी विरोध किया। आपने बताया कि जीवन के प्रति यह उदासीनता का सिद्धांत, व्यक्तिवादी चेतना और जातिवादिता, हमारे सामाजिक पराभव के प्रमुख कारण हैं। यथार्थ में स्वामी जी कर्मठ व्यक्ति थे। वह अतीत की सम्पन्नता से भली प्रकार अवगत थे और वर्तमान युग की नैतिकता को जानते थे। उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञान के माध्यम से संत की अवस्था का अर्जन किया था।

उनका जीवन तथा उनके गुण वैयक्तिक तथा ऐतिहासिक संदर्भो में उनके वास्तविक तेज का ज्ञापन करते हैं। यद्यपि, हम उनको महर्षि पुकारते हैं, पर उन्होंने अपने जीवन काल में ऋषि की उपाधि को भी अस्वीकार कर दिया था। हालांकि दस दशक पश्चात् उनकी भविष्यवाणियों पर किसी को भी संदेह नहीं होगा, पर उन्होंने भविष्य द्रष्टा कहे जाने को भी अंगीकार नहीं किया था। हालांकि उनके कुछ अति उत्साही अनुयायियों ने उनको नवीन धर्म का प्रवर्तक तथा सत्य का उपदेश देने

वाला कहा था, पर वह अपने जीवनकाल में, यह बात कहने में कभी पीछे नहीं रहे कि वह तो सत्य, प्राचीन धर्मग्रंथों, वेदों में निहित सत्य तथा धर्म का ही उपदेश दे रहे हैं। इन गुणों के विरोधी समाज में वह ऐतिहासिक पौराणिक संघर्षकर्ता के रूप में उभर कर आये थे। उनके चरित्र में स्वार्थपरायणता अथवा गुरुडम अथवा समझौतावादिता के सामने झुकना नहीं था। इन सबसे ऊपर, उस महान हिन्दू सुधारक का जीवन तथा धर्मोपदेश हमारे पुरातन युग की असाम्प्रदायिक सभ्यता का चित्रण करते हैं।

महर्षि ने अपने तर्कों की तीक्ष्ण धारा से हिन्दू, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म के उन तमाम पूर्वाग्रहों को काट दिया था, जो समस्त मानवता को आक्रान्त किये हुए थे। उन्होंने हमेशा सिद्धांतों का विरोध किया था, व्यक्तियों का नहीं।

यही कारण था कि अन्य धर्मों में आस्था रखने वाले लोगों ने भी स्वामीजी को अपने धार्मिक स्थलों पर उपदेश करने के किए आमंत्रित किया था। दूसरे धर्मों के नेताओं के साथ उनका मैत्री–भाव, उनकी एक धरोहर थी।

यथार्थ में, स्वामीजी की रुचि हजारों धार्मिक विश्वासों के मूल–सिद्धांतों के विश्लेषण में थी। एक धार्मिक सम्मेलन के बीच, एक राजा ने प्रत्येक धर्म के उपदेशक से उसके धर्म का सार जानना चाहा था। उसको परस्पर विरोधी हजारों उत्तर मिले और उसने निर्णय किया था कि कोई समुचित धर्म इसलिए नहीं है कि प्रत्येक की असत्यता के विषय में १११ प्रमाण मौजूद हैं। एक सच्चे संत ने राजा से मूल बातें जानने का आग्रह किया, जिस पर सब लोग सहमत हो गए थे। ये मूल बातें थीं–सत्य, ज्ञान और नैतिक जीवन, और संत ने कहा था कि यही सच्चा धर्म है।

मैं, स्वामीजी के विषय में, इसी सामान्य ज्ञान के आधार पर विचार करना चाहता हूं। मैं पाठकों को स्वामीजी के जीवन पर दृष्टिपात करने के लिए सजग करना चाहता हूं और इस परिणाम पर ले जाना चाहता हूं कि हम लोग सही रास्ते से कितने भटक गए हैं। मैंने ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया है, उनमें से क्या एक का भी हमने उपार्जन किया है?

क्या हम अपने जीवन से जातिवादी व्यवस्था को दूर करने में समर्थ हुए हैं? क्या हम नारी वर्ग को अपने जीवन में समान अधिकार प्रदान करते हैं? क्या हम सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हैं और उनको असत्य संसार की विकृत अनिवार्यता के रूप में अंगीकार नहीं कर लेते और क्या हमने जाति और धर्म पर आधारित शिक्षा की बजाय, सभी बच्चों के लिए शिक्षा को जन्म सिद्ध अधिकार बनाया है?

इस सन्दर्भ में, मैं राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की समस्या की दुर्गति का स्मरण दिलाना चाहता हूं। इस प्रश्न की दुखद स्थिति से, सिवाय हमारी कमियों के और कोई नतीजा नहीं निकल सकेगा।

सन् १८३७ में भारत सरकार ने घोषणा की थी कि संयुक्त प्रांत (आगरा व अवध) में फारसी लिपि में लिखी उर्दू राजभाषा होगी। १८६० में इसकी (उर्दू की) जगह देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी के पक्ष में एक आन्दोलन उभरकर आया था। उस समय भी कारण उतने ही मामूली थे, जितने कि आज हैं। लेकिन जब १८६१ में बिहार प्रदेश में राज्यभाषा के रूप में उर्दू का स्थान हिन्दी ने ले लिया, तो इसने उत्तर प्रदेश में आन्दोलन के लिए प्रेरणा दी। शीघ्र ही स्वामीजी ने इस आन्दोलन के पक्ष में अपना समर्थन व्यक्त किया। उनके अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप आर्यसमाज ने इसके समर्थन में २९ प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत किए। हिन्दी के पक्ष में स्वामीजी का समर्थन हिन्दी की संयोजक–क्षमता के कारण था। वह जिस दृढ़ता के साथ अपने सिद्धांतों के साथ प्रतिबद्ध रहे, उसकी झलक हमें अंग्रेजी भाषा में उनके उपदेशों का अनुवाद किए जाने की मांग को निरंतर ठुकराते जाने में देखी जा सकती है। वह जानते थे कि उर्दू अथवा अंग्रेजी में उनके सिद्धांतों का अनुवाद हिन्दी के अध्ययन की उदासीनता को बढ़ावा देगा। इस प्रश्न के उत्तर में, 'भारत कब महान बन सकेगा', वह प्रायः कहते थे कि "जिस समय यहां धर्म, भाषा तथा लक्ष्य की एकता हो जायेगी।"

आज भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के प्रश्न पर हम केवल अस्थिर ही नहीं हैं, वरन् हम शक्तिशाली भाषायीविवाद की ओर वापिस जा रहे हैं।

इन अंधकारमयी परिस्थितियों में, स्वामीजी का उदाहरण एक सुदृढ़ प्रकाश स्तम्भ के समान मौजूद है और वह उनका मार्ग–दर्शन कर रहा है, जिनमें उस मार्ग पर चलने का साहस तथा विश्वास है।

३
शिष्टाचार का महत्व

भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार का बहुत महत्व है। सामाजिक और घरेलू जीवन में कदम–कदम पर इसके अनुपालन पर ज़ोर दिया जाता है। यह बेहद सहज किन्तु गूढ़ विषय है। १९४१ में जब चौधरी चरण सिंह व्यक्तिगत सत्याग्रह के आन्दोलन के तहत एक राजनीतिक बंदी के तौर पर बरेली सेन्ट्रल जेल में थे, उस समय चौधरी साहब के बच्चे छोटे–छोटे थे। उन्हें शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए उन्होंने कुछ पत्र लिखे थे, जिन्हें बाद में 'शिष्टाचार' शीर्षक के अन्तर्गत पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

'शिष्टाचार' के प्रथम भाग के पहले अध्याय में बताया गया है कि शिष्टाचार क्या है तथा शिष्टाचार और सदाचार का क्या सहसम्बंध है।

'शिष्टाचार' एक सामासिक पद है, जो 'शिष्ट' और 'आचार' पदों के योग से बना है। 'शिष्ट' (शास+क्त) शब्द का अर्थ 'सभ्य' या 'सज्जन' है और 'आचार' (आ+चर भावे धञ्) का अर्थ है 'आचरण' अथवा 'व्यवहार'। अतः शिष्टाचार शब्द का अर्थ शिष्टों का आचार अथवा सभ्य लोगों का व्यवहार अथवा सज्जन व्यक्तियों का आचरण है। शिष्टाचार के अंतर्गत मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के प्रत्येक कार्य–उदाहरणार्थ उसका रहना–सहना, उठना–बैठना, चलना–फिरना, बोलना–चालना, सोना–जागना, नहाना–धोना आदि सभी आ जाते हैं। महर्षि दयानन्द ने शिष्टाचार की परिभाषा इस प्रकार की है:

> "जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण कर, असत्य का परित्याग करता है, वही 'शिष्टाचार' और जो इसको करता है वह 'शिष्ट' कहलाता है।"

इस परिभाषा के अनुसार, 'सदाचार' और 'शिष्टाचार' में कोई अन्तर

दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु आजकज सामान्य बोलचाल में शिष्टाचार का तात्पर्य केवल उस व्यवहार से है जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बंध दूसरों के मान सम्मान, सुख–सुविधा और संतोष से हो तथा जो अन्य व्यक्तियों के लिए यथायोग्य स्नेह, प्रेम तथा श्रद्धा का परिचायक हो। शिष्टाचार का मूलाधार घर या बाहर कोई भी ऐसा काम न करना है, जिससे किसी की भावनाओं को ठेस पहंचे, या किसी को कोई दुःख अथवा क्लेश हो। दूसरे शब्दों में, हर भले आदमी को सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरों के साथ व्यवहार करते समय जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है, उनका नाम शिष्टाचार है।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्म–काल से ही अपने प्रत्येक कार्य अथवा आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। बिना सहायक के कोई व्यक्ति एक दिन भी सुख तथा सुविधा से नहीं रह सकता। बाल्यावस्था में मां–बाप लाड़–प्यार से बच्चे को पालते–पोसते हैं। तदनान्तर ज्यों–ज्यों उसकी आयु बढ़ती जाती है, त्यों–त्यों उसे दूसरे व्यक्तियों की सहायता अपेक्षित होती है। हम लोग जो कपड़े पहनते हैं, वे दूसरों ही ने बनाए हैं, जिस घर में हम रहते हैं, उसे भी औरों ने ही बनाया है। अन्य व्यक्ति ही हमारे भोजन के पदार्थ संग्रह करके रखते हैं। दूसरों का काम करके जैसे हम लोग जीविका प्राप्त करते हैं, वैसे ही दूसरे व्यक्ति भी हम लोगों का काम करके जीवन–निर्वाह करते हैं। शिक्षा के लिए शिक्षक और पाठशाला का आयोजन किया जाता है। इसी प्रकार वाणिज्य व्यवसाय में विविध देशवासियों के साथ व्यवहार करना पड़ता है, दैनिक जीवन में अपने धर्म, समाज और राजनियमों के अनुकूल चलना होता है, सुख–दुख में स्वजन, बंधुगण के साथ हर्ष या शोक मनाने की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं सब कारणों से हम लोग हमेशा ही एक–दूसरे का मुंह ताका करते हैं और परस्पर सहायता पाने की आशा रखते हैं। परिचित हों चाहे अपरिचित, शत्रु हों अथवा मित्र, धनी हों या दरिद्र, पंडित हों या मूर्ख, हम लोग समाज के सदस्य होने के नाते एक–दसरे के प्रति समभाव से ऋणी हैं। इस ऋण को समुचित रूप से चुकाने की क्रिया का नाम ही 'शिष्टाचार' है। देश, काल और पात्र के भेद से इस बाध्य बाधक, अन्योन्याश्रय भाव का ह्रास अथवा वृद्धि होती रहती है। कोई व्यक्ति जब किसी विशेष कारण से किसी के द्वारा विशेष उपकृत होता है, तब वह व्यक्ति अपने उस उपकारी के निकट अपेक्षाकृत अधिक कृतज्ञ या ऋणी होता है। उदाहरणार्थ माता–पिता व आचार्य का ऋण, दूसरों के प्रति जो हमारा कर्तव्य है, उससे कहीं और अधिक महान है। निष्कर्ष यह है कि दूसरों की भावनाओं और अधिकारों का मान व आदर करना केवल

सामाजिक व्यवहार का ही एक नियम नहीं है प्रत्युत यह वह आधारशिला है जिस पर समाज सदैव से स्थिर रहा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शिष्ट आचार की कसौटी क्या है? अर्थात् हम यह कैसे समझें कि हमें अमुक काम करना चाहिए अथवा नहीं। इस प्रश्न के समाधान के लिए 'हितोपदेश' में एक बड़ा ही उपयुक्त श्लोक आया हैः

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति।।

अर्थात् "दान देने में और न देने में, सुख में और दुःख में तथा प्रिय और अप्रिय कार्यों में पुरुष स्वयं अपनी उपमा से ही प्रमाण को जानता है।" अर्थात् शिष्टाचार का आधारभूत नियम केवल यही है किः

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

मनुष्य कभी ऐसा काम न करे जो उसकी आत्मा के प्रतिकूल हो, अर्थात् वह अन्य के साथ ऐसा व्यवहार न करे कि वैसा ही व्यवहार यदि कोई उसके साथ करे, तो उसे बुरा लगे। शिष्टाचार–सम्बंधी अनेक अन्य उपनियम इस प्रधान नियम के निर्वाह के लिए ही बने हैं।

महान चीनी तत्त्ववेत्ता कन्फ्यूशस ने भी यही बात लगभग ढाई हजार वर्ष पहले दुहरायी थीः "दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो, जैसाकि तुम दूसरे से अपने लिए चाहते हो।" आचार्य चाणक्य की "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" नामक उक्ति से भी यही भाव प्रकट होता है।

अतः यदि आप दूसरों से सम्मान, सत्कार, उपकार, सेवा और सहायता की अभिलाषा रखते हैं तो पहले दूसरों के प्रति आप वैसा ही व्यवहार करें। किसी से मीठी बात सुनना चाहते हैं तो मीठी वाणी बोलें और यदि किसी की गाली नहीं सुनना चाहते हैं तो किसी को गाली न दें। यदि सभा में बैठकर दूसरों की बातचीत से आपके व्याख्यान सुनने में विघ्न पड़ता है तो स्वयं भी बातचीत न करें, जिससे दूसरों के सुनने में भी विघ्न न पड़े। इसी प्रकार किसी के घर जाकर यदि आप गृहस्वामी से आदर–सत्कार की आशा रखते हैं, तो जो आपसे भेंट करने आये उसका आदर–सत्कार करें।

शिष्टाचार की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। जो लोग अशिष्ट हैं, उनके साथ रहना बड़ा ही दुःखद होता है। इसके विपरीत शिष्ट आचरण से सारा संसार अपना मित्र बन सकता है। मनुष्य–समाज को सुखी बनाने की कितनी ही विधियां हैंः शिष्ट व्यवहार उन विधियों में एक विशेष स्थान रखता है। शिष्ट व्यवहार से समाज अथवा व्यक्ति को अपना कामकाज करने का सुभीता रहता है। इससे समाज को व्यवस्था और शांति तथा व्यक्ति के

मन को संतोष और आनंद प्राप्त होता है। नियम ही संगठन का प्राण है। नियमहीनता और स्वेच्छाचारिता का यदि बोलबाला हो जाए तो मनुष्य का व्यवस्थित सामाजिक जीवन कदाचित् एक दिन भी स्थिर न रहे।

अनेक भद्र व्यक्तियों की, जिनकी विद्या और योग्यता निर्विवाद है, यह धारणा है कि शिष्टाचार अनावश्यक, विधि–निषेधात्मक नियमों का एक संग्रह मात्र है, जिनका पालन एक व्यर्थ का बंधन है। उनका विचार है कि यदि मनुष्य के उद्देश्य कल्याणमय, संकल्प शुभ और मनोभाव भले हों, तो वे स्वयं ही उसके व्यवहार से प्रकट हो जाएंगे। ऐसे मनुष्य अपने आचरण के फूहड़पन, स्वर की कर्कशता, अशुद्ध भाषा, भद्दी चाल–ढाल, अहंकार अथवा आडम्बर से शिष्टाचार की अर्थात् उन सब नियमों, आदेशों और संकेतों की अवहेलना करते हैं जिन पर युग–युगांतर से समाज का ढांचा आधारित है। ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि उनका आचार–व्यवहार उनके मन और हृदय का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। मनुष्य की विद्या और चरित्र की परीक्षा सभी काल में नहीं होती, परंतु उसका स्वभाव सभी काल में परखा जाता है। इस व्यस्त और व्यग्रतापूर्ण संसार में ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं जो मनुष्यों के बाह्य व्यक्तित्व के धरातल के नीचे गोता लगाकर उसकी आंतरिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकें। बहुधा लोग तो भौतिक वस्तुओं की भांति व्यक्तियों के सम्बंध में भी उनके बाह्य क्रिया–कलाप के आधार पर ही अपना मत निश्चित करते हैं। किसी के चरित्र की आंतरिक विशिष्टताएं तो कुछ समय बाद ही जानी जा सकती हैं किन्तु जीवन में घनिष्ठ संपर्क के लिए साधारणतया इतना समय मिलता ही कहां है! अधिकतर समय तो केवल शिष्टाचार मात्र में ही समाप्त हो जाता है। वास्तव में, हमारा आचार–व्यवहार ही वह प्रमाणपत्र है जिसको हम अपने जीवनपथ में, अनजाने में दूसरों के सामने प्रस्तुत करते हैं और जिसके द्वारा दूसरे व्यक्ति हमारे सम्बंध में प्रायः प्रारम्भिक मत स्थिर करते हैं और किसी निर्णय पर पहुंचते हैं।

शिष्टाचार एक महान गुण है तथा मनुष्यत्व का विशेष परिचायक है। इस गुण के प्रकाश से ही मनुष्य की शिक्षा, रुचि और संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। मनुष्य का आचार–व्यवहार एक प्रकार से उसकी कुलीनता का पैमाना है। सत्कुल में उत्पन्न व्यक्ति प्रायः शिष्टाचारी होते हैं। व्यक्ति–विशेष के संस्कार और उसकी आदतें उसके छोटे–छोटे कामों और उसके रहने–सहने के ढंग से ही मालूम होती हैं। दूसरे आदमी उसके व्यवहार से ही जांचते हैं कि उसने घर पर क्या सीखा है और उसके कुटुम्ब के आदमी कितने सभ्य हैं। निष्कपटता, खरापन, सरलता, सादगी, विनय और सेवाभाव शिष्ट शिक्षा–दीक्षा के द्योतक हैं

तथा राजा और रंक सब में अपना समान चमत्कार दिखलाते हैं। प्रत्येक ऐसा कार्य अथवा व्यवहार जिसमें बनावट व घमंड की गंध आती हो, असभ्यता तथा असंस्कृति का द्योतक है। निस्संदेह वह मनुष्य, जो दूसरों के भावों का सर्वथा आदर करता है, एक दम्भी व्यक्ति की अपेक्षा, चाहे वह कितना ही चतुर और विद्वान् क्यों न हो, कहीं अधिक सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होगा।

शिष्टाचारी व्यक्ति केवल अपने लिए ही अच्छा नहीं होता वरन् वह अपने कुल, जाति और देश की भी शोभा बनता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति लोगों में श्रद्धा, विश्वास और आदर स्वभावतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। शिष्टाचारी व्यक्ति अपने उदाहरण से दूसरे आदमियों को भी शिष्टाचारी बनाने की क्षमता रखता है। वह अपने पास उठने–बैठने वालों पर अप्रत्यक्ष रूप से अच्छा प्रभाव डालता है और इस प्रकार देश व समाज की उन्नति का कारण बनता है। भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन से गीता में कहा हैः

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। अ० ३, श्लोक २१।

अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करता है उसे ही अन्य जन भी करते हैं, उसके किए हुए को प्रमाण मानकर लोग उसका अनुसरण करते हैं।

शिष्टाचार के नियमों का पालन तमाम सभ्य देशों में होता है। यही सभ्य और असभ्य व्यक्तियों के भेद का द्योतक होता है। बहुत से रीति–रिवाजों तथा व्यवहारों को, जिनका आज मान होता है, आने वाली पीढ़ियां भूल सकती हैं, परन्तु विनय, शिष्टता व सौजन्य के गुण न कभी भुलाए जा सकते हैं और न व्यर्थ ही माने जा सकते हैं। विभिन्न समाजों में इन नियमों के आकार–प्रकार तथा ब्योरे में अन्तर हो सकता है और समय की प्रगति के साथ वे बदलते भी रह सकते हैं, परन्तु शिष्टाचार की नींव अपरिवर्तनशील, सदा दृढ़, समरस तथा स्थायी बनी रहती है। उसके अधीन कुछ मौलिक नियमों का पालन अनंतकाल से होता आया है और भविष्य में भी होता रहेगा।

मनुष्य मात्र से सम्पर्क में आने के जितने भी प्रकार, अवस्थाएं और अवसर हैं, शिष्टाचार का ज्ञान उन सबके लिए अनिवार्य और उपयोगी है। अध्यापक हो या विद्यार्थी, दुकानदार हो या ग्राहक, जनता का सेवक हो या सभ्य साधारण, स्वामी हो या सेवक, गुरुजन हो या छोटा, नगर–निवासी हो अथवा ग्राम–निवासी, संन्यासी हो या गृहस्थ–प्रत्येक स्थिति में मनुष्य को दूसरों के साथ बर्ताव करना होता है। अतएव शिष्टाचार का विषय बहुत व्यापक है। इस गुण के प्रयोग करने के स्थल और अवसर इतने

अधिक हैं कि सभी अवस्थाओं के लिए पूरे–पूरे नियम बताना कठिन है। शिष्टाचार एक प्रकार की ललित कला है, जिसका अभ्यास शिष्ट व्यक्तियों की संगति में बैठने से होता है और जो किसी व्यक्ति के बचपन से लेकर आज तक के संस्कारों का केवल बाह्य रूप है।

शिष्टाचार को केवल विशेष अवसरों पर प्रयत्नपूर्वक प्रदर्शन की चीज न रहकर हमारे स्वभाव का अंग बन जाना चाहिए और यह तभी सम्भव है कि जब शिष्टाचार के नियमों का पालन मनुष्य को बचपन से ही कराया जाए। अंग्रेजी में एक कहावत हैः 'चाइल्ड इज द फादर ऑव मैन' (बालक मनुष्य का जनक है)। इसका वास्तविक अर्थ यही है कि जिस प्रकार पिता पुत्र को अपने आचरणों से प्रभावित करता है और पुत्र स्वतः पिता के गुण–दोषों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार 'बचपन' प्रौढ़ आयु की आधारशिला है। जिन अच्छी या बुरी आदतों का हम बचपन में अभ्यास कर लेते हैं वे जीवन का अंग बन जाती हैं। अतः प्रत्येक माता–पिता का कर्तव्य है कि वह घर में पग–पग पर बच्चों से ऐसा आचरण कराएं जैसे आचरण की वे सभ्य समाज में उनसे आशा रखते हैं। वे स्वयं भी उनके साथ ऐसा बर्ताव करें तथा ऐसा शिष्टाचार बरतें जैसा वे अन्य सभ्य व्यक्तियों के साथ बरतते हैं। यदि बच्चे गुरुजनों को आये दिन आपे से बाहर देखते हैं, उनके मुख से पराई निन्दा सुनते हैं अथवा उनको दूसरों के साथ अशिष्ट व्यवहार करते देखते हैं तो वे भी अपनी जीभ पर काबू न रख सकेंगे और न ही वे शांत स्वभाव वाले, क्रोधहीन एवं शिष्ट बन सकेंगे। जैसा आदर्श उनके सामने उपस्थित होगा वे उसी में ढल जाएंगे। अशिष्ट माता–पिता का अपनी संतान को शिष्टोपदेश करना समय नष्ट करने के बराबर होगा, क्योंकि कोई बच्चा कभी ऐसे उपदेश को ग्रहण नहीं करेगा जिसके अनुकूल वह स्वयं उपदेष्टा को आचरण करते नहीं देखता। अतएव यह परमावश्यक है कि बालकों के सामने मां–बाप, अध्यापकगण और समाज के प्रमुख व्यक्ति अपने आपको उन गुणों का नमूना बनकर दिखायें जिन गुणों को वे बालकों में उत्पन्न कराना चाहते हैं।

सदाचार और शिष्टाचार

पाठक पूछ सकते हैं–सदाचार और शिष्टाचार में क्या अंतर है? शाब्दिक अर्थ तो दोनों का प्रायः एक ही है, परन्तु जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, आम बोल–चाल में दोनों के भाव में बहुत अंतर है। सदाचार सर्वत्र और सर्वदा सबके लिए अटल आदर्श है, परन्तु शिष्टाचार में देश, काल और पात्र के अनुसार परिवर्तन हो सकता है। उसका थोड़ा–बहुत

उल्लंघन भी हो सकता है। सदाचार की अवहेलना से भयंकर आत्मिक परिणाम निकल सकते हैं, पर शिष्टाचार के अभाव में सहसा वैसा नहीं हो सकता। सदाचार में मन, वचन और कर्म की एकता आवश्यक है, परन्तु शिष्टाचार का पालन मन के बिना अर्थात् केवल वचन और क्रिया से भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, सदा सत्य बोलना सदाचार है, यह नियम त्रिकाल में एक–सा महत्त्व रखता है तथा देश, काल या पात्र के भेद से इसमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। किसी से कटु सत्य भी न कहो, यह शिष्टाचार का नियम है, परन्तु गुरुजन छोटों को कटु उपदेश भी देते हैं। जो मनुष्य असत्य आचरण करेगा उसकी आत्मा मलिन और अपवित्र हो जाएगी और उसको कभी सच्चा आनंद नहीं मिल सकता। परन्तु जो कड़वा सत्य बोलेगा, उससे लोग सहज में अप्रसन्न तो हो सकते हैं, लेकिन उससे उसकी अधिक कोई हानि नहीं होगी। जो मनुष्य सत्यवादी नहीं है, पर सत्यवादी और सदाचारी बनने का दिखावा मात्र करता है, वह न तो सदाचारी हो सकता है, न कहा जा सकता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति के शिष्टाचारी होने में कोई बाधा नहीं है।

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि यद्यपि शिष्टाचार का पालन सभ्य जीवन का एक आधार है और उसमें तथा सदाचार में कोई विरोध नहीं है परन्तु सदाचार का स्थान शिष्टाचार से ऊपर है। शिष्टाचार का व्यतिक्रम तो क्षम्य हो सकता है, लेकिन सदाचारहीनता अथवा दुराचार की अपेक्षा नहीं की जा सकती। शिष्टाचार के अभाव में मनुष्य केवल सभ्य कहलाता है, लेकिन सदाचार के अभाव में तो वह मनुष्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं रहता। अतएव स्पष्ट है कि अशिष्ट सदाचारी व्यक्ति दुराचारी शिष्ट की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है।

साथ ही, यह भी निर्विवाद है कि शिष्टाचार वस्तुतः सदाचार का पूरक है। सदाचारी व्यक्ति यदि शिष्टाचारी भी हो तो सोने के साथ सुहागे का मेल हो जाता है। अंग्रेज लेखक स्टार्क ने इस सम्बंध में कितना उचित कहा है–

> "Manners are like the cipher in arithmetic; they may not be much in themselves, but they are capable of adding a great deal to the value of everything else."
>
> —Freya Stark in '*The Journey's Echo*.'

अर्थात् "शिष्टाचार अंकगणित में शून्य के समान है, चाहे वह स्वतः अधिक मूल्य न रखता हो, किंतु वह प्रत्येक अन्य गुण के मूल्य को कई गुना बढ़ाने की सामर्थ्य रखता है।"

४

बाते हाथी पाइये—बाते हाथी पांव

बातचीत एक कला है, जिसका व्यावहारिक जीवन में बेहद महत्त्व है। चौधरी चरणसिंह ने 'शिष्टाचार' के ग्यारहवें अध्याय में 'बातचीत' शीर्षक के अन्तर्गत व्यक्ति को कब बोलना चाहिए, श्रोता भाव, सम्बोधन, निन्दा, स्तुति तथा बहस आदि विभिन्न विषयों का विश्लेषण भारतीय धर्मग्रंथों तथा विश्व प्रसिद्ध विद्वानों की युक्तियां देते हुए किया है।

अनकही बात अपनी चेरी है, पर कही हुई बात अपनी स्वामिनी हो जाती है। अतएव जीभ को सदैव अपने वश में रखना और समय पर विचार कर ही खोलना चाहिए; अर्थात् अपने को जो कुछ कहना है उसके हर पहलू पर विचार किए बिना और उसका जो परिणाम होगा उस पर सूक्ष्म निरीक्षण किए बिना कुछ न कहना चाहिए। ऐसा करने से अपकीर्ति का भय न रहेगा; किसी के सामने लज्जित न होना पड़ेगा और पश्चाताप व चिंता से भी मुक्ति मिल जाएगी।

कहावत है—

बाते हाथी पाइए—बाते हाथी पांव।

अर्थात "बात अच्छी होने पर हाथी मिल सकता है और मुंह से बुरी बात निकलने पर हाथी के पांव तले रौंदा भी जा सकता है।"

समाज में बैठकर न अधिक बोलना चाहिए और न बिल्कुल चुप ही रहना ठीक है। शेखसादी का कथन है कि दो बातें मूर्खता की हैं, एक तो बात करने के अवसर पर चुप रहना, दूसरे—चुप रहने के स्थान पर बोलना। हिन्दी में भी एक उक्ति है कि "अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप्प।" अर्थात् मनुष्य को मितभाषी होना चाहिए।

शेक्सपियर ने अच्छी बातचीत का लक्षण इसी प्रकार बताया है:

"बातचीत प्रिय हो पर ओछी न हो, चुहल की हो पर बनावट लिये

न हो, स्वच्छंद हो पर अश्लील न हो, विद्वत्तापूर्ण हो पर दंभयुक्त न हो, अनोखी हो पर असत्य न हो।"

मधुर भाषण

हमारी वाणी में ही अमृत है, और इसी में विष है। जहां मीठी बातें बोली जाती हैं, वहां की हवा मधुमय हो जाती है और चारों ओर सुख ही सुख दीख पड़ता है और जहां कटु अथवा अशिष्ट भाषण होता है, वह स्थान नरक हो जाता है।

वेदों में वाणी के सम्बंध में एक प्रार्थना आती हैः

जिह्या अग्रे मधु गे जिह्वामूल मधूलकम्।
ममेदहक्रतात्रसो मम चित्तमुपायसि।।
मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्
वाचा दामि मधुमद् मयासं मधुसन्दशः।।

अर्थात् "मेरी जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता, मेरे कर्म में तेरा वास हो और मन के अंदर भी तू पहुंच जा। मेरा आना–जाना मधुर हो, मैं जो भाषा बोलूं वह मधुर हो और मैं स्वयं मधुर मूर्ति बन जाऊं।"

मनु महाराज मधुर भाषण के लिए इस प्रकार उपदेश करते हैंः

"न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" अर्थात् ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जो अप्रिय लगे। सच्ची बात यदि कड़वी है तो उसके लिए भी मीठे शब्द ढूंढिए और यह कोई कठिन काम नहीं है। राजर्षि चाणक्य कहते हैंः

"प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुश्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् प्रियं च वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।"

अर्थात 'प्रिय वाक्य बोलने से सब प्राणी प्रसन्न होते हैं, इसलिए प्रिय बोलना चाहिए, ऐसा बोलने में कंजूसी कैसी?' इस सम्बंध में संत प्रवर कबीर की दो साखियां हैंः

बोली तो अनमोल है, जो कोई जाने बोल।
हिये तराजू तोल के, तब मुख बाहर खोल।।
ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय।।

गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन हैः

तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुं ओर।
वशीकरण इक मंत्र है, तजि दे वचन कठोर।।

इस सम्बंध में नीतिशास्त्र के एक–दो वाक्य इस प्रकार हैं:

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः।
न स्नानं, न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।।
वाणीयं समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणं।

और भी–

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः, को भेदः पिककाकयोः।
प्राप्ते वसन्तसमये, काकः काकः पिकः पिकः।।

"कौआ और कोयल दोनों काले हैं, दोनों में क्या भेद है? बसंत ऋतु आने पर मालूम होता है, कौआ कौआ है, कोयल कोयल है।"

इसी को भाषा के कवि ने यों कहा है:

कागा कासो लेत है कोयल काको देइ।
मीठी बानी बोलिकै जग अपनौं करि लेइ।।

मधुर भाषण का उद्देश्य यह है कि परस्पर बातें करने में एक–दूसरे के मान व आदर और आनंद व प्रेम का ध्यान रखा जाए, जिससे मनुष्य एक–दूसरे के निकट आ सके। अभिवादन करना, धन्यवाद देना, समाचार पूछना, आशीर्वाद देना, अच्छी बातें करना, अच्छी बातें समझाना, इसी एक गुण के भिन्न–भिन्न अंश हैं। इसलिए भले आदमी का कर्तव्य है कि न ताना दे, न लानत भेजे और न कटु या अशिष्ट वाक्य कहे, अच्छी, मीठी बात कहे, वरना चुप रहे।

मधुर भाषण की इससे बढ़कर कोई कसौटी नहीं कि यदि विद्या, धन, बल अर्थात सत्ता या आयु में छोटा कोई व्यक्ति आपके पास किसी काम से आए तो उससे बातचीत करने के अनंतर उसके मन में आपके विद्या, धन आदि में बड़े होने की अनुभूति हो और वह मन ही मन आपकी प्रशंसा करता जाए।

हास–परिहास

वह व्यक्ति जो निष्कपट और मन को हरनेवाला हास्य कर सकता है, मित्रमंडली की प्रसन्नता और आनंद का कारण बनता है। वह क्या कहता है इससे कुछ तात्पर्य नहीं, परन्तु उसके चुटकुले, बात कहने का उसका ढंग, एक प्रकार का शद्व–विन्यास जो वह अपने उत्तर–प्रत्युत्तर में भर देता है और उसका वाक्–चात्‌र्य, जिससे वह शब्दों और वाक्यों को कुछ से

कुछ अर्थ पहना देता है, ये गुण श्रोताओं के हृदय को प्रफुल्लित कर देते हैं और इसी कारण उसके लिए बातचीत के बहुत–से नियम शिथिल किए जा सकते हैं। पर हंसी–मजाक उसी को और उसी से करना चाहिए जो दूसरों के हंसी मजाक को सहन करने की शक्ति रखता है।

अपने मित्र, परिचित और समवयस्क व्यक्ति से परिहास करना उचित है। अपने से बड़ों और छोटों से हंसी–मजाक करना या उनके हंसी–मजाक में शरीक होना शोभा नहीं देता।

हंसी–मजाक में कभी विवाद आदि के अवसर पर भी गंदे और फहाश शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, सभ्य लोग अश्लील बातों में कभी रस नहीं लेते। शिष्ट परिहास तो वही है, जिससे प्रसन्नता के साथ–साथ शिक्षा भी मिले और बुद्धि बढे।

दूसरे की बुराइयों पर हंसना अर्थात् ऐसा परिहास करना न चाहिए जो किसी को बुरा महसूस हो। किसी के साथ हंसी–दिल्लगी करने का मुख्य उद्देश्य चित्त को प्रसन्न करना है किन्तु अनुचित रीति से जो हंसी–दिल्लगी की जाती है उसमें खुशी के बदले रंज ही उठाना पड़ता है। जब हंसी से एक के हृदय में चोट पहुंचे, तब वह हंसी, हंसी न रही बल्कि उपहास हो जाती है और उपहास करने पर परस्पर वैमनस्य हो जाता है, जिससे सबका अमंगल हो सकता है।

यद्यपि कविकुलगुरु कालिदास कहते हैं कि "परिहास विजल्पितं सखे, परमार्थेन न गृह्यतां वचः" अर्थात् "हे मित्र, हंसी में कही बात को सच मत मान लेना।" तथापि मित्र के साथ भी अनुचित विनोद करना हानिकारक है। कोई भी आदमी, चाहे वह परम मित्र ही क्यों न हो, हंसी के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अपमान सहन नहीं कर सकता।

महाभारत में आया हैः

परिहासश्च भृत्यैस्ते नाव्यर्थ वदतां वर।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषा यत्र हि मे श्रृणु।।
अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविषः।
स्वे स्थाने न च तिश्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः।।

अर्थात् "हे युधिष्ठिर, नौकर से कभी परिहास न करना चाहिए, इसमें बहुत दोष हैं। सुनो, परिहास करने से नौकर के दिल में मालिक के लिए मान नहीं रहता, नौकर अपने कर्तव्य पर स्थिर नहीं रहता और मालिक की आज्ञा का उल्लंघन करता है।"

भाषा

हमें सदैव शुद्ध और उत्तम भाषा बोलनी चाहिए। जिन शब्दों का आपको शुद्ध उच्चारण मालूम न हो, उन्हें बोलना उचित नहीं और न ही बातचीत में उस भाषा के शब्द प्रयोग करने चाहिए, जिससे आप अपरिचित हों।

यह ध्यान रखना चाहिए कि वार्तालाप भाषाओं की खिचड़ी न हो जाए। जिस एक भाषा में आप बात कर रहे हैं, उसी में करनी चाहिए। प्रायः हिन्दुस्तानी में अंग्रेजी के अनावश्यक शब्द बहुत प्रयोग किए जाते हैं, यह ठीक नहीं है।

जहां कई मित्र या सज्जन बैठे हों वहां यथासम्भव ऐसी भाषा में बातचीत करनी चाहिए, जिसे सब समझ सकें।

अगर किसी की भाषा में उच्चारण अथवा मुहावरे की कुछ गलती हो तो चश्मपोशी करनी चाहिए, उसमें संशोधन करना अशिष्टता है।

हिन्दुस्तानियों के लिए अंग्रेजों की नकल करके 'कोई है?', 'देको', 'जल्दी मांगता है', 'मालूम?' आदि अशुद्ध शब्दों अथवा शुद्ध शब्दों का अशुद्ध प्रयोग करना बड़े शर्म की बात है। इसी प्रकार 'माता' के स्थान पर बच्चों से 'ममी' और पिता के स्थान पर 'पापा' कहलाना यह सिद्ध करता है कि ऐसे लोगों में कोई देशाभिमान नहीं है और वह अपनी भाषा व संस्कृति को विदेशी भाषा व संस्कृति से हीन व निम्न कोटि की मानते हैं।

निंदा व स्तुति

नीतिशास्त्र में कहा हैः

यदैच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवाद सस्येभ्यो गां चरन्ती निवारय।।

अर्थात् "यदि आप चाहते हैं कि एक ही कर्म से सारे जगत् को अपने वश में कर लें तो दूसरों के अपवाद–रूपी हरी खेती में चरने से गाय–रूपी अपनी वाणी को रोको।"

बूढ़े व्यक्ति, गुरुजन और किसी पूरी जाति की तो भूलकर भी निंदा नहीं करनी चाहिए, न किसी मृत व्यक्ति की ही निंदा करना उचित है, क्योंकि वह उसका जवाब देने को नहीं आ सकता।

कबीर साहब कहते हैंः

निंदक एक हू मत मिलो, पापी मिलो हजार।
इक निंदक के सीस पर, कोटि पाप का भार।।

परन्तु किसी व्यक्ति के सार्वजनिक कार्यों की शिष्टतापूर्वक आलोचना करना निंदा में शामिल नहीं है।

अगर किसी पेशे–विशेष का कोई व्यक्ति बैठा हो, तो उसके सामने उस पेशे वालों को बुरा न कहना चाहिए।

अपनी स्तुति आप करना उचित नहीं, दस आदमियों में बैठकर अपना जिक्र तब ही छेड़ना चाहिए जबकि अत्यन्त आवश्यक हो। स्त्रियों में आत्मप्रशंसा की प्रवृत्ति बहुधा पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। उन्हें उस प्रवृत्ति को कम करना चाहिए। उन्हें उचित है कि सदा अपने ही विषय में अथवा अपनी वस्तुओं, गहने, वस्त्र आदि की चर्चा न करें और न अपनी संतान की ही प्रशंसा करती रहें।

यद्यपि किसी की भलाई का उल्लेख अथवा वर्णन करना प्रायः किसी अवसर पर भी अनुचित नहीं है, लेकिन अगर आपकी जानकारी में कोई ऐसा व्यक्ति बैठा हो जो किसी व्यक्ति–विशेष की प्रशंसा सुनना पसंद नहीं करता हो, तो कदापि उस व्यक्ति के गुण उसे सुना–सुनाकर न कहने चाहिए।

कब बोलें

बिना पूछे, बिना कहे अपनी सम्मति देना या किसी की बातचीत में बोलने लगना अथवा दखल देना असभ्यता है। जब कोई आपसे बातचीत करे या पूछे–ताछे तभी बोलना ठीक है, वरना चुपचाप सुनते रहना चाहिए। यदि बीच में बोलना ही हो तो पहले नम्रतापूर्वक बोलने की अनुमति ले लेनी चाहिए। लोकजीवन के व्याख्याता एवं कवि श्री जायसी ने पद्मावत में ठीक ही कहा हैः

बिन पूछे जो बोलहि बोला।
होइ बोल माटी के मोला।।

यदि दो ऐसे व्यक्ति आपस में बातचीत कर रहे हों, जो आपके परम मित्र न हों या जिनके ढंग से ऐसा मालूम होता हो कि उनकी बातचीत गोपनीय है, तो आपको उनके पास नहीं जाना चाहिए और न उनकी बातचीत सुनने या मालूम करने की चेष्टा ही करना उचित है। यदि उनमें से किसी से

कुछ काम हो अथवा अन्य कारणवश वहां जाना ही पड़े, तो उनके बीच में न बोलना चाहिए और इतनी दूरी पर रहना चाहिए कि बातचीत सुनाई न पड़े। उनके पास आज्ञा लेकर जाना ही मुनासिब है या फिर बातचीत समाप्त हो जाने के अनन्तर। परन्तु बातचीत में मग्न व्यक्तियों का कर्तव्य है कि यदि कोई छोटा बच्चा कुछ कहना चाहे तो उसकी बात शीघ्र ही स्नेहपूर्वक सुन लें। अगर आपको कोई बात अपने किसी ऐसे मित्र से निजी तौर पर कहनी हो जो सभा में बैठे हों तो उनको अलग बुलाने के लिए उनके दूसरे साथियों से क्षमा मांगनी चाहिए। अच्छा तो यही है कि आप अपने मित्र से उस समय बात न करके, कोई दूसरा अवसर निकालें।

यदि कोई व्यक्ति आपसे बात कर रहा हो तो उसकी बात समाप्त होने पर अथवा बातचीत में उसके कुछ ठहर जाने पर ही आपको कुछ कहना या जवाब देना चाहिए। यदि बीच में बोलना ही आवश्यक हो तो 'क्षमा कीजिए, आपकी बात कटती है' आदि वाक्य कहकर ही बोलना उचित है। पेश कलामी करना अर्थात् जो कुछ दूसरा व्यक्ति कह रहा है, उसके आगे–आगे पहले से ही शब्द या वाक्य बोल देना और उसकी बात के अंतिम शब्दों को दोहराना भी अनुचित है।

बातों के सुनने की कला

अगर कोई आपको सम्बोधन करे तो उसकी बात ध्यान से सुननी चाहिए, उदासीनता प्रकट करना अशिष्टजनों का काम है। दूसरे की बात के बीच में बार–बार यह पूछना कि 'आपने क्या कहा?' सिद्ध करता है कि आप उसकी बात ध्यान से नहीं सुन रहे हैं।

अगर उसकी बातों में कोई ऐसा विषय, घटना या कहानी हो जिसे आप पहले से जानते हों तो उसकी बात काटकर अपनी जानकारी प्रकट न करें, बल्कि ध्यानपूर्वक सुनते रहें।

जहां चार आदमी बातचीत कर रहे हों, वहां बीच में पुस्तक या समाचार पत्र पढ़ने लग जाना उचित नहीं है।

अगर कोई आदमी ऐसी बात कहे जो आपके अनुभव के विपरीत हो तो उसको अनसुनी कर देना चाहिए, जैसे कि आपने सुना ही नहीं है। अगर आपको सम्बोधन करके कहा जाए तो झटपट यह न कह बैठना चाहिए कि "ऐसी बात तो हमने न देखी और न सुनी," क्योंकि इस वाक्य से बोलने वाले की सच्चाई पर संदेह प्रकट होता है और यह आवश्यक नहीं कि जो बात आपके अनुभव में न आई हो वह अवश्यमेव गलत हो।

सम्बोधन आदि

गुरुजन का नामोच्चारण करना असभ्यता है, उनको सदैव सम्बंधसूचक शब्द अथवा उनके पद या उप–नाम द्वारा और ऐसे शब्द के पीछे 'जी' अथवा 'साहब' लगाकर ही सम्बोधन करना उचित है, जैसे–गुरुजी, मास्टर साहब, माता जी, पिता जी, चाचा जी, भाई साहब, प्रधान जी, राय साहब, स्वामी जी, पंडित जी, मौलवी साहब, चौधरी साहब, बाबू जी इत्यादि। उनकी अनुपस्थिति में भी उनका नाम आदर से लेना चाहिए।

किसी संन्यासी, शास्त्री, आचार्य या डाक्टर को केवल उपाधि से ही सम्बोधन करना चाहिए।

बराबर वालों को बुलाने या उनकी चर्चा करने में उनका पूरा नाम लेना और नाम के पहले श्रीमान्, पंडित, बाबू, महाशय चौधरी आदि, जो उपयुक्त हो, अवश्य लगाना चाहिए। परन्तु उनके नाम के पहले कुछ न कहकर पीछे केवल 'जी' या 'साहब' का प्रयोग करने से भी काम चल सकता है, जैसे 'कृष्णचन्द जी'।

अपने से छोटे अथवा नौकर को नाम लेकर ही सम्बोधित किया जाता है। किसी को भी बुलाते समय उसके नाम से पहले 'ए' या 'ओ' न लगाना चाहिए। किसी का लाड़–प्यार में रखा हुआ अथवा अधूरा नाम न लेना चाहिए। ऐसा नाम उन्हीं के मुंह से अच्छा लगता है, जो उस नाम को बोलने के अधिकारी हैं या जिन्होंने वह नाम रखा है।

पति–पत्नी का परस्पर सम्बोधन 'देखो तो', 'सुनो तो सही' आदि अर्थशून्य वाक्य कहकर करना ठीक नहीं है। पति के लिए अपनी पत्नी का नाम लेना या नाम लेकर बुलाना भारतीय संस्कृति के अनुकूल है और प्राचीन काल में वही रिवाज था। अपने बड़े का नाम लेकर सम्बोधन करना अनुचित समझा जाता है। इसलिए पत्नी अपने पति का नाम नहीं लेती थी वरन् 'आर्य' या 'आर्यपुत्र' कहती थी। परस्पर सम्बोधन की यह रीति अतिउत्तम थी और पुनः शुरु हो जाये तो अच्छा है। लेकिन आजकल 'आर्य' या 'आर्यपुत्र' का प्रचलित होना प्रायः असम्भव–सा है, अतः पत्नी पति को 'श्रीमानजी' या उसका गोत्र अथवा उपनाम शर्मा जी, गौतम जी, गुप्त जी, खन्ना जी, वात्स्यायन जी, चौधरी साहब, मौलवी साहब, पंडित जी, राणा जी आदि अथवा व्यवसायात्मक नाम–जैसे डॉक्टर साहब, वकील साहब, प्रोफेसर साहब, आदि कहकर पुकार सकती है। पत्नी का नाम लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए परन्तु यदि यह न हो सके तो पत्नी के लिए श्रीमती जी, देवी जी आदि कहा जा सकता है। पाश्चात्य

समाज में पति–पत्नी का परस्पर नाम लेने का चलन कुछ हिंदुस्तानी घरानों में भी जारी हो गया है।

दूसरे मनुष्य से बातें करते हुए अपनी पत्नी के लिए 'घर से' या ऐसा ही अन्य निरर्थक शब्द या वाक्य नहीं कहना चाहिए, 'गृहिणी' आदि शब्दों का प्रयोग करना उचित है।

यदि आप किसी आदमी से कुछ कहना चाहते हैं तो उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसका हाथ पकड़ना या उसके कपड़े झटकना अशिष्टता है।

यदि कोई बड़ा बुलाये तो 'क्या' 'ऐं' या 'हां' न कहना चाहिए। 'जी', 'जी हां', 'जी अभी सेवा में उपस्थित हुआ' आदि कहना ठीक है। बराबर वाले या इष्ट मित्र से भी इसी प्रकार के शब्द या वाक्य कहने में हर्ज नहीं, वरन् आपकी नम्रता ही ज़ाहिर होती है। अपने से छोटे या नौकर–चाकर से 'क्या' या 'हां' कहने का ही रिवाज है।

बातचीत में बड़ों को सदा 'आप' या 'श्रीमान् जी' कहना चाहिए, 'तुम' नहीं। बराबर वालों को भी 'आप' ही कहना अच्छा है। जो अपने से छोटे हैं अथवा स्नेह के पात्र हैं उन्हें 'तुम' अथवा 'तू' कहकर सम्बोधन किया जा सकता है।

कोई भद्र पुरुष यदि आपको 'आप' कहकर पुकारे तो आपको उसे कभी 'तुम' नहीं कहना चाहिए। जब वह आपको 'आप' कहता है तो उसका अर्थ है कि वह चाहता है कि दूसरे लोग भी उसे वैसा ही संबोधन करें। उसके प्रति आपका 'तुम' कहना नितांत अनुचित है।

अगर दो से अधिक व्यक्ति उपस्थित हों और उनमें से एक के विषय में संकेत करके दूसरे से उस समय कोई बात पूछी या कही जाए तो उसके लिए 'इनका' या 'इनसे' आदि शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए बल्कि 'आपका' या 'आपसे' कहना चाहिए। उदाहरणार्थ, बलभद्र से रामेश्वर की उपस्थिति में किसी विषय के सम्बंध में रामेश्वर का मत पूछे तो यह न कहना चाहिए कि 'इनका विचार इस सम्बंध में क्या है?' बल्कि यह कि 'आपका (रामेश्वर जी का) मत इस सम्बंध में क्या है?'

अपना नाम लेते समय उसके आगे–पीछे सम्मानसूचक शब्द न लगाना चाहिए और न अपने लिए 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग करना ही उचित है।

'जो है सो करके', 'राम तुम्हारा भला करे', 'समझे जी' आदि किसी तकिया कलाम की आदत न डालनी चाहिए, न 'अरे' शब्द का प्रयोग करना ही उचित है। बातचीत में ऐसे अनावश्यक शब्दों को बार–बार कहना अच्छा नहीं है।

सौगंध खाने की आदत अच्छी नहीं है, सौगंध खाने में न वीरता है, न सौजन्य और न बुद्धिमानी।

धन्यवाद या क्षमायाचना

बातचीत में साधारणतया 'कृपा करके मुझे दे दीजिए' या 'अगर आपको कष्ट न हो तो मुझे किताब उठा दीजिए' आदि वाक्यों का प्रयोग करना उचित है। ऐसी मधुर भाषा से सम्बोधित व्यक्ति समझ लेता है कि आप उसे कष्ट नहीं देना चाहते और दूसरों की छोटी–छोटी सेवाओं को भी धन्यवाद के साथ स्वीकार करते हैं।

अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो आपसे छोटा अथवा सुहृद नहीं है, आपका काम कर दे, उदाहरणार्थ आपकी संकेतित वस्तु पकड़ा दे या गिरी हुई वस्तु उठा दे, तो नम्रता के साथ उसे 'धन्यवाद' देना चाहिए। मुसलमानों में ऐसे अवसर पर 'तसलीम' कहने का रिवाज है। गुरुजनों का ऋण इतना महान है कि उनको धन्यवाद देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अगर किसी व्यक्ति को आपसे क्षमा मांगने की नौबत आ जाये तो आपको कहना चाहिए, 'नहीं, कुछ हर्ज नहीं।' इसका यह अर्थ नहीं कि क्षमा मांगना आवश्यक न था, बल्कि यह है कि अब आप उस पीड़ा को भूल गये जिसके लिए उसने क्षमा मांगी है। यह केवल नियम–निर्वाह के लिए ही नहीं, बल्कि दिल से भी होना चाहिए।

बहस से बचो

बहस से यथासम्भव बचना चाहिए और मैत्री–भाव से प्रारम्भ की गयी बातचीत को वाद–विवाद के रूप में परिणित न होने देना चाहिए। अगर किसी बहस में फंस भी जाएं तो धैर्य व शांति से काम लें और अपनी राय नम्र भाषा में स्पष्टतया बयान कर दें। हरगिज यह न कहना चाहिए कि 'मैं तुमसे अधिक जानता हूं' या कि 'तुम सरासर गलती पर हो।' अगर आप सहमत नहीं हो सकते तो कहना चाहिए, 'नहीं, मुझे आपसे सहमत होने में कठिनाई है, सम्भव है, मेरी गलती हो, परन्तु मेरी राय यही है' अथवा 'जहां तक मुझे मालूम है, घटना इसी प्रकार है।' अगर आप देखें कि दूसरे का मत आपकी राय के सर्वथा विपरीत है, तो आपको चतुराई से उस विषय को छोड़कर दूसरा प्रसंग उठा लेना चाहिए।

इसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति आपके धर्म, राजनीतिक दल या जाति के किसी सिद्धांत अथवा रिवाज की आलोचना करे तो क्रोध प्रकट करना

उचित नहीं, नम्रता के साथ उसके गलत विचार को दुरुस्त करने का यत्न करें और यदि इस पर भी वह अपनी राय न बदले, तो बात बदलकर दूसरा विषय छेड़ दें, वरन् चुप हो जाएं, बहस न करें।

मित्र के साथ भी अनावश्यक वाद–विवाद करना अनुचित है, क्योंकि इससे बहुधा गाढ़ी से गाढ़ी मित्रता भंग हो जाती है।

बड़ों से बातचीत

अपने गुरुजन, स्त्रियों और पद–प्रतिष्ठा में जो माननीय हों, उनके साथ साधारण से कुछ अधिक विनय, नम्रता एवं शांतिपूर्वक बातचीत करनी चाहिए। बातों में लापरवाही, उद्दंडता और असंगतता न आने देनी चाहिए।

अगर आप अपने किसी बड़े अथवा माननीय व्यक्ति से बातचीत करते हुए सहमत न हो सकें, तो यह न कहना चाहिए कि 'आप भूल करते हैं' या 'आपकी समझ में मेरी बात नहीं आई', ऐसी चर्चा ही न करें। अगर आवश्यकता पड़ जाए तो कहें, 'मेरे शब्द कदाचित् स्पष्ट नहीं थे' या मैं अपना अर्थ नहीं समझा सका।

गुरुजन एवं मान्य पुरुषों के खड़े रहते हुए बात करने पर आपको स्वयं न बैठे रहना चाहिए, बल्कि उनके सामने खड़े होकर बातचीत करनी चाहिए।

यदि आप किसी चबूतरे या अन्य ऊंची जगह पर खड़े हुए हैं और किसी गुरुजन या मान्य व्यक्ति से, जो नीचे खड़े हुए हों, बातचीत करनी हो, तो नीचे उतरकर ही बातचीत करनी चाहिए। इसी प्रकार गाड़ी, साइकिल, घोड़े आदि से उतरकर ही गुरुजन या मान्य व्यक्ति से बातचीत करना उचित है।

गुरुजन और मान्य व्यक्तियों से बातचीत करते समय पान खाना या सिगरेट आदि पीना सभ्य समाज में अच्छा नहीं समझा जाता; विशेषकर जब कि वह स्वयं उन वस्तुओं का प्रयोग न करते हों। बड़ों के सामने जेब में हाथ रखकर बातचीत करना उद्दंडता का सूचक है।

बातचीत का ढंग

बातें करते समय एक–दूसरे की तरफ देखना चाहिए। दूसरी दिशा में अथवा खिड़की या छत की ओर निगाह करके, या नीची आंखें करके बातें करना अशिष्टता है। पर बिल्कुल आंख से आंख मिलाये रहना या घूरकर एक–दूसरे की ओर देखते रहना भी उचित नहीं है।

बातचीत के समय नाक पर उंगलियां रखने अथवा ठोड़ी पकड़े रहने की आदत अच्छी नहीं है।

बातचीत करने में अनावश्यक रूप में हाथ या कंधों को अथवा नाक, भौंह या होठों को हिलाना, त्यौरी चढ़ाना या पलकों को बार–बार झपकाना, मूंछ ऐंठना या दाढ़ी से खेलना और जंघा अथवा शरीर के अन्य किसी अंग को खुजलाना सभ्यता के विरुद्ध है।

किसी दूसरे आदमी से बातें करते.समय अपना मुंह उसके मुंह के अति निकट न ले जाना चाहिए और न उसकी ओर जोर से मुंह द्वारा सांस ही छोड़नी चाहिए।

बातें करते समय ध्यान रखना चाहिए कि मुख से थूक की छीटें न उड़ें।

किसी की बात का उत्तर सिर हिलाकर नहीं देना चाहिए।

बातचीत इतनी ऊंची आवाज में करनी चाहिए कि आपकी बात स्पष्ट सुनाई दे, परन्तु आवाज इतनी ऊंची भी न हो कि निकट बैठे हुए व्यक्तियों की बातचीत में विघ्न पड़े, चीख–चीखकर बातें करना तो बिल्कुल असभ्यता है, विशेषकर स्त्रियों के लिए अत्यन्त उच्च अथवा कर्कश स्वर से बोलना अक्षम्य है।

इतनी जल्दी न बोलना चाहिए कि लोगों की समझ में ही न आये और इतनी मन्द गति से ठहर–ठहरकर बोलना या विस्तारपूर्वक कहना भी ठीक नहीं है कि सुनने वाले उकता जाएं।

बातचीत का विषय

किसी से बातचीत आरम्भ करने से पूर्व इतना विचार कर लेना चाहिए कि उस व्यक्ति का स्वयं बातें करने को जी चाहता है अथवा वह आपकी बातें सुनने की इच्छा रखता है! बहुधा लोग स्वयं बातें करना बहुत पसंद करते हैं और सुनना कम। इसलिए दिल लगाकर सुनने का गुण सराहनीय है। जिस किसी को आप प्रसन्न करना चाहते हैं उसकी बातें ध्यान से सुनें। बड़ों से बातें करते समय, बातचीत का विषय चुनने का अवसर उन्हें दें, जब वे कोई विषय न छेड़ें, तब आप शुरू कर सकते हैं।

मित्रमंडली में बैठकर सारा समय आपको ही अपनी बातों के लिए नहीं ले लेना चाहिए, बल्कि दूसरों को भी बात करने व कहने का अवसर देना चाहिए।

मित्रमंडली में बैठकर बार–बार अपने लतीफे व कहानी आदि का दुहराना उचित नहीं, अर्थात् जो बातें पहले सुना चुके हैं उनको फिर–फिर

न कहें। ऐसी बातें बहुत कम होती हैं जो दुबारा या तिबारा कहने पर भी अच्छी लगें।

किसी विषय में आपकी विशेष रुचि है तो सदैव उसी का जिक्र न छेड़ना चाहिए। जहां कई मित्र या सज्जन जमा हों वहां यथासम्भव ऐसे विषय पर बातचीत करना उचित है जिसे सब समझ सकें अथवा जिसमें सबकी रुचि हो। अगर कोई ऐसी बात कहे, जिसके अर्थ या प्रसंग को सब न समझते हों, तो उसका आशय सब पर प्रकट कर देना चाहिए।

मित्रमंडली में बैठकर शिक्षा या उपदेश करना अनुचित है। लोग आपस में इस दृष्टि से एकत्र नहीं होते कि जाकर नसीहत सुनें, बल्कि मनोरंजन के विचार से होते हैं। इस कारण समाज में वह व्यक्ति सर्वप्रिय होता है जो केवल लोगों के गुणों पर दृष्टि रखता है और उनके अवगुणों पर ध्यान नहीं देता।

जिस प्रकार की सभा या समाज में आप सम्मिलित हैं उसके अनुकूल ही बातें करनी चाहिए। दुःख अथवा संवेदना की कथा में परिहास करना अनुचित है और आनंद की गोष्ठी में शोक की बातें करना भी वर्जित है।

जिससे बातचीत की जाए उसकी अवस्था व योग्यता आदि का विचार रखना आवश्यक है। नवयुवकों से वैराग्य की बातें करना और वयोवृद्ध लोगों को श्रंगार रस की विशेषताएं बताना या उनके सामने बुढ़ापे के कष्ट और बुराइयां बयान करना शिष्टाचार के विरुद्ध है। साधु–संन्यासियों अथवा किसी विधवा युवती के सामने विवाहित जीवन के विलास या सुखों की चर्चा करना भी अशिष्टता है।

जहां बहुत से लोग बैठे हों वहां ऐसे विषय या पुरुष की चर्चा न करनी चाहिए जिससे लोगों को ग्लानि, विरोध अथवा घृणा हो। न अपने पेशे व रोज़गार की या अन्य घरेलू बातों की ही चर्चा करना उचित है। अपने दुःख की बात का उल्लेख करना तो बिल्कुल ही अनुचित है। किसी सभा या समाज में बैठकर इस प्रकार की बातें जिससे किसी व्यक्ति को अप्रिय घटनाएं या पूर्वकाल की विपत्तियां याद आयें अथवा सुनने में संकोच हो, नहीं करनी चाहिए।

अगर किसी के वेश आदि से यह प्रकट हो कि वह किसी मृत व्यक्ति के लिए शोक मना रहा है तो उससे सीधा यह प्रश्न न करना चाहिए कि "आपके यहां किसकी मृत्यु हो गयी है?" बल्कि गंभीरता से पूछना चाहिए, "कहिए, कुशल तो हैं?" और उसके साथ सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए।

साधु–संन्यासियों से बिना विशेष कारण के उनकी पूर्व जाति व वृत्ति अथवा वैराग्य का कारण पूछना असभ्यता है।

कभी किसी युवा विधवा से यह न पूछना चाहिए कि पुनर्विवाह में

उसका विश्वास है या नहीं और न किसी तरुण स्त्री से उसकी आयु के सम्बंध में ही कोई प्रश्न पूछना चाहिए।

किसी से यह न पूछना चाहिए कि उसे अमुक भोज, पार्टी या उत्सव में क्यों नहीं बुलाया गया और न उससे उस भोज आदि के सम्बंध में अन्य बातचीत करना ही उचित है।

किसी से, विशेषकर अपरिचित से, उसका वेतन, आय, व्यवसाय, वय या जाति व वंशावली न पूछनी चाहिए, जब तक कि पूछना परम आवश्यक न हो। न यह पूछना चाहिए कि वह विवाहित है या नहीं और न यह कि उसके कितने बच्चे हैं। वस्त्र, आभूषण आदि का मूल्य भी किसी अजनबी से न पूछना चाहिए।

यदि कोई सज्जन आपका प्रश्न सुनकर भी उत्तर न दें तो फिर उससे उसके लिए आग्रह न करना चाहिए। यदि ऐसा जान पड़े कि वह उत्तर देना भूल गया है तो अवश्य ही उससे दूसरी बार नम्रतापूर्वक प्रश्न किया जा सकता है। वैसे किसी से भी कुछ पूछते समय प्रश्न की झड़ी लगा देना उचित नहीं है।

५

सरकारी सेवाओं में किसान—संतान के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण क्यों?

"एक ग्रामीण या किसान की समस्याओं को वही अधिकारी—व्यक्ति हल कर सकता है, जिसकी सोच वस्तुओं के प्रति किसान जैसी ही हो।" इस चिंतन के आधार पर चौधरी चरणसिंह ने १९३९ में उत्तर प्रदेश की नव—निर्वाचित धारा सभा में एक प्रस्ताव रखा, जिसमें ५० प्रतिशत उच्च प्रशासनिक पद खेतिहर अथवा गांवों के निवासियों के लिए आरक्षित करने की बात कही गयी थी, पर शोषक व्यवस्था ने इस प्रस्ताव पर कोई विचार नहीं किया। बाद में १९४७ में उन्होंने विषय की महत्ता को सिद्ध करते हुए लेख लिखा— 'किसान संतान को ५० प्रतिशत आरक्षण क्यों?

सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार वे लोग जो वास्तव में खेती के काम में लगे हैं—वे चाहे भूमि के मालिक हों अथवा काश्तकार—उन लोगों से अलग हैं जो या तो श्रमिक हैं या पूरी तरह अथवा सिद्धान्त रूप में ज़मीन के लगान से जीविका कमाते हैं। ये काश्तकार अथवा ज़मीन के मालिक ही हमारे प्रदेश की बड़ी जनसंख्या का भाग हैं, अर्थात् ५७.७५ प्रतिशत हैं। इनमें जब कृषि—मजदूरों को शामिल कर लिया जाता है, तब वे ७५.५ प्रतिशत हो जाते हैं। सन् १९४१ की जनगणना में पेशेवर आंकड़े एकत्र नहीं किये गये थे, फिर भी यह विश्वास किया जा सकता है कि १९३१ की अपेक्षा। इन आंकड़ों में कोई ठोस परिवर्तन नहीं हुआ होगा। इसलिए यथार्थ में संयुक्त—प्रदेश में खेती में लगे वर्ग को ही जनता कहा जा सकता है। सरकार के समस्त विभागों का निर्माण इसी जनता के हितों को पूरा करने के लिए किया गया है। जनसंख्या का इतना बड़ा भाग होने के कारण, कोई भी व्यक्ति यह सोच सकता है कि उत्तर—प्रदेश की सरकारी नौकरियों का प्रबन्ध, किसानों के बेटों द्वारा किया जाता होगा

अथवा सरकारी नौकरियों में उनकी संख्या, उनकी जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से होगी, लेकिन ऐसा बिल्कुल नहीं है। सरकारी—सेवकों के आंकड़े उनके अभिभावक या पिताओं के पेशे के आधार पर उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु यह बात बिना किसी विरोधाभास के कही जा सकती है कि उनका अनुपात, सैनिक—सेवाओं के अतिरिक्त, किसी भी हालत में १० प्रतिशत से अधिक नहीं है।

> आंकड़ों पर आधारित तर्क भी ध्यान में रखने योग्य है। अधिक महत्त्वपूर्ण और यह बात कहने के लिए विवश करने वाला विचार, मैं, यह समझता हूं कि किसानों और उस वर्ग के बीच, जो सरकारी सेवाओं के लिए अधिकारी तथा दूसरे पदों के लिए कर्मचारियों का चयन करता है, सहानुभूति का अभाव अथवा विरोध विरासत से मिलता है। एक व्यक्ति के विचार उसके वातावरण के आधार पर बनते हैं। शिक्षा से उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, कभी—कभी वह उनको और मजबूत बनाती है। एक व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण उसके मां—बाप, उसका वातावरण, उसका व्यवसाय, अतीत में उसके कार्य, उसके वर्तमान के मित्र, परिचित और रिश्तेदार आदि बनाते हैं। साइमनहैरी का कथन है, "एक व्यक्ति के सामाजिक दर्शन का निर्माण उस समाज के प्रभाव से होता है, जिसमें कि वह रहता है; एक कन्जर्वेटिव एम० पी० अपने सम्बन्ध लिमिटेड कम्पनीज के डायरेक्टर्स, अपने क्लब के अपने समान मालदार सदस्यों और शिकार, निशानेबाजी तथा मछली मारने आदि कामों के शौकीन अपने साथियों के साथ रखता है। यह वह समाज है, जो उसके अनुदार विचार या दर्शन का निर्माण करता है। उसकी जिन्दगी के तौर—तरीकों से यह बात सम्भव प्रतीत नहीं होती कि वह आम आदमी की वास्तविक समस्याओं को समझ सकेगा, उसकी राजनीतिक विचारधारा निश्चित रूप से उसके वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जिससे उसका उद्‌गम हुआ हैं।"
>
> (वाइड पौरी, एम० पी० पृष्ठ—१९३)

हमारे देश में वे जातियां, जिनके वंशज सरकारी सेवाओं में अधिकार जमाये हुए हैं, प्रायः वे हैं, जिनको अंग्रेजों द्वारा अप्रत्याशित महत्त्व और ख्याति प्रदान की गयी थी। इनमें साहूकार, बड़े—बड़े जमींदार, ताल्लुकेदार, आढ़ती, व्यापारी अथवा वे लोग हैं, जो प्रायः इन लोगों द्वारा शामिल किये गये हैं, जिनमें वकील, डाक्टर और ठेकेदार आते हैं। इन जातियों ने अंग्रेजों की अधीनता में पिछले २०० वर्षों में जनता का हर प्रकार से शोषण किया था। इन वर्गों के हित और विचार, पूर्णतः स्पष्ट

रूप से, जन–समाज के विरोधी हैं। शहर निवासी गैर–कृषि समाज के व्यक्ति का सामाजिक दर्शन, देहात के किसान–समाज में पैदा हुए व्यक्ति से पूर्णतः भिन्न होता है।

पंजाब की एक एसोसिएशन द्वारा स्टेच्युअरी कमीशन को दिया गया एक प्रतिवेदन कहता है, "भारत में शहर और कस्बों में रहने वाले व्यापारी वर्ग तथा खेतिहर जातियों में एक बहुत बड़ी दरार है।" तत्पश्चात् उसने आयोग पर समस्त संभावित बल के साथ, यह प्रभाव डालने का प्रयास किया कि "शहरी मध्यम वर्ग, जो पैसा उधार देने वाले वर्ग के बहुत नजदीक है अथवा उसका अंग है, कृषक–वर्ग के साथ कोई सहानुभूति नहीं रखता; और यह कि दोनों वर्गों के हित परस्पर सीधे विरोधी हैं। इस प्रकार की शिक्षा पाया हुआ शहरी मध्यम वर्ग, किसान वर्ग को केवल खेत जोतने के योग्य ठहराता है; खाद्यान्न उत्पादन के योग्य मानता है। सरकार को राजस्व देने के उपयुक्त सोचता है, अपने उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम समझता है और हर प्रकार से शोषण का आधार समझता है।" कुछ लोगों के कानों को प्रतिवेदन की भाषा कुछ कठोर लग सकती है किन्तु इस बात का कोई खंडन नहीं है कि शहरी लोग, किसान वर्ग की अपेक्षा स्वयं को बहुत ऊंचा मानते हैं। पंजाब एसोसिएशन का विचार सही है।

इस बात का प्रमाण यह तथ्य पेश करता है कि एक दिन मैं सरकारी सेवाओं में किसान वर्ग के लिए अधिक स्थानों की मांग–विषयक अपने विचार के बारे में उत्तर–प्रदेश के एक बड़े शहर से आये विधायक से बात कर रहा था, तो उनकी तुरन्त प्रतिक्रिया थी– "तब खेतों में हल कौन चलायेगा?" प्रायः देखा जाता है कि शहर में पला गैर–किसान वर्ग का व्यक्ति गांव के एक गरीब भारतीय को देहाती, गंवार, दहकानी आदि उसी घृणाभरे स्वर में पुकारता है, जिसमें स्वर्ग से सीधा आया अंग्रेज, हम समस्त भारतीयों को बिना किसी भेदभाव के, नेटिव तथा निगर कहकर पुकारता था।

इस सच्चाई को मानना पड़ेगा कि जिस वातावरण में देहात का कामगार रहता है, वह शहर के वातावरण से भिन्न होता है। "खेती एक विशेष प्रकार का नागरिक, दिमाग, एक विशेष रुझान तथा जीवन की एक विशेष दिशा उत्पन्न करती है।" और यह किसी औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई दिशा, रुझान तथा विचार से अलग होती है। काउण्ट रिचर्ड ओडन ओ कलर्जी अपनी किताब 'टोटेलिटेरियन स्टेट अगेंस्ट मैन' में किसान के विषय में कहता है– "वह प्रकृति के बीच में, प्रकृति के साथ, पशु और पेड़–पौधों का सहजीवी बनकर रहता है। इस कारण दुनिया के विषय में उसका अन्दाज उस शहरी आदमी से, जो प्रकृति से

बहुत दूर रहता है, जो अपने अधिकांश दिन विभिन्न प्रकार की मशीनों के बीच गुजारता है और प्रायः स्वयं आधी मशीन बन जाता है, से सिद्धान्ततः बहुत भिन्न होता है। किसानों की मौसम के समान मंदगामी रफ्तार होती है, मोटर कार के समान तेज गति नहीं। संसार तथा वस्तुओं के प्रति उसका रुख सहज होता है, मशीनवत् नहीं।

"यही कारण है कि किसान–वर्ग से भरे हए देश में उस व्यक्ति, जिसने किसान जीवन के दुखद अनुभवों को भोगा है और जिसे देहाती क्षेत्र के वातावरण के अनुभव का श्रेय प्राप्त है, के अधिक सफल प्रशासक तथा कानून का व्याख्याता होने की सम्भावना है, क्योंकि अन्यों की अपेक्षा उसके जीवन के मूल्य, उन लोगों के अधिक अनुरूप होते हैं, जिनके कार–बार की व्यवस्था का दायित्व उसको सौंपा जाता है। केवल वह ही ग्रामीणों की मानसिकता को भली प्रकार समझ सकता है और उनकी आवश्यकताओं को महसूस कर सकता है। उसको किसानों के उद्देश्यों का भी ज्ञान होता है और ग्रामीण–जीवन के अभावों का भी। सरकारी सेवाओं का अनुवंशक या क्रम–परम्परागत संगठन, जैसा कि आजकल है, और जिसका निर्माण अधिकतर शहरी समाज की संतानों, दुकानदारों, साहूकारों, किराये की राशि पर निर्भर करने वालों से हुआ है, अपने सुन्दर इरादों के बावजूद, कृषि–प्रधान इस प्रदेश का शासन, जनहितों की रक्षा करते हुए नहीं चला सकता। इन वर्गों से आया अधिकारी साधारण वर्ग के समाज के साथ घुलमिल नहीं सकता और न उसके दुःख–दर्द की नब्ज को जान सकता है। गांव के रहने वाले आदमी या किसान की भावनाओं के साथ उसको कोई सहानुभूति नहीं होती। उसके समस्त हित तथा सहानुभूतियां दूसरी ओर होती हैं। ये अचेतन रूप से ही उसको ऐसा दृष्टिकोण अपनाने के लिए अनुप्रेरित करती हैं। अतः वह उसी वर्ग के हितों की रक्षा करता है, जिससे वह स्वयं आया हुआ होता है। उक्त वर्ग से आये किसी अधिकारी अथवा विधायक से यह आशा करना कि वह समस्याओं के ऐसे सही समाधान की बात सोचेगा, जिसका परिणाम उसके वर्ग–हितों की हानि हो अथवा उनको बहुत बुरी तरह प्रभावित करता हो, मानव मस्तिष्क पर अधिक बोझ डालना होगा। उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री माननीय सम्पूर्णानंद जी के इस विचार से मुझे बल मिलता है। वह कहते हैं– "न्यायाधीश तथा विधान–निर्माताओं को इरादतन अनुचित होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य होने के नाते, वर्ग–हितों तथा जातीय सम्बन्धों द्वारा उन पर लगाई गई सीमाओं से ऊपर उठ सकना उनके लिए असम्भव होगा।" (व्यक्ति और समाज, पृष्ठ १२१–१२२)

जिन लोगों को कानूनी अदालतों का थोड़ा–सा भी अनुभव है, वे समाज के विभिन्न वर्गों से आये न्याय–अधिकारियों के रवैये तथा आचरण का अन्तर, अपने वर्ग के संदर्भ में पूरी तरह जानते हैं। समान परिस्थितियों वाले मुकदमे में ताल्लुकेदार अथवा साहूकार परिवार से आये न्यायाधीश की प्रतिक्रिया कृषि परिवार के न्यायाधीश से बहुत भिन्न होती है। जिन लोगों के पास देखने के लिए आंखें हैं, वे "दि पंजाब पीजेन्ट इन प्रोस्पेरिटी एण्ड इन डैब्ट" (डार्लिंग, १९३२) के लेखक के साथ पंजाब के सिविल कोर्ट्स द्वारा की गई बरबादी पर अवश्य दुखी होंगे। इन कोर्ट्स पर ऐसे लोगों का अधिकार था, जिनका अधिक जीवन शहरों में व्यतीत हुआ था और जो गांवों के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे और वे प्रायः सूदखोरों का पक्ष, यदि उनके साथ उनकी रिश्तेदारी नहीं है तो सजातीय होने के नाते, लिया करते थे। न्यायालयों में, विशेषतः माल के मुकदमों में, किसानों को मालूम होता था कि उनका विरोधी पल्ला बहुत भारी है, यह निश्चित है कि गैर–किसानों ने अपने वर्ग–हितों की रक्षा के लिए शासन चलाया है। मैं इस तर्क को, 'ब्रिटिश लीगल जरनल' के एक उद्धरण से पुनः प्रमाणित करना चाहूंगा–

> "यह मान्यता बड़ा बल पकड़ती जा रही है कि यदि न्यायाधीशों को अपना कार्य संतोषजनक तरीके के साथ करना है, तो उनको उस कानून का, जिसको वे लागू करते हैं, केवल व्यावहारिक ज्ञान ही नहीं होना चाहिए, वरन् जिन लोगों के मुकदमों का फैसला वे करते हैं, उनकी परेशानियों तथा समस्याओं की जानकारी भी होनी चाहिए। यह कहा जाता है कि कृषि–प्रधान जिले के न्यायाधीशों की एक बेंच, किसी खदान वाले शहर एवं किसी औद्योगिक केन्द्र पर वर्तमान परिस्थितियों को समझने में असफल हो सकती है, और समान रूप से शहर के आदमी कृषि–समुदाय की समस्याओं को समझने में चूक कर सकते हैं।"

ऊपर के निष्कर्ष गैर–न्यायिक अधिकारियों के विषय में भी सही हो सकते हैं। अनावृष्टि, बाढ़ अथवा ओलावृष्टि के कारण हुई बरबादी के विषय में नहर तथा माल–विभाग के कृषि–उद्गम तथा गैर–कृषि–उद्गम वाले अधिकारियों द्वारा समान परिस्थितियों में पेश किए गए माफी के तखमीनों को देखने का यदि कोई कष्ट करे, तो उसको चौंका देने वाले अन्तर दिखाई पडेंगे। गैर–कृषि–उद्गम वाले लोग किसानों की दुर्दशा को देखने वाली आंख नहीं रखते। उनका आर्थिक आधार, उनकी सम्पूर्ण मानसिक सर्जना, सही तस्वीर पेश करने में बाधक बन जाती है। सरकार

का कृषि–विभाग असफल क्यों रहा है? इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण इस तथ्य में छिपा हुआ है कि इसके अधिकारी प्रायः ऐसे लोग रहे हैं, जिनके परिवारों का कई पीढ़ियों तक, खेती के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, साथ ही जिनके लिए इस विभाग में आने से पहले कृषि एक सीलबन्द किताब के समान थी और यही करण है कि वे लोग अयोग्य कृषि–विशेषज्ञ रहे, उर्वर कल्पना रहित और सहानुभूतिहीन अधिकारी बने रहे। कृषि विभाग में ऐसे अधिकारी मौजूद हैं, जो गेहूं तथा जौ के पौधे में अन्तर नहीं कर सकते और नहर–विभाग में ऐसे अधिकारी हैं, जो यह नहीं जानते कि किस समय और किस फसल में कितनी बार पानी देना चाहिए? यही बात को–ऑपरेटिव तथा ग्रामीण विकास विभाग की अनेक शाखाओं की विभिन्न कार्यवाहियों के विषय में कही जा सकती है और यह देख कर दुःख होता है कि १९३७ में कांग्रेस–मंत्रिमंड़ल का शुभागमन भी इस स्थिति में कोई सुधार नहीं ला सका। यह नितांत लाभदायक हो सकता है, यदि हम शीघ्रातिशीघ्र यह समझ लें कि केवल वही व्यक्ति, जिसकी जड़ें देहात में हैं, उन तथा अन्य विभागों को सफल तथा सार्थक बना सकता है। अतः एक व्यक्ति के लिए ग्रामीण जीवन में अभिरुचि होना, सरकारी–सेवा में चयन के लिए एक मानदंड बन जाना चाहिए और सेवा में संलग्न व्यक्ति की योग्यता की कसौटी का भी यही आधार माना जाना चाहिए। माननीय कैलाशनाथ काटजू, मंत्री जस्टिस एवं को–ऑपरेटिव, द्वारा उत्तर–प्रदेश के लिए बनाई गई को–ऑपरेटिव योजना पर टिप्पणी करते हुए मि० श्रीधर मिश्र एम. ए., एम. कॉम. २९ दिसम्बर १९४६ के 'लीडर' में इस प्रकार लिखते हैं–

> "अन्त में यह कहा जा सकता है कि को–ऑपरेटिव विभाग में व्यक्तियों के चयन की प्रणाली में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। शहर के साहब लोग, जो सम्भवतः देहात में कभी पिकनिक, अथवा स्थान–भ्रमण तथा ग्रामीण अंचल देखने के उद्देश्य से भले ही गये हों, वे शैक्षिक दृष्टि से कितने ही योग्य भले ही हों, देहात के लोगों की परेशानियों को नहीं समझ सकते, न उनका विश्वास एवं समर्थन पा सकते हैं। देहात में संलग्न समाज–सुधारक के लिए यही नितांत आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण गुण है। अतः इन सेवाओं के लिए चयन पूरी तरह उन लोगों में से किया जाए, जिनका सम्बन्ध देहात के क्षेत्रों के साथ है और जो अब तक ग्राम–जीवन के साथ अपना सम्पर्क कायम किये हुए हैं। ये ही वे व्यक्ति हो सकते हैं, जो किसी भी ग्राम–पुनर्गठन–आन्दोलन के लिए ग्रामीण समाज में बिना किसी शंका–संदेह तथा विरोधी भावना उत्पन्न होने का मौका दिये, आन्दोलन के प्रति अनुकूल चेतना पैदा कर सकते हैं।"

मेरी दृष्टि में यह मत कि एक व्यक्ति के विचारों का निर्माण उसकी आय के स्रोतों के आधार पर होता है, उस समय अन्तिम रूप से निश्चित हो जाता है, जब यह कहा जाता है कि विगत पंजाब लेजिस्लेटिव असेम्बली के, गैर–कृषि–वर्ग अथवा शहरी क्षेत्रों से आए–कांग्रेस–दल के समस्त सदस्यों ने, मौलाना अबुल कलाम आजाद के स्पष्ट निर्देशों के बावजूद, बंधक–भूमिवापसी तथा कृषि–विपणन विधेयकों को समर्थन नहीं दिया। अपने आपको जन–सेवक तथा कांग्रेसी कहने वाले लोगों का जब यह हाल है, तो उन लोगों से क्या आशा की जा सकती है, जो न तो जन–सेवक हैं और न कांग्रेस–जन, और जो प्रायः विभिन्न विभागों में नौकरियां प्राप्त कर लेते हैं तथा उनका जीवन में एक सुनिश्चित उद्देश्य केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति एवं चेतन तथा अचेतन रूप से अपने समुदाय के हितों की रक्षा करना होता है।

इस समय, जबकि हमारे नेताओं ने ग्रामों को पुनर्जीवित करने तथा किसान एवं श्रमिक–राज्य स्थापित करने का इरादा किया है, इस हालत पर विचार कर लिया जाए। मार्क्स ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि 'जो वर्ग राज्य पर शासन करता है, वह हमेशा अपनी शक्ति का प्रयोग अपने वर्ग–हितों की रक्षा के लिए करेगा'। यद्यपि एक सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में यह विचार असत्य हो सकता है, क्योंकि इस संसार में शाश्वत सिद्धान्त प्रायः नहीं होते, फिर भी मार्क्स का मत एक बड़ी सीमा तक सत्य है।

यह कथन स्वयं–सिद्ध है कि सरकार के विचार एवं नीतियों की कार्यरूप में परिणति उनसे अनुप्राणित व्यक्तियों के माध्यम से ही हो सकती है। सच बात यह है कि उद्देश्य की पूर्णता के लिए भावना का महत्त्व है, शब्दों का नहीं; शब्दों को आसानी के साथ तोड़ा–मरोड़ा जा सकता है। एक अफसर के अधिकार को, भले ही अनेक परिपत्रों, कानूनों तथा उप–कानूनों द्वारा सीमित करने का प्रयास करें, फिर भी अपने विवेक से काम करने की काफी गुंजाइश उसके पास बची रहती है। इस बात को तुरन्त स्वीकार किया जा सकता है कि एक अधिकारी का विवेक प्रायः उसकी मानसिकता तथा वैयक्तिक सम्पर्कों से अनुशासित होता है। उसकी अभिरुचियां अथवा पक्षधरता, चेतन अथवा अचेतन रूप में, उसके अपने या अपने समुदाय के हितों से अनुप्रेरित होते हैं। इन वैयक्तिक अथवा वर्ग–सम्पर्कों की संकीर्ण चेतना के फलस्वरूप, वर्तमान सरकार तथा अतीत की अनेक सरकारों द्वारा, दुर्दशा में फंसी जनता को मुक्ति दिलाने के लिए जो प्रयास किये गये थे, वे प्रायः व्यर्थ हो गए। इसलिए एक लोकप्रिय सरकार को यह शोभा देता है कि वह केवल ऐसे व्यक्तियों

को नियुक्त करे, जो उसकी आकांक्षा तथा अभिलाषाओं को निष्ठापूर्वक जनसमाज तक पहुंचा दे। तात्पर्य यह है कि यहां से आगे—विशेषतः इस कृषि—प्रधान देश में—ग्रामीण मानसिकता वाले व्यक्तियों को अधिक मात्रा में सरकारी नौकरियों में स्थान दिया जाए।

यदि सार्वजनिक सेवाओं में ग्रामीण क्षेत्रों से आये व्यक्तियों की संख्या बढ़ाई जाती है, तो केवल राज्य का प्रशासन ही वांछित भावना के अनुरूप न चलेगा, वरन् उसकी कार्यकुशलता भी बढ़ जायेगी। इससे उसको चारित्रिक दृढ़ता तथा दृष्टि भी मिलेगी, जो किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि किसान—पुत्र जिस वातावरण में पलता है, उससे उसको दृढ़ मांसपेशियां, एक आन्तरिक स्थायित्व, चेतना की मजबूती और प्रशासन की क्षमता प्राप्त होती है। इनको प्राप्त करने का शुभावसर गैर—किसान—संतान अथवा शहरी नागरिक को नहीं मिलता। खेती एक ऐसा व्यवसाय है, जहां प्रकृति के साथ संघर्ष में एक किसान को धैर्य एवं अध्यवसाय के पाठ रोजाना पढ़ने पड़ते हैं, फलतः उसमें दृढ़ता तथा सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। इससे एक ऐसे चरित्र का निर्माण होता है, जो किसी अन्य व्यवसाय से नहीं हो सकता।

एक किसान—पुत्र में निश्चयों को मूर्त—रूप देने की शक्ति और दृढ़ता होती है, जिसका अभाव प्रायः गैर—किसान सन्तानों में देखने को मिलता है। किसान के बेटे का हाथ तथा दिल, विपत्ति के समय में कांपेगा नहीं, पर शहर के कोमल व्यक्ति डगमगा सकते हैं। किसान का बेटा अपने शहरी साथी ऑफिसर की समता में, अधिक साधारण, कम बनावटी एवं ऐश तथा आराम का कम अभ्यस्त होता है। अतः किसी आदेश के प्रसारण में ही नहीं, बल्कि उसको पूरा करने की सीमा तक उस पर विश्वास किया जा सकता है। वह धोखा देना नहीं जानता और न सफलतापूर्वक धोखा दे सकता है, क्योंकि उसका तथा उसके पिता का बचपन ज़मीन, पेड़—पौधों तथा पशुओं के साथ व्यतीत हआ था, जो कभी झूठ नहीं बोलते. जबकि एक गैर—कृषक तथा उसका बेटा अपनी जीविका—अर्जन के कार्य में, ऐसे लोगों के सम्पर्क में आता है, जो एक—दूसरे से आगे निकलने की स्पर्धा में झूठ बोलते हैं तथा छल—कपट का व्यवहार करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि शहरी नागरिक की संतान की अपेक्षा किसान का बेटा भ्रष्टाचार के मार्ग पर कम बढ़ता है, क्योंकि उसके जीवन—निर्वाह का स्तर सामान्य होता है, उसके आराम का तरीका भी सहज है और उसका काम थोड़े से धन से चल जाता है। आराम तलब वातावरण में पले शहरी व्यक्ति को, जीवन—दिर्वाह के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है। किसी तर्क में जीतना कठिन कार्य हो सकता है, किन्तु सही आलोचना

का जवाब 'अमेरिकन बिजनेस मैन्ज कमेटी ऑन एग्रीकल्चर' के विचार से दिया जा सकता है। इस नाम से ही ज्ञात होता है कि इस कमेटी में कोई किसान नहीं था। इस कमेटी का विचार इस प्रकार है—

> "सामाजिक दृष्टि से देहाती जीवन में वे अनेक क्षमताएं हैं, जो अन्य किसी से उपलब्ध नहीं हो सकतीं, सम्भवतः यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं हुई कि देहात के वातावरण में विकसित मानव, शहरी वातावरण में विकसित व्यक्ति से अधिक अच्छा है, यद्यपि इस बात की सच्चाई में संदेह की गुंजाइश कम है।" (पृष्ठ १५२)

इसके लिए, मैं एक अन्य निर्दोष प्रमाण—पत्र प्रस्तुत करना चाहता हूं— लंदन में बढ़ती हुई आबादी का अध्ययन करते हुए सर हरवर्ट लैवल्यू स्मिथ ने आधी शती से पहले कहा था, देहात से शहर में आने वाला व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से विशाल होता है और उनकी नितांत कीमती मानसिक योग्यताओं का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि विशेष प्रतिष्ठा तथा विशेष दायित्वपूर्ण नौकरियों के लिए लंदन में देहाती क्षेत्र से आया व्यक्ति अधिक पसन्द किया जाता है।

"लंदन को सशक्त तथा मजबूत देहात से उमड़ने वाला जनसमाज बनाए हुए है। बड़े—बड़े शहरों में, जीवन की विषम परिस्थितियों का परिणाम है कि मांसल शक्ति तथा क्षमता क्षीण हो जाती है। लंदन—निवासियों की दूसरी पीढी है कि कम—से—कम वे लोग, जो वर्ग—संघर्ष में विश्वास करते हैं और जिन्होंने हमेशा किसानों तथा मजदूरों के हितों का समर्थन उनके शोषकों के विरोध में किया है, उनको इस समेत ऐसे सभी कदमों का समर्थन करना चाहिए जो जनता के हितों की रक्षा करते हैं। जन्म के स्थान पर पेशे पर बल देने से, आधुनिक शक्तियों के विकास को आधार मिलता है। समाजवादी में संदेह करने वालों को विश्वास दिलाने के लिए मैं सोवियत संघ का उदाहरण दे सकता हूं। वहां जून १९३१ तक बुद्धि जीवियों—इंजीनियर्स, डॉक्टर्स, कालिज—प्रोफेसर, स्कूल—अध्यापक, जो सरकारी सेवाओं में थे और जिनको नागरिकता भी प्राप्त थी, उनके बच्चों के विश्वविद्यालयों में दाखिले, किसानों तथा मिल—मजदूरों के बालकों के दाखिले हो जाने के बाद ही होते थे।

न तो यह लाभकर होगा, न सामयिक और न न्यायोचित कि सरकारी प्रशासन पर गैर—कृषक समुदाय के सदस्यों तथा शहरी लोगों का एकाधिकार हो। प्रजातन्त्र का तात्पर्य हर स्थान पर आम लोगों की सरकार का होना होता है, यह कुछ वंशानुगत शासक जातियों तथा वर्गों का अधिकार नहीं। इसलिए विभिन्न आर्थिक और सामाजिक पेशों वाली

जातियों के दावों को समानता तथा बराबरी की कसौटी के आधार पर संगत बनाना होगा, अन्यथा इनमें कटुता बनी रहेगी और वह निरन्तर विकसित होती रहेगी।

मेरे आलोचक यह चोट कर सकते हैं कि जब तुम हलवाहों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण का प्रस्ताव करते हो तो बढ़ई तथा बुनकर आदि के लिए मौन क्यों हो? यह आलोचना हास्यास्पद है। प्रशासकीय सुविधा का कोई सिद्धांत न तो शाश्वत होता है और न हर प्रकार के तथ्य तथा परिस्थितियों पर लागू होने वाला होता है। ऐसी कोई बात नहीं होती, जिसकी यदि खींचतान की जाए तो वह हास्यास्पद न बन जाए? और यहां देहात तथा कृषक के लिए आरक्षण के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया, वह इस आम सिद्धांत का अपवाद नहीं है। यथार्थ में किसान ही जन–समाज के प्रतीक हैं, ऊपर वर्णित पेशों के व्यक्ति नहीं। सच्चाई यह है कि सम्पत्तिशाली तथा उच्च–वर्ग के लोगों से सरकार भरी है। जैसा कि स्पष्ट दीख पड़ता है, किसान जितना पाने का अधिकारी है, मैं उससे अधिक का दावा नहीं कर रहा हूं, यदि आरक्षण के दावे को स्वीकार कर लिया जाए, तो इससे किसी की हानि नहीं होती। बाकी के बचे ५० प्रतिशत में, अन्य लोगों को अपना मौका तलाश करना चाहिए। (मैं यह कहूंगा कि कृषि तथा को–ऑपरेटिव विभागों का नियंत्रण शुद्ध रूप से किसानों की संतान के हाथ में होना चाहिए)। इस सम्बन्ध में, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता है, तो उससे भविष्य में लोगों का चयन प्रभावित होता है और नौकरियों के ढांचे में पचास तथा साठ प्रतिशत का अनुपात प्राप्त करने में एक पीढ़ी की खपत हो सकती है।

सिद्धांतशास्त्री यह तर्क कर सकते हैं कि जीविका के पेशे योग्यता, केवल योग्यता के लिए खुले हों। किसी वर्ग के पक्ष में आरक्षण से योग्यता पर सदैव प्रहार होता है, क्योंकि इस प्रकार योग्यतम व्यक्तियों की भर्ती अवरुद्ध हो सकती है और प्रजातंत्र का यह निचोड़ है कि समस्त लोगों के साथ पूर्ण समता का व्यवहार किया जाए। इसका हमारे पास यही उत्तर है कि योग्यता केवल शिक्षा तथा किताबी ज्ञान में ही निहित नहीं होती और व्यक्ति की श्रेष्ठता अथवा हीनता का मापदंड उस कार्य की सम्पन्नता होना चाहिए, जो उसे पूरा करने के लिए सौंपा गया है, किसी समान स्तर वाले प्रश्न–पत्र से हल किए गए प्रश्नों के उत्तर नहीं। इसके साथ ही सार्वजनिक सेवाओं के मामले में सभी को समान, उस अवस्था में समझना चाहिए, जबकि समाज या लोकतंत्र वाली सरकार ने प्रगति की दिशा तथा शिक्षा में सबको समान सुविधाएं प्रदान कर दी हों। यह घोर अन्याय होगा

कि पहले तो विशाल जनसमूह को विकास तथा ज्ञान से वंचित रखा जाए और फिर अयोग्यता के बहाने से, उसके सरकारी सेवाओं से बाहर रहने को उचित ठहराया जाए।

समान शैक्षिक स्तर की बात उसी हालत से न्यायोचित हो सकती है जब सबको समान सुविधाएं प्रदान की गई हों। योग्यता के साथ चिपके रहने वालों को यह समझ लेना चाहिए कि जिसे 'शैक्षिक योग्यता' कहा जाता है, मैं उसकी पूर्ण उपेक्षा का समर्थन नहीं करता, केवल न्यूनतम शैक्षिक योग्यता रखने वाले कृषकों को नौकरियों में स्थान दिया जाए। यहां पर यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि कुछ क्षेत्रों में यह विश्वास घर कर गया है कि आवश्यक शैक्षिक योग्यताओं से सम्पन्न ग्रामीण इलाकों के युवक भी नौकरियों के लिए उपलब्ध न हो सकेंगे। पहले तो यह विश्वास निराधार है, दूसरे यदि ऐसे युवक न मिलें तो उन स्थानों को अन्यों द्वारा भर देना चाहिए। मैं यह कह सकता हूं कि किसान–वर्ग के योग्य उम्मीदवारों के अभाव का तर्क, उत्तर प्रदेश के पूर्वी तथा मध्य भाग से परिचित व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है, जहां यथार्थ में किसान आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है, जहां सीधे स्वर्ग से उतरे ऊंची जाति के हिन्दुओं द्वारा शारीरिक श्रम को घृणाभरी दृष्टि से देखा जाता है। यही कारण है कि यहां खेत जोतने वाला व्यक्ति, पश्चिमी भाग की अपेक्षा, द्वितीय श्रेणी के लोगों से भी हीन माना जाता है।

किसानों के लिए नौकरियों में आरक्षण के सवाल पर एक विरोध यह किया जा सकता है कि कुछ मामलों में यह प्रस्ताव अव्यावहारिक इस अर्थ में है कि बहुत से संदर्भो में यह निश्चय नितांत कठिन होगा कि विशिष्ट प्रत्याशी किसान की समता में निरन्तर काम करने की उसकी क्षमता कम है और तीसरी पीढ़ी दूसरी की अपेक्षा हीन है।"

एक दूसरा तर्क भी है। ज़मीन जोतने वाला ही कर–भार को ढोता है, क्योंकि सम्पति का वह एकमात्र उत्पादक है, अस्तु, समस्त कर अंततः उसके सिर पर ही पड़ते हैं। जहां तक सीधे करों का प्रश्न है, उसे भूमि–राजस्व, लगान तथा आबपाशी–कर राज्य सरकार को देना पड़ता है। उक्त राशि के भुगतान होने के बाद, उस पर कुछ फालतू नहीं छोड़ा जाता और उसके पास ज़मीन केवल पांच बीघा तक ही रहती है। दूसरी ओर गैर–किसान को केन्द्रीय सरकार को आयकर देना पड़ता है, बशर्ते कि उसकी आमदनी २०००० रु० प्रतिवर्ष से अधिक हो। दोनों के भार का अन्तर इतना प्रामाणिक है कि उसके विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। यह घोर अन्याय उस समय अधिक बढ़ जाता है, जिस समय यह

बात सामने आती है कि अन्ततः किसान से वसूले धन का आधिक हिस्सा, वेतन के रूप में, उनकी जेबों में चला जाता है, जो उसकी अपनी सन्तान नहीं हैं। इस प्रकार, एक रूप से किसानों के खेतों से चूसा गया पानी उसके गांव की ओर न जाकर उपजाऊ वर्षा के रूप में शहरों की ओर चला जाता है। इस स्थिति में यह दावा करना क्या बेतुका माना जायेगा कि किसानों से करों के रूप में वसूला गया पैसा, उनके बेटों के वेतन के रूप में, उनको लौटा देना चाहिए।

सरकारी नौकरियों में किसान–सन्तानों के आरक्षण के प्रश्न का औचित्य इस बात से भी न्यायोचित प्रतीत होता है कि वे शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं, बल्कि राज्य तथा समाज उत्तरदायी है। प्राइमरी स्कूलों के अतिरिक्त सभी शिक्षा–संस्थाएं शहरों में होती हैं। इन संस्थाओं में गैर–कानूनी फीसें ली जाती हैं और इसके अलावा शहरों में भोजन तथा आवास की व्यवस्था बड़ी खर्चीली होती है, जो किसी प्रकार गुजारा करने वाले ग्रामीण किसान की आर्थिक क्षमता से परे होती है। यद्यपि, माध्यमिक स्तर तक शिक्षा निःशुल्क तथा राजकीय दायित्व होनी चाहिए। इन संस्थाओं में भी देहात के छात्रों के दाखिले उसी हालत में होते हैं, जब पहले शहर से आये बालकों के हो जाते हैं। यहां तक कि कानपुर का कृषि–कॉलिज, जिसकी स्थापना ही ग्रामीण तथा किसान–सन्तानों के हितों की रक्षा के लिए की गयी थी, इस बात का अपवाद नहीं है। ऐसा क्यों है? और इससे हमको आरक्षण के पक्ष में एक तर्क और प्राप्त हो जाता है। एक बात और उल्लेखनीय है, ग्रामीण बालकों को परीक्षा में प्रतिशत प्रदान करने की शक्ति भी १०० में से ९० फीसदी तक गैर–कृषक तथा शहरी व्यक्तियों के हाथ में होती है। तमाम महत्त्वपूर्ण स्थान उन लोगों की मुट्ठी में हैं, जिनका खेतिहर किसानों के साथ न कोई सम्बन्ध है, न उनमें कोई रुचि। उदारता का प्रारम्भ सदैव ही घर से होता आया है। जिनके हाथ में किसी के साथ पक्षपात करने की क्षमता है, वे अपने रक्त के सम्बन्धियों अथवा आर्थिक हितों से सम्बद्ध व्यक्तियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करेंगे। परिणामतः किसान–पुत्र के पास नौकरी पाने के लिए इस प्रकार के सम्बन्धों का अभाव है, यह सुविधा अन्यों को प्राप्त है। प्रायः यह देखा गया है कि कम योग्य व्यक्ति को नौकरी मिल जाती है, क्योंकि ग्रामीण की सन्तान किसी ऊंचे स्थान पर बैठे व्यक्ति की सिफारिश पाने में असमर्थ रहती है। अतः खुली प्रतियोगिता की यह पद्धति, कई मामलों में, सार्थक नहीं है। इसका सत्य के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है, अतः इसको समाप्त हो जाना चाहिए।

इन्हीं कारणों की वजह से मैं प्रदेश के प्रशासन में उस वर्ग के आरक्षण

की बात करता हूं, जिसको अभी तक अपने उचित अनुपात से बहुत कम भाग प्राप्त हुआ है और जिसका मसला अभी तक उपेक्षित रहा है।

जो लोग इस प्रस्ताव के विरोधी हैं, वे यह कह सकते हैं कि कृषक–वर्ग परम्परा से ही कुछ निश्चित जातियों से भरा हुआ है, अतः उनके आरक्षण का अर्थ कुछ जातियों के लिए आरक्षण होना है और यह एक रूप में, साम्प्रदायिक कार्य होगा, जिसको बढ़ाने की अपेक्षा घटाना चाहिए। यथार्थ में, इस प्रस्ताव को साम्प्रदायिक कहना लोगों को अंधकार में रखना है। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व यथार्थ में धर्म तथा जन्म के आधार पर निश्चित हुई जाति पर आधारित होता है। यदि कोई चाहे तो इसको व्यावसायिक, वृत्तिमूलक अथवा पेशापरक प्रतिनिधित्व पुकार सकता है, किन्तु कल्पना के किसी भी छोर तक इसको साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। जहां तक मनुष्य एक इन्सान है, वहां तक एक व्यक्ति में दूसरे से अन्तर अवश्य रहेगा। विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों में अन्तर का होना मानव–समाज का स्वाभाविक विकास है। मानव समाज को एक निर्जीव समता की स्थिति में नहीं लाया जा सकता और ऐसी पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास भी वांछनीय नहीं है। इसका निर्णय हमको करना है कि क्या हम अपने समाज की संरचना अथवा अपने प्रदेश या राष्ट्र के प्रशासन में धर्म अथवा जाति को, आदमी तथा आदमी अथवा उसके कार्य एवं आर्थिक हितों के बीच, निर्णायक एवं विशिष्ट आधार मानने के लिए तैयार हैं अथवा नहीं? जन्म पर आधारित जाति का युग समाप्त हो गया है, इसका अन्त हो ही जाना चाहिए। प्रारम्भ में भी जाति का निश्चय कार्य या पेशे के आधार पर होता था, बहुत बाद में आकर वह रूढिबद्धता को प्राप्त हुई और जन्म के साथ सीमित हो गई। यह सामान्य विचार का विषय है कि लोग अपनी वंशानुगत जाति तथा धर्म के बिल्ले के वावजूद, यदि समान जीवन परिस्थितियों वाले वातावरण में पलते हैं, तो समान रूप से आचरण करते हैं और अपने समान आर्थिक सम्बन्धों के कारण विशेष व्यवसाय के अनुरूप एक–सी मनोवृत्ति विकसित कर लेते हैं। मेरा विश्वास का पुत्र है अथवा नहीं? क्योंकि अनेक लोग, जो शहरों में रहते हैं या कोई व्यवसाय करते हैं, पटवारी के रजिस्टर में कृषक लिखे हुए हैं। इस एतराज पर मेरा उत्तर इस प्रकार है– जनगणना के समय जिन लोगों ने अपना सहायक–पेशा खेती लिखाया है, वे आठ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं, दूसरे चयन–अधिकारियों की सुविधा के लिए नियम बनाए जा सकते हैं और अनुभव के आधार पर उनमें संशोधन भी किया जा सकता है।

दुनिया के हर देश के राजनीतिज्ञों को अपने देश के प्रशासन में अनेक

समस्याओं का सामना करना पड़ा है और उनका संतोषजनक समाधान भी कर लिया गया है। पंजाब की सरकार के सामने, जिस समय सन् १९३८ में उसने सरकारी नौकरियों में किसानों के लिए आठ प्रतिशत का आरक्षण किया था, यह कठिन समस्या थी कि किसी व्यक्ति की जाति तथा धर्म के आलोक में उसके किसान होने का निश्चय कैसे किया जाए। मुझे आशा है कि संयुक्त–प्रदेश की सरकार वह भूल नहीं दुहरायेगी और किसानों के साथ न्याय करते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना के प्रकाश में, इस समस्या का समाधान खोज लेगी।

मैं जानता हूं कि देहाती वर्ग, शहरी समाज और इस प्राचीन देश के अन्य सभी वर्ग, अच्छाई तथा बुराई के कामों में, सभी एक साथ हैं और केवल अपराध की भावना उनमें ईर्ष्या पैदा करती है, लेकिन देहात तथा किसान–समाज, जो हमारे पूर्वजों के बलवान स्वास्थ्य का प्रतीक है और राष्ट्र की युवा–शक्ति को जन्म देने वाला है, को किसी भी बहाने के आधार पर देश के प्रशासन में समुचित भाग एवं अन्य शक्ति और अधिकारों से वंचित कर देना, मैं असल में एक बहुत बड़ा अपराध मानता हूं। इसका कारण यह है कि सार्वजनिक–सेवाएं जन–समाज के लाखों व्यक्तियों की समस्याओं का समाधान तो करती ही हैं, साथ ही ये राजनीतिक शक्ति तथा प्रभुत्व के अस्त्र भी बनती हैं। मेरी यह बात राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधा नहीं, वरन् उसको अधिक बढ़ाने वाली है। तमाम व्यक्तियों को यह समझ लेना चाहिए कि प्रशासनतंत्र नगर निवासियों अथवा गैर–कृषक–समाज के लिए एक किला एवं सुरक्षित स्थान नहीं है और जीवन की अन्य अच्छी चीजें तथा शिक्षा केवल कुछ लोगों के एकाधिकार का क्षेत्र नहीं हैं, बल्कि वह ज़मीन से पैदा हुए प्रत्येक व्यक्ति की मिली–जुली विरासत हैं।

यह भी हो सकता है कि जबान के तेज, पक्के लोकतंत्रवादी अथवा दूसरे लोग, इस सिद्धांत के विरोध में कोई और तुरप चल दें। मैं केवल यह कह सकता हूं कि किसानों के न्यायसंगत दावे बहुत दिनों से सम्पत्ति शाली तथा शिक्षित वर्ग, जो विशेष अधिकार प्राप्त तथा गैर–कृषक है, के हितों के नीचे कुचले जाते रहे हैं। यह भी सत्य है कि किसान ही प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा करता है, अपने कन्धों पर प्रांतीय प्रशासन के समस्त भार को वहन करता है। उन सभी लोगों को, जो इस प्रदेश के भाग्य–विधान में थोड़ा भी अधिकार रखते हैं और जिनके दिलों में किसान–वर्ग के हितों के प्रति लगाव है, अपने प्रभाव का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि सार्वजनिक–सेवाओं में चयन के मामले में किसान के साथ न्याय हो। 'ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट' का लेखक एक अन्य सम्बन्ध में लिखता है, "इस प्रकार के कदम के अभाव में, किसानों के हितों के

पक्ष का कथन अविश्वास तथा संदेह की दृष्टि से देखा जा सकता है।" 'इण्डियन पीजेंट्स' के लेखक डॉ० डी० एन० गंगोली, जो 'रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर' के सदस्य थे, उसी स्वर में शिकायत करते हैं–

> "इस देश की राजनीति पर शहरी वर्ग का आधिपत्य है। देश में किसान की आवाज नहीं सुनी जाती, यद्यपि वह भारतीय जनता के ७५ प्रतिशत भाग का प्रतिनिधित्व करता है। किसान के प्रति प्रत्येक व्यक्ति शाब्दिक सहानुभूति दिखाता है। देहाती इलाके से आए कांग्रेस–जनों के एक भाग के अतिरिक्त कोई भी उसके हितों के विषय में चिंतित नहीं है।"

इस कथन से, मेरे प्रस्ताव को बल मिलता है और यह भी सिद्ध होता है कि मैंने एकदम कोई नयी तथा आश्चर्यजनक बात नहीं कही है। कांग्रेस सरकार ने अपने अल्पकालीन अधिकार के युग में कुछ विभागों में, दस में से एक स्थान, कुछ किसानों के लिए आरक्षित करने की बात स्वीकार की थी। यह आरक्षण बहुत थोड़ा है, दूसरे इसका दुरुपयोग होने के कारण प्रशासन पर कोई प्रभाव स्थापित नहीं कर पाया। यदि इसको घिसा–पिटा नहीं रखना है, यदि वह वास्तव में किसानों के हितों के लिए है, जिसकी वजह से हमारे नेताओं ने इस दिशा में सोचने का प्रयास किया था, तो मैं इस सिद्धांत के उत्कर्ष की वकालत करता हूँ।

इस प्रसंग का अन्त करते हुए, इतना कहूंगा कि मुख्यमन्त्री पं० गोविन्द वल्लभ पंत ने २९ जनवरी १९४७ को लखनऊ में विभागीय कार्यालयों की 'डवलपमेंट कॉन्फ्रेंस' का उद्घाटन करते हुए इस बात पर बल दिया था कि मनुष्य के कार्यों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हमारे राष्ट्र का निर्माण करने वाले विभागों की असफलता पर बोलते हुए आपने कहा था

> "हमारे विभाग प्रायः सीलबन्द हैं। प्रत्येक विभाग बनावटी वातावरण में काम कर रहा है। गरीब और गंवार कहलाने वाला किसान परस्पर विरोधाभासों से भरी अपीलों पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा है। मशीनवत् ये अपीलें अनेक लोगों द्वारा प्रसारित की गई हैं। इनमें से एक व्यक्ति भी उसके जीवन में हाथ बंटाने वाला तथा वास्तव में उसकी सेवा की भावना से अनुप्रेरित दिखाई नहीं पड़ता। आपको उसे विश्वास दिलाना पड़ेगा कि आप तथा मैं यथार्थ में उसके शुभचिंतक हैं और उसकी सेवा करने का विचार रखते हैं। जब तक आप यह काम नहीं कर लेते, तब तक हमारी समस्त अपीलें व्यर्थ जाएंगी, इनके पक्ष में कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। मुझे इस कथन के लिए क्षमा करेंगे कि

> अपने इन सफेद कॉलर, पैंट तथा हैट के साथ, आप सहज तथा स्वाभाविक अपील नहीं कर सकते। मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता हूं कि हमारे ऑफिसरों को गांवों की ओर जाना चाहिए और डाकबंगलों में ठहरने की बजाए किसानों के परिवार के साथ रुकना चाहिए। इससे उनको एक सीमा तक तकलीफें तथा असुविधाएं होंगी, किन्तु इससे उनका काम आसान होगा। यह एक बहुत मामूली, और छोटी बात है, किन्तु हम लोग यह जानने की कोशिश नहीं करते कि ये मामूली बातें एक व्यक्ति तथा समुदाय को अपनी हल न होने वाली समस्याओं के समाधान की दिशा में कितना प्रभावित करती हैं। आप एक स्विच दबाते हैं और देखते हैं कि मीलों तक रोशनी फैल जाती है, यहां भी यही बात है। यदि आप इस स्विच को ठीक तरह से प्रयोग कर लें, तो आप देखेंगे कि प्रकाश चारों ओर फैल रहा है और आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि आप कितनी आसानी के साथ उसकी बुद्धि तथा कल्पना को प्रभावित करने में समर्थ हो रहे हैं।"

मुख्यमंत्री जी ने ठीक स्थान पर इशारा कर दिया है। जिस बीमारी से हमारी सेवाएं रोगग्रस्त हैं, वह भली प्रकार पहचान ली गई है। लेकिन मैं सम्मानपूर्वक यह कहने का साहस करता हूं कि हमारे आफिसरों पर उनकी अपील का कोई प्रभाव नहीं होगा, क्योंकि वे जिस वर्ग से आए हैं अथवा जिसका पालन करते हैं और जिस वातावरण में रहते हैं, वह किसानों तथा देहातियों के विपरीत है। केवल वे ऑफिसर, जो किसानों द्वारा लपेटे जाने वाले कपड़ों में पले हैं, किसान के जीवन का अंग बन सकते हैं और उनके पास रात को ठहर सकते हैं। केवल वे अधिकारी, जो आर्थिक सूत्रों, सांस्कृतिक सम्बंधों और मनोवैज्ञानिक नजदीकीपन में उनके साथ हैं, वे ही ठीक सूत्रों को पकड़ सकते हैं और उस स्विच को दबा सकते हैं, जो उसके जीवन को आलोकित कर सकता है और उस अंधकार का निवारण कर सकता है, जिसने आज उनको चारों ओर से घेर लिया है। एक ग्रामीण तथा किसान के दिल को केवल वही जीत सकता है, जिसकी प्रतिक्रिया वस्तुओं के प्रति किसान के समान होती है, कोई दूसरा नहीं। इसलिए हमको एक कदम और आगे जाना पड़ेगा। हमें उपदेश देने की अपेक्षा, सार्वजनिक सेवाओं की नियुक्तियों की पद्धति को बदलना पड़ेगा।

६
जाति–प्रथा

यह लेख चौधरी चरणसिंह की पुस्तक 'इकॉनोमिक नाइटमेअर ऑफ इंडियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर' के अध्याय 'एपेंडिक्स' (उपसंहार) से उद्धृत है, जो कास्टिज्म (जातिवाद) उप–शीर्षक से लिखा गया है।

चौधरी साहब जीवन में जिन सामाजिक कुरीतियों के घोर विरोधी रहे उनमें से एक थी–जाति–प्रथा। उनके अनुसार जाति–प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण रही। जाति प्रथा से आक्रांत भारतीय समाज राजनीतिक एकता के अभाव में विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला एकजुट होकर नहीं कर सका। यही नहीं, भारतीय समाज आज भी जातीयता के अभिशाप से मुक्त नहीं हुआ है। चौधरी साहब ने इस लेख में जातिवाद के दुष्परिणामों का ब्यौरा विस्तार से दिया है।

हमारी सांस्कृतिक विरासत का प्रभावशाली भाग, जाति–प्रथा एक ऐसा रिवाज अथवा संस्था है जो बहुत पुरानी पड़ गई है। आज जाति–प्रथा हिन्दू मस्तिष्क के अंतःनिर्मित लक्षणों में से एक लक्षण है और यह लक्षण कुछ हद तक भारतीय है। जैसे–जैसे समय बीतता गया, जाति–प्रथा का प्रसार होता गया। प्राचीन उपदेश धुंधले पड़ते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज की चार जातियां, जिनकी कि आरम्भ में ही संकल्पना की गई थी और जो मानव के गुण, कार्य और अभिवृतियों पर आधारित थीं, सैकड़ों जातियों और हजारों उपजातियों में विभाजित हो गईं, जिनमें नव–दीक्षित व्यक्तियों ने हिन्दू आवरण में स्थान पा लिया। नयी जातियों के साथ क्रियात्मक कौशल को मिलाने का तरीका सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने का विलक्षण मार्ग था। इस प्रकार हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नवागन्तुक की आर्थिक स्थिति आश्वस्त हो जाती थी और यह स्थिति उस समय तक इस क्षेत्र में बनी रही, जब तक कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आर्थिक आधार स्थायी बना रहा। इस प्रथा ने कमज़ोर और असफल व्यक्ति के लिए सामाजिक बीमा जैसी सेवा की। समाज के प्रत्येक व्यक्ति

को बजाय इसके कि उसे भंवर में फेंक दिया जाए, समाज में अपने स्थान का ज्ञान था और उसके पास रहन–सहन का ऐसा साधन था, जो उसके अपने पड़ोसी की प्रवृत्तियों की पकड़ अथवा अनाधिकार हस्तक्षेप से सुरक्षित था। चार वर्गों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में कार्यों और शक्ति का विभाजन इस प्रकार किया गया था और एक वर्ग के हित अन्य वर्गों से इतने अलग थे कि समाज पर उनका नियंत्रण किसी भी वर्ग अथवा व्यक्तियों के दल के हाथों में एकत्रित नहीं हो सका, जैसा कि आज कम्युनिस्ट अथवा शुद्ध पूंजीवादी समाज में हो जाता है। जाति–प्रथा समाज के संगठन के प्रयत्न को परिलक्षित करती है, जिसके सिद्धान्त नियंत्रण, संतुलन, शक्तियों का विभाजन और सर्वसत्ता के विस्तार पर आधारित हैं।

परन्तु आज जाति–प्रथा भारतीय समाज को प्रत्यक्ष रूप से टुकड़ों–टुकड़ों में विभाजित कर रही है और यही जाति–प्रथा सामान्य आर्थिक प्रयत्न में बहुत बड़ी बाधा बन गई है। जाति की सदस्यता जीवन पर्यन्त रहने और विवाह के लिए एक साथी का पैतृक चयन, अपनी ही जाति के सदस्यों तक सीमित रह जाने और जाति से बाहर के लोगों द्वारा पकाए हुए भोजन का सेवन अथवा उनके साथ बैठकर भोजन करने पर प्रतिबंध लग जाने, यहां तक कि उन्हें स्पर्श करने पर भी प्रतिबंध लग जाने से जाति–प्रथा विभाजन और विखंडन के नियम पर आधारित जीवन के संगठन का आधार बनी हुई है, जिसके सम्बंध में किंग्सले ने इस प्रकार कहा है "जाति–प्रथा मानवीय इतिहास में परिचित सबसे सम्यक् प्रयत्न है, जिसने सामाजिक सम्बंधों के मार्गदर्शी नियम के रूप में नितांत असमानता प्रारम्भ की है।"[1] ऐसे समाज में सामुदायिक परियोजनाएं बेतुका विरोधाभास हो जाती हैं, जो सामुदायिक जीवन के सम्पूर्ण सिद्धान्त का बिल्कुल ही निषेध करती हैं अथवा यह समाज इन परियोजनाओं को एक बहुत ही संकीर्ण परिधि में सीमित कर देता है। एक प्रमुख चिंतन का उद्धरण देकर यह कहा जा सकता है, यह एक सुखद घटना ही है कि "सजीव और निर्जीव पूर्ण विश्व की एकता पर बल देने वाले भारत ने एक ऐसी सामाजिक पद्धति विकसित कर ली है, जिसने उसके देशवासियों को अलग–अलग उपखंडों में बांट दिया है। जाति–प्रथा ने उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया है। यह जाति–प्रथा पीढ़ी–दर–पीढ़ी अनन्त शताब्दियों से चली आ रही है और इसी प्रथा के कारण विदेशी आक्रमण सफल हुए

---

[1] 'पॉपुलेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमेरिका, १९५१, पृष्ठ १७०.

हैं जिसके फलस्वरूप भारत कमजोर और गरीब होता गया है।"

वंशानुगत व्यवसाय की संकल्पना क्रियाशील अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध स्वतंत्र अवसर, मुक्त प्रतियोगिता और वैयक्तिक गतिशीलता के विचार से बिल्कुल ही भिन्न है। यह तथ्य है कि जापान भारत की अपेक्षा जाति–प्रथा में कम रूढ़िवादी रहा। इसके साथ ही साथ वह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जापान अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से औद्योगीकृत हो सका। भारत में मनुष्य की जाति अपरिवर्तनीय है। यह जाति–प्रथा व्यक्ति को निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है अथवा आरोपित करती है और वस्तुतः कठिन परिश्रम द्वारा उन्नति की सम्भावनाओं को कम करती है। एक मनुष्य अपना धर्म बदल सकता है लेकिन अपनी जाति नहीं बदल सकता।

इसके अलावा जाति–प्रथा प्रत्येक हिन्दू मस्तिष्क में बचपन से ही ऊंच–नीच, उत्कृष्टता–निकृष्टता के बीज बो देती है और कतिपय जातियों के सदस्य होने का यदि किसी को लाभ है, तो अन्य जातियों के सदस्य होने से उसे हानि उठानी पड़ती है। जाति–प्रथा श्रम की प्रतिष्ठा की संकल्पना के विरुद्ध कार्य करती है। शारीरिक श्रम को अधम समझा जाता हैः यह अधिक सम्मानजनक स्थिति है कि पर्यवेक्षण के अलावा कुछ भी न किया जाए और दूसरे लोगों को कठिन परिश्रम करने दिया जाए। अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है कि "जिसके पास खेती है, उसे ही हल चलाना पड़ता है और इससे सम्बंधित अन्य शारीरिक कार्य करने पड़ते हैं।" लेकिन भारत के कतिपय भागों में कुछ ऐसी ऊंची जातियां हैं, जिनके सदस्य स्वयं हल भी नहीं चलाएंगे और उनकी स्त्रियां भी कभी दूध नहीं दुहेंगी। जो व्यक्ति बिल्कुल भी काम नहीं करते अथवा तुलनात्मक रूप से कम काम करते हैं वे सामाजिक स्तर में सबसे ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं और जो व्यक्ति अपेक्षाकृत सबसे अधिक काम करते हैं वे सामाजिक स्तर पर निचला स्थान प्राप्त करते हैं। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि यद्यपि हमें अपने पूर्वजों से अधिक कुछ सीखने को मिला है, फिर भी भारत इतना गरीब है।

यह जाति–प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण है। जाति–प्रथा से आक्रान्त समाज की कमजोरी विशाल क्षेत्र में राजनीतिक एकता को स्थापित नहीं करा पाती और वास्तव में किसी आक्रमण के समय हमें हतोत्साहित कर देती है, इसलिए भारत को शायद ही किसी विदेशी ने सैन्य–शक्ति का सहारा लेकर देश जीतने के विचार की आवश्यकता महसूस की हो।

उसने भारत को हाथ–पांव से सदैव बंधे हुए पाया है और भारतीय किसी भी विदेशी आक्रमण का बिना किसी संघर्ष अथवा थोड़े ही संघर्ष

से स्वागत करने के लिए तैयार रहे हैं। भारत को किसी भी विदेशी से द्वेष नहीं रहा है, क्योंकि उनमें देशभक्ति अथवा राष्ट्रीय एकता की कोई समझ नहीं रही है। कोई भी भारतीय नहीं था और इसलिए तर्क–सम्मत ढंग से कहा जाए तो कोई विदेशी नहीं था।

देशभक्ति के विचार उन देशवासियों अथवा व्यक्तियों की पूर्व–कल्पना करा देते हैं जो किसी ऐसे समुदाय में पाए गए हैं, जिसे एक बड़ा परिवार कह सकते हैं। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक होता है कि वे अपने देश को जन्म–भूमि अथवा जननी मानें। परन्तु यदि किसी समुदाय में हजारों जातियों और उपजातियों के लोग हैं जिनके कोई सामान्य तथा परस्पर जुड़े हित अथवा महत्त्वाकांक्षाएं नहीं हैं और कभी भी वे सामाजिक स्तर पर नहीं मिलते, तो देशभक्ति अथवा देशप्रेम ऐसे समाज में सरलता से जड़ नहीं जमा सकता।

यह सही है कि राष्ट्रीयता का प्रमुख लक्षण यह है कि उसका समान धर्म हो और उसके द्वारा उत्पन्न भाईचारे तथा सामान्य हित की समझ हो। सारे देश में हिन्दूवाद फैला हुआ था और इसी हिन्दूवाद में ऐसे पोषक तत्त्व थे, जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता का उदय हो सकता था। इसके बाद भी विदेशी आक्रमण, एक के बाद दूसरे, होते रहे और यह क्रम शताब्दियों तक बना रहा। इन सभी से मुख्य रूप से यह दबाव आया, जिससे सम्भवतया देशभक्ति के बीज का विकास हो सकता था। परन्तु ये आशाएं झुठला दी गईं। हिन्दूवाद देशभक्ति में भी परिवर्तित नहीं हो सका और किसी भी आक्रांता के विरुद्ध संगठित भारत की भावना उत्पन्न करने में असफल रहा, जिसका कारण यह है कि भारत को जाति–प्रथा ने बहुत कमजोर बना दिया था।

मुगलों ने बिना किन्हीं स्पष्ट साधनों के भारत को जीत लिया। बाबर भारत में घुस आया और उसके पीछे कोई भी सशक्त राष्ट्र नहीं था अथवा वह किसी सशक्त राज्य के संगठन पर ही आश्रित नहीं था; फिर भी वह एक आश्चर्य पैदा करने में सफल रहा अर्थात् उसने मुगल साम्राज्य की नींव डाली, जो दो शताब्दियों तक बनी रही। यह चमत्कार इस लिए सम्भव हो सका, क्योंकि इस देश में रहने वाले करोड़ों हिन्दुओं ने एक राष्ट्र के रूप में मिल–जुलकर विचार करने की आदत का विकास नहीं किया था। हिन्दू जो मात्र व्यक्तियों के जनसमूह अथवा दलों के समूह के रूप में थे, वे आपस में किसी सामान्य भावना अथवा हित से बंधे नहीं थे और अपने पूर्व आक्रमणकारियों मुहम्मद गजनवी से लेकर बाद के आक्रमणकारियों तक केवल इसलिए परास्त होते रहे, क्योंकि उन्हें उदासीन बने रहने अथवा आपस में लडने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा।

यही कहानी ब्रिटेन की विजय की दशा में भी दोहराई गयी। जब मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत की राजसत्ता धूलि–धुसरित हो चुकी थी, उस समय देश के अधिकांश भाग को मराठों ने हथिया लिया। यह उनकी शक्ति में था कि वे भारत को एकता के सूत्र में बांध लें परन्तु वे इसलिए असफल रह गए, क्योंकि उन्होंने देश के समग्र हितों के समक्ष अपने संकीर्ण हितों को प्रमुख समझा। एक भारत का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आया। केवल इतना ही नहीं, वे एक संगठित मराठा राज्य बना लेने में भी असफल रहे और शीघ्र ही पांच उपराज्यों में विभाजित हो गए, जिनका आधार अलग जाति या उपजाति थी। मराठा सशक्त राज्य बनाने में क्यों असफल रहे, इस प्रश्न के उत्तर में सर यदुनाथ सरकार ने हिन्दू जाति–प्रथा को एक मुख्य कारण बताया है। यद्यपि शिवाजी का अपना आचरण धर्म के मामलों में बहुत उदार था फिर भी उनकी विजय और वाजीराव प्रथम की विजय ने हिन्दू रूढ़िवादिता के पक्ष में प्रतिक्रिया पैदा कर दी, जिससे वर्ग विभेद और प्रतिदिन के धार्मिक समारोह की शुद्धता बढ़ गईः

> "१८वीं शताब्दी के मराठों ने अपनी स्वतंत्रता से उत्पन्न की गई सुरक्षा, शक्ति और सम्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम अत्याचार के पुराने तथ्य भुला दिये। उनकी सामाजिक श्रेणियां एक–दूसरे के विरुद्ध हो गईं। सह्याद्रि पर्वत श्रेणियों के पूर्व में रहने वाले ब्राह्मणों ने पश्चिम में रहने वालों को हिकारत की नजर से देखा और पहाड़ियों में रहने वाले व्यक्तियों ने मैदान में रहने वाले अपने भाइयों की उपेक्षा की, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें दंडित किए जाने का कोई भय नहीं था। राज्य का प्रमुख पेशवा ब्राह्मण था। उसके ब्राह्मण नेता ही उसकी उपेक्षा करते थे, क्योंकि वे जाति की अन्य शाखाओं के थे, जिसका कारण यह था कि पहले पेशवा के परदादा कभी समाज में छोटी जाति के थे, जबकि देशस्थ ब्राह्मणों के परदादा के परदादा उच्च कुलीन थे। जिस समय चितपावन ब्राह्मण देशस्थ ब्राह्मणों के साथ सामाजिक युद्ध कर रहे थे, उस समय ब्राह्मण मंत्रियों और गवर्नरों तथा कायस्थ सचिवों के बीच में तीखा द्वेष उभरने लगा। इस स्थिति का परिचय हमें शिवाजी के शासनकाल से ही विदित होता है।"[2]

हिन्दू अथवा भारतीय समाज के इसी विभाजन से असंख्य टुकड़े हो गए जबकि अंग्रेज जाति में कोई ऐसी श्रेष्ठता भी न थी, फिर भी उनके लिए

---

[2] 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स', यदुनाथ सरकार (तेरहवां संस्करण), पृष्ठ ३७४–७५, एम० सी० सरकार एण्ड जेम्स लिमिटेड, कलकत्ता द्वारा १९५२ में प्रकाशित।

भारत में साम्राज्य स्थापित करना सम्भव हो गया। इंग्लैंड ने भारत को जीत लिया और भारत पर शासन किया। यह शासन उन्होंने भारतीय सैन्यदल की सहायता से किया और इस सैन्यदल को भारतीय राशि का भुगतान किया। १७७३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ५४,००० सिपाही थे जिनमें से ९,००० अंग्रेज थे। १८१८ में यह संख्या क्रमशः १,६०,०००, जिनमें अंग्रेज सिपाही मात्र २५,००० थे, हो गई; १८५७ में २,८०,००० और ४५,००० हो गई। 'भारतीय' शब्द भ्रामक था। वे या तो हिन्दू थे या मुसलमान थे। वास्तव में उनमें से कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं था; ये सैनिक दल इस नाम से पहचाने जाते अथवा पहचाने जा सकते थे परन्तु इनमें भावनात्मक बंधन बहुत कम था या बिल्कुल ही नहीं था, जो उन्हें एक–दूसरे से बांध सके; वे कुलीन राजपूत, मराठा जाट या सिख थे।

यही रूढ़िवादी जाति–प्रथा ऐसी थी जिसने ऊंच–नीच के विचार पैदा कर दिये थे, जिसके फलस्वरूप लाखों हिन्दू अन्य धर्मविलम्बियों में परिवर्तित हो गए, जबकि सत्य यह है कि अन्य धर्मों के आध्यात्मिक उपदेश हिन्दू धर्म के उपदेशों से किसी भी दशा में श्रेष्ठ नहीं थे। यह केवल मानवीय प्रकृति है कि तिरस्कृत जातियों के सदस्यों ने उन अन्यायों और अत्याचारों का विरोध किया, जिनसे व्यावहारिक जीवन में उन्हें सार्वजनिक तिरस्कार का तीखापन मिला था। उन्होंने इसका प्रतिकार करने के लिए प्रतिशोध की भावना से गिरजाघर जाकर अन्य धार्मिक विश्वासों का सहारा लिया। इस परिस्थिति की विडम्बना इस तथ्य में निहित है कि जिन मनुष्यों को अपने जन्म के कारण अपने ही सहधर्मियों से तिरस्कृत होना पड़ा था, उन्हें नये धर्माविलम्बियों ने बराबर की मान्यता उसी समय प्रदान की, जैसे ही उन्होंने अपने बाप दादाओं के धर्म का परित्याग कर दिया।

जाति–प्रथा के कारण ही भारत के विभिन्न धार्मिक समूह सामाजिक और राजनीतिक रूप से एक–दूसरे के समीप नहीं आ सके और एक सुदढ़ समाज का निर्माण नहीं हो सका। इस जाति–प्रथा ने अन्ततोगत्वा देश का विभाजन ही किया है। जब इस प्रथा से एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से अलग रहता है, तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि समुदाय के रूप में हिन्दू–गैर हिन्दुओं को अपने आम सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों में सहन कर सकें अथवा प्रोत्साहित कर सकें। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से विश्वसनीय प्रतिज्ञापन के बावजूद मुसलमानों को यह आशंका बनी रही कि ब्रिटिश लोगों के चले जाने के बाद उन्हें हिन्दू बहुमत से सही व्यवहार नहीं मिलेगा, क्योंकि हिन्दू बहुमत अपने ही सहधर्मियों के साथ बराबर का व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद ने ब्रिटिश जनसमुदाय

के प्रति आम निंदा को प्रोत्साहित किये जाने के बाद फिर भी, उसने अपने आप में ही सदैव संघर्ष के चिह्न देखे हैं।

९ अगस्त, १९६६ को लेखक को श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक पत्र लिखने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसमें कहा गया है:

> पंजाब से सम्बंधित १९३१ की जनगणना के आंकड़ों के संदर्भ से यह विदित होता है कि "१८८१ में इस प्रांत के हिन्दुओं की संख्या ४३.८ प्रतिशत से घटकर ३०.२ प्रतिशत रह गई, जबकि सिक्खों की संख्या ८.२ प्रतिशत से बढ़कर १४.३ प्रतिशत हो गई और मुसलमानों की संख्या ४०.६ प्रतिशत से बढ़कर ५२.४ प्रतिशत हो गई है।" जनसंख्या रिपोर्ट के अनुसार इसके कारण जाट और सैनी जैसी कृषक जन–जातियों और चमार और चुहड़ा जैसी अछूत समझी जाने वाली जातियों के प्रति उच्च वर्ण के हिन्दुओं की अभिवृत्ति में निहित है। 'जाटों' का सबसे बड़ा समुदाय था और उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया बता दी, क्योंकि तथ्य यह है कि पंजाब 'जाटों का घर' माना जाता है। यह प्रतिक्रिया निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है:

तालिका

जाट जनसंख्या

(हजारों में)

धर्म	१८८१		१९३१	१८८१ से १९३१ तक न्यूनाधिकता	
	वास्तविक		यह मानकर कि धर्म–परिवर्तन नहीं किया गया था	वास्तविक	यह मानकर कि धर्म–परिवर्तन नही किया गया था
हिन्द	१४४५	९९२	२०७६	– ४५३	–१०८४
सिख	११२३	२१३३	१६१४	+१०१०	+५१९
मुस्लिम	१६५५	२९४१	२३७८	+१२८६	+५६३

> इन जाटों को यह पता लगा कि वे अपने ही राजपूत ब्राह्मण और खत्री भाइयों द्वारा हिकारत की नजर से देखे जा रहे हैं और उनके लिए यह सम्भव नहीं है कि वे अपनी जाति बदल सकें, पर उनके लिए यह अवश्य सम्भव है कि वे अपना धर्म–परिवर्तन कर लें। बहादुर सिपाहियों और ताकतवर किसानों का यह संवेदनशील समुदाय केन्द्रीय पंजाब में सिक्ख धर्म और पश्चिमी पंजाब में इस्लाम धर्म की ओर प्रवृत्त हो गया।

इसलिए गत पचास वर्षों की अवधि में हिन्दू जाटों की जनसंख्या बढ़ने की बजाय घटकर ३१.४ प्रतिशत रह गई है और सिक्ख जाटों तथा मुस्लिम जाटों की संख्या बढ़कर क्रमशः ९०.० प्रतिशत और ७७.८ प्रतिशत हो गई है। इस प्रकार १८८१–१९३१ की अवधि में हिन्दू समाज को हिन्दू जाटों के धर्म–परिवर्तन के कारण १०,८४,००० व्यक्तियों की हानि हुई है। (लेखक यहां यह भी कहना चाहेगा कि चूंकि सिक्ख पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धांत में विश्वास करते हैं, जो हिन्दू धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए वह उन्हें हिन्दुओं से अलग नहीं मानता।)

अन्य हिन्दू समुदायों ने भी जाटों के समान अपनी प्रतिक्रिया दिखाई लेकिन अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय, जो पंजाब के पश्चिमी भागों में अपने घर छोड़कर भाग गए और दिल्ली तथा उत्तरी भारत के अन्य नगरों में जा बसे, वे आज भी जाटों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के प्रति तिरस्कार से बात करते हैं और उनसे वैसा ही व्यवहार करते हैं। जाटों और पिछड़ी जातियों की शक्ति–संरचना में कोई अधिकार नहीं है, यह बात सर्वविदित है। ऊंची जाति के हिन्दुओं ने कोई भी शिक्षा नहीं ली है और शायद वे कोई शिक्षा लेंगे भी नहीं।

पंजाब में जिस प्रकार के विकास हुए, लगभग उन्हीं कारणों से बंगाल में भी उथल–पुथल हुई। वहां १८७१ में हिन्दू और मुसलमान जनसंख्या लगभग समान थी। छः दशकों की अवधि में १९३१ तक राज्य की कुल जनसंख्या में हिन्दू घटकर ४३.५ प्रतिशत रह गए और मुसलमान बढ़कर ५४.४ प्रतिशत हो गए। इसका परिणाम क्या हुआ? विज्ञान और साहित्य के प्रकांड विद्वानों के सभी ज्ञान और राजनीतिक क्रांतिकारियों के समस्त बलिदान, जो कि बंगाल ने अंग्रेजी शासन के दौरान दिये थे, वे सब क्षीण और जातिग्रस्त समाज में, जिसके वे अंग थे, निरर्थक हो गए। १९४७ में देश का विभाजन हुआ और बाद के वर्षों में इन्हें और इनके बच्चों को पूर्वी बंगाल में स्थित अपने पूर्वजों के घरों और निवास स्थानों से भागकर अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिए पश्चिम बंगाल और आसाम में शरण लेनी पड़ी।

आज के हिसाब में १९६१–७१ की अवधि के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों की जनसंख्या बढ़कर क्रमशः २३.११ और ३०.८४ प्रतिशत हो गई है। ईसाइयों की जनसंख्या भी लगभग मुसलमानों की जनसंख्या की दर के बराबर बढ़ी है। जन्म–दर की असमानता, वृद्धि की दरों की असमानता की एक कारक हो सकती है, विशेषकर जहां तक मुसलमानों का सम्बन्ध है; लेकिन हिन्दुओं की सामाजिक पद्धति से इसका प्रमुख कारण कुछ और ही है।

पाकिस्तान बनने के पूर्व इस प्रकार के संकेत थे कि हिन्दू अपनी अवनति के प्रति सजग हैं। उन्होंने अपने धर्म की ओर से सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। सामाजिक सुधार आन्दोलनों, यथा—आर्य समाज ने हिन्दूधर्म को अपने हितों की साधना में आधुनिक दृष्टिकोण प्रदान किया था। यह आशा की जाती थी कि देश के विभाजन का तथा जिसने भारतीय सीमाओं पर दो बार—अर्थात एक बार १९४७ में और दूसरी बार १९७२ में दो प्रमुख मुस्लिम राज्यों को जन्म दिया, निस्संदेह जाति—पांति तोड़ने में गति ला सकेगा और यदि यह तथ्य कुछ भी न करे तो कम से कम हिन्दू धर्म तेजी से एकता की ओर बढ़ने में अधिक संगठित होगा जैसा कि गत वर्षों में कभी नहीं हुआ था। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। आर्य समाज जैसे संगठन और स्वामी दयानन्द जैसे अन्य व्यक्तियों की उत्साहवर्धक सुधार—भावना जाति—प्रथा की चट्टानों से टकराकर चूर—चूर हो गई। इन्होंने अपनी शक्ति कम कर डाली और जो वास्तविक समस्या थी, वह वहीं—की—वहीं बनी रही। वास्तव में स्वार्थी राजनीतिज्ञों के कारण जातिवाद ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया है और पहले से अधिक सामाजिक कटुता पैदा की है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू जनसंख्या उत्तरोत्तर कम हुई है और कम होती जा रही है।

जब इस पुस्तक का (मूल) अंग्रेजी संस्करण मुद्रणाधीन था तब १३ अप्रैल १९८१ के 'इण्डियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली में तेन्कासी (जिला तिरुनवेली) के संवाददाता द्वारा भेजी गई निम्नलिखित सूचना प्रकाशित हुई थी:

> मीनाक्षीपुरम को अब ग्रामीणों के बहुमत से रहमत नगर के नाम से पुकारा जाने लगा है। यह पोथी पंचायत का खेड़ा है और तेन्कासी से लगभग १० किलोमीटर दूर है।
>
> यहां यकायक आम धर्म—परिवर्तन हुआ है। १५० हिन्दू हरिजन परिवारों ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया है अर्थात लगभग १,००० लोग इस्लाम के प्रति वफादार हो गए हैं। अन्य ५० परिवार कोडाई मन्दिर के वार्षिक समारोहों के बाद अप्रैल के अन्त तक इस्लाम धर्म को अपना लेंगे। यह स्पष्ट है कि ये लोग अपने पुराने देवताओं के प्रति अपना कोई भी भाग शेष नहीं छोड़ना चाहते।
>
> ३५ वर्षीय श्री थांगराज, जिन्होंने मेडिकल कॉलेज की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी थी, उन्होंने कहा कि पुलिस के जुल्म ने उनका जीवन असहनीय बना दिया है। उन्होंने बताया कि "हरिजन केवल पापमय शब्द है। यद्यपि हमारी आर्थिक प्रतिष्ठा बढ़ी है लेकिन हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा से हमें वंचित कर दिया गया है।"

१९ फरवरी को मीनाक्षीपुरम में अधिक धूमधाम और शान–शौकत से एक उत्सव का आयोजन किया गया। लगभग ४,००० मुसलमान अपने परिवारों सहित पड़ोसी तेन्कासी, कडायानल्लूर, वेडाकारि, वावानगरम् और अन्य स्थानों से धर्म–परिवर्तन के उत्सव में आकर शामिल हुए। श्री शाहुल हमीद, विधानसभा सदस्य, कडायानल्लूर ने इसमें सक्रिय भाग लिया। इस्लाम धर्म के नेताओं ने भी इसमें अधिक संख्या में भाग लिया।

मीनाक्षीपुरम् के हरिजन अपने जिले के अन्य हरिजनों से भिन्न हैं। उनमें से ४० प्रतिशत से अधिक लोग शिक्षित हैं और उनमें से अधिकांश पर्याप्त धनी हैं। उनमें से ९० प्रतिशत लोग मेम्कारी के समीप थिरुवदुथुरै मट्ट भूमि में रजिस्टर्ड खेती करने वाले किसान हैं।

हरिजनों ने अपनी सुधरी हुई आर्थिक प्रतिष्ठा और साक्षरता की वृद्धि की दृष्टि से अन्य समुदायों के साथ विशेषकर थेवारों से बराबर की प्रतिष्ठा की मांग की है। परन्तु उनके साथ बुरा व्यवहार किया गया। उनका यह कहना है कि उनको होटलों में कॉफी तथा चाय देने के लिए अलग गिलासों का उपयोग किया गया है। उन्हें बसों में बैठने की अनुमति नहीं दी गई है, जबकि अन्य ऊंची जाति के हिन्दू उस बस में सवार थे। उनका समाज से बहिष्कार किया गया और उन्हें सताया गया।

कुछ व्यक्ति इस निष्कर्ष पर आ गए कि धर्म–परिवर्तन से उन्हें राहत मिलेगी। इसी समय मेम्कारी में दो व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। मृतक थेवर थे और हरिजनों को इस अपराध के लिए दोषी ठहराया गया। इसी समय जाली नोटों के छापने की मशीन का पता लगने से स्थिति और गम्भीर हो गई। शेनकोहै के थेवर पुलिस इन्स्पेक्टर ने जांच–पड़ताल शुरू की और यह कहा जाता है कि मीनाक्षीपुरम् के कतिपय हरिजन परिवारों को सताया गया और कतिपय हरिजनों को गैर कानूनी ढंग से एक महीने से अधिक समय तक हिरासत में रखा गया।

पुलिस के व्यवहार के प्रति आक्रोश दिखाते हुए तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए हरिजन इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गए।

लेखक इस स्थिति के बारे में मुस्लिम अथवा अन्य किसी समुदाय को तनिक भी दोषी नहीं ठहराना चाहता, हिन्दू स्वयं अपनी करनी के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने मृत्यु–इच्छा पैदा कर ली है और उन्हें उनकी इस उत्कट इच्छा की पूर्ति से सम्भवतया कोई नहीं

बचा सकता अर्थात् उन्हें आत्महत्या से कोई नहीं बचा सकता।

यदि आधी दर्जन जातियां अथवा इतनी ही उपजातियां होतीं और उन सभी में बराबर–बराबर सदस्य होते तो शायद जाति–प्रथा की संस्था के यहां तक कि उन्मूलन में इतनी कठिनाई नहीं होती। लेकिन अब सैकड़ों–हजारों जातियां अथवा उपजातियां हैं और उनके लोगों में तीखे अन्तर विद्यमान हैं, प्रायः एक ही जाति के सदस्यों के बीच में भी अन्तर है। उदाहरण के लिए, विभिन्न अलग–अलग अनुसूचित जातियों में भी सगोत्रता अथवा समता का कोई अर्थ नहीं है। इन्होंने भी जाति–प्रथा के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बाधाओं को समान रूप से भोगा है। एक बार महात्मा गांधी ने कहा था, "अछूतों में सभी प्रकार की श्रेणियों के लोग आपस में अछूत ही हैं। इनमें से प्रत्येक उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों को हेय समझते हैं, जैसा कि कुलीन हिन्दू जाति के लोगों ने अछूतों को नीच मानकर वातावरण को ही दूषित कर दिया है।"[3]

जाति–प्रथा की गहरी मनोवैज्ञानिक जड़ें होती हैं: एक मराठी कवि ने हिन्दू समाज के बारे में लिखा है– "हिन्दू लोग ऊपर से लात खाकर अपने शीश नवाते हैं और साथ ही साथ अपने से निम्न लोगों को लात मार देते हैं। वे कभी नहीं सोचते कि उन्हें ऊपर से लात मारने वालों का प्रतिरोध करना है अथवा दूसरों से बचना है।" पद्यानुक्रम जाति–पद्धति में विद्यमान यह मनोवैज्ञानिक प्रतिकार संतुलन के कारण ही अभी तक बना हुआ है। हालांकि इसे कई आक्रमणों का सामना करना पड़ा है जिसके कारण हमारे देश में अनेक घोर विपत्तियां आई हैं।

परन्तु प्रत्येक बुराई का निदान होता है, जाति का सरलता से उन्मूलन किया जा सकता है अथवा कम से कम उस विष को समाप्त किया जा सकता है, जो हमारे समाज में घुल गया है–यदि हमारे नेता ऐसा करने का दृढ़ संकल्प करें। इसका निदान अधिक सरल है: प्रश्न केवल यही है कि क्या हम अपने व्यवसायों के प्रति ईमानदार हैं।

हमारी सामाजिक कमजोरियों अर्थात् धर्म, भाषाई अन्तर और जन्म पर आधारित जाति–प्रथा, जिसके कारण भारत शताब्दियों तक राजनीतिक रूप से गुलाम रहा है, की ओर ध्यान दिलाते हुए लेखक ने जाति–प्रथा को गुलामी का सबसे बड़ा कारण माना है। इस संदर्भ में लेखक ने २६ मई, १९५४ को पण्डित जवाहरलाल नेहरू को लिखा था:

---

[3] किंग्सले डेविस, 'द पॉपुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंस्टन यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमेरिका, १९५१, पृष्ठ १६७

परन्तु खेद है कि हमने अभी तक कोई भी शिक्षा प्राप्त नहीं की। जाति की जातिप्रथा की भावना कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। इसका कारण स्पष्ट रूप से लोकतंत्र का उदय और काम–धंधों की छीना–झपटी है। इसने न केवल हमारे सार्वजनिक जीवन की उच्चतम पहुंच तक ही प्रहार किया है, अपितु सेवाओं को भी प्रभावित किया है।

इससे विभेद और अन्याय बढ़ता है, इससे विकृतियां बढ़ती हैं, आदमी के दिमाग और दिल में संकीर्णता आ जाती है, दोषारोपण और प्रतिदोषारोपण का दुष्चक्र पैदा हो जाता है और हमारे समाज में अविश्वास तथा संदेह की भावना भर जाती है। अभी हाल ही में यह राजनीतिक बैर का साधन भी बन चुका है।

प्रश्न यह है कि इस जाति–प्रथा का उन्मूलन किस प्रकार किया जाए? गौतम बुद्ध के समय से अब तक गुरुओं और सुधारकों ने प्रयत्न किए हैं लेकिन अभी तक कोई लाभ नहीं हुआ।

मैं एक सुझाव देने का साहस कर रहा हूं जिसकी मैं अपने ही क्षेत्र में गत छः वर्षों या इतनी ही अधिक अवधि से विनम्र तरीके से सिफारिश कर रहा हूं। आधुनिक जमाने में किसी भी व्यक्ति के जीवन में जाति उसी समय देखी जाती है जब उसका विवाह होता है। अतः इस बुराई को सफलता से दूर करना है, तो ऐसे कदम उठाने होंगे जो विवाह के समय जाति की संगतता अथवा विशिष्टता को समाप्त कर दें। इसका अर्थ यह है कि इस बुराई को जड़ से ही समाप्त करना होगा। सेवाओं में भरती करने वाले नियमों को बनाते समय हम सभी प्रकार की अहर्ताएं निर्धारित करते हैं, ताकि यह सुनिश्चित कर लिया जाए कि पद के अनुकूल केवल योग्य और उपयुक्त व्यक्ति को ही काम मिले। इन अर्हताओं में उम्मीदवार के मस्तिष्क और स्वास्थ्य पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है लेकिन उसके हृदय को मापने के लिए कोई परीक्षा नहीं रखी गई है, जिससे यह पता लगाया जा सके कि उसकी सहानुभूतियों का कितना विस्तृत आयाम है, क्या वह निष्पक्ष होकर काम कर सकेगा, क्या वह हृदय से इतना विशाल है कि उन सभी व्यक्तियों को संभाल सकेगा, जो उसके सरकारी कर्तव्यों के पालन में उसके सम्पर्क में आते हैं।

मेरे मत से हमारे देश की परिस्थितियों में यह परीक्षा अधिकांशतया उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है, यदि हमें ऐसे उम्मीदवारों की आवश्यकता है। कम से कम शुरू में राजपत्रित पदों पर काम करने वाले व्यक्तियों में यह परीक्षा की जानी चाहिए कि वे अपनी ही जाति की सीमित परिधि से बाहर अपने विवाह करें। ऐसा कानून बनाकर हम किसी को

भी उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिए बाध्य नहीं करेंगे, जैसा कि आज हम किसी भी व्यक्ति को ग्रेजुएट बनने पर बाध्य नहीं करते, जो आज कई सरकारी नौकरियों के लिए आवश्यक शैक्षिक अर्हता है। यह कठिन नहीं होगा कि इस प्रकार के युवकों को अधिक संख्या में खोज लिया जाय। आज हमारे कॉलेजों में अध्ययन करने वाले सभी युवक—लड़के और लड़कियां—इस कदम को उठाने के लिए तैयार हैं।

मैं विधायकों के लिए भी इस प्रकार की अर्हता रखना चाहूंगा। अलबत्ता, अन्तर—जाति में विवाह करने की अर्हता केवल उन्हीं विवाहों के सम्बंध में लागू की जायेगी, जो किसी निश्चित तारीख से, मानो १ जनवरी, १९५५ को अथवा उसके बाद सम्पन्न किए गए हैं। अविवाहित व्यक्तियों को नौकरी में या विधान सभा में आने की छूट होगी परन्तु यदि वह बाद में अपनी ही जाति में विवाह करेगा तो उसे इस्तीफा देना होगा। इसके अलावा केन्द्र सरकार के अधीन सेवाओं में विभिन्न भाषा—भाषी दल के उम्मीदवारों को ऐसे विवाह कर लेने पर वरीयता दी जायेगी। यह इसलिए भी वांछनीय है कि भाषावार राज्य स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस प्रकार के कानून से रूढ़िवादी लोगों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचेगी, क्योंकि हमारे शास्त्रों में अनुलोम विवाह की पवित्रता अक्षुण्ण है। इसका प्रभाव यह होगा कि हम आज की जाति को कई गोत्रों में परिवर्तित कर लेंगे—और व्यक्ति को अपने पिता के गोत्र में विवाह करने के लिए हतोत्साहित करेंगे।

यदि इस आशय का एक अनुच्छेद संविधान में जोड़ दिया जाय तो भारत की सबसे बड़ी सामाजिक बुराई और राजाजी की सूक्ति का प्रयोग करें, तो उनके शब्दों में भारत के प्रथम शत्रु को दस वर्षों की अवधि में समाप्त किया जा सकता है। देश कभी भी शक्तिशाली नहीं हो सकता जब तक कि जाति—प्रथा का उन्मलन न कर दिया जाये और यह बुराई तभी खत्म होगी, जब राज्य इसमें हस्तक्षेप करे और इस बुराई को उसके मूल से समाप्त कर दे, अन्यथा किसी दिन पारस्परिक अविश्वास और घृणा की आग, जिसे जाति—प्रथा ने शताब्दियों से सुलगा रखा है, देश को जलाकर भस्म कर देगी और यह तथ्य दिन के बाद रात आने के समान वास्तविक और सूक्ष्म है।

मुझे आशा है कि मेरा सुझाव आपको बेतुका नहीं लगेगा। मुझ जैसे व्यक्ति अनुभव से यह जानते हैं कि उन लोगों की अपेक्षा अन्य जातियों में जन्म लेने का क्या अर्थ होता है, जो विशेष व्यक्ति माने जाते हैं और जो अपने को विशेष व्यक्ति मानते हैं। इन जातियों में

जन्म लेने वाले व्यक्तियों को केवल जन्म के नाम पर ही तिरस्कृत व्यवहार मिलता है और उनके प्रति सामाजिक भेद–भाव किया जाता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि काफी लोग एक साथ ही धर्म परिवर्तन कर चुके हैं। यह स्थिति केवल उन्हीं व्यक्तियों की नहीं है, जो समाज के निचले स्तरों पर रहते हैं बल्कि अन्य लोगों में भी यही हुआ है....

इस प्रस्तावित संशोधन के लिए निश्चय ही बड़ा विरोध होगा परन्तु आप इस संशोधन को कराने के लिए कटिबद्ध हैं, तो यह विरोध कम समय में ही दूर हो जायेगा। इस स्थिति के बारे में मेरे अध्ययन के अनुसार इस प्रस्ताव का शिक्षित वर्गों में पर्याप्त स्वागत होगा जबकि हिन्दू कोड बिल के कल्पित प्रतिबन्धों को उतना स्वागत नहीं मिल पाया था।

चाहे कुछ भी बाधाएं क्यों न हों, यदि इस आधार पर संविधान में कोई भी संशोधन कर लिया जाता है, तो मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार हमारे देश की वैसी सेवा होगी जैसी कि स्वराज प्राप्ति से हुई थी। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, हमारे स्वामित्व की नींव सही अर्थों में नहीं पड़ेगी।

सादर — आपका

पं० जवाहरलाल नेहरू — **ह० चरण सिंह**

भारत के प्रधान मंत्री

नई दिल्ली।

पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस पत्र का जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है –

गोपनीय

कैम्पः द रिट्रीट

मशोब्रा, शिमला

२७ मई, १९५४

प्रिय चरण सिंह

आपके २२ मई के पत्र के लिए धन्यवाद।

आप जानते ही हैं कि मैं जाति–प्रथा को समाप्त करने पर अत्यधिक महत्त्व देता हूं। मेरा विचार है कि जाति–प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है। मैं आपसे सहमत हूं कि जाति प्रथा का तब तक अन्त नहीं होगा, जब तक कि अन्तर–जातीय विवाह

सामान्य रूप से सम्पन्न न होने लगें और उन्हें उसी प्रकार देखा जाए जैसे वे काफी सामान्य हैं। मैं इससे भी आगे कहना चाहूंगा कि हमारे देश में तब तक वास्तविक एकता नहीं होगी जब तक कि विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच विवाहों के प्रति हमारे पक्षपात समाप्त नहीं होते।

परन्तु जैसा कि आप कहते हैं कि हम संवैधानिक प्रतिबंधों से लोगों को बाध्य करने का प्रयत्न करें और ऐसे नियम बनाएं कि लोग अपनी जातियों के बाहर विवाह करने लगें—यह सुझाव मुझे ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधारभूत सिद्धांत का विरोधी है। विवाह काफी हद तक व्यक्तिगत मामला है और हम विवाह को अधिकाधिक व्यक्तिगत मामला बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं और हम चाहते हैं कि इसे पुरानी रीति—रिवाज तथा परम्पराओं से निकाल बाहर करें। आपने जो सुझाव दिया है, वह इस दृष्टिकोण को पीछे हटाने वाला है, यद्यपि इसका अर्थ वांछनीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना है।

हमें अन्यथा परिस्थितियां पैदा करनी हैं। स्पेशल मैरिज बिल इसी दिशा में एक कदम है। अन्य कदम भी बाद में उठाए जाएंगे। आखिरकार व्यक्ति उन्हीं व्यक्तियों से अपना विवाह करते हैं जो उनके विचार, रहन—सहन और तौर—तरीके के कुछ न कुछ अनुकूल हैं। वास्तव में अन्य किसी भी प्रकार से किया गया विवाह ठीक नहीं है और ऊपर से विवाह के लादे जाने से यह सम्भावना है कि कहीं विवाहित दम्पत्तियों के लिए यह विनाशकारी न सिद्ध हो। मैं स्वयं इस चयन के पक्ष में नहीं हूं कि विवाह को कानून द्वारा नियंत्रित किया जाय अथवा प्रलोभन देकर उन्हें सम्पन्न किया जाय।

श्री चरणसिंह
मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार
लखनऊ

भवदीय
जवाहरलाल नेहरू

नेहरू के उत्तर से यह विदित होगा कि वह व्यावहारिक आदर्श यथा अन्तर्जातीय विवाह को साकार करने हेतु कदम उठाने के लिए तैयार नहीं थे। जन सामान्य के बीच काम करने और सोचने की उनकी सामान्य—जन प्रवृत्ति के अनुरूप ही थी। उन्होंने यह स्वीकारा कि 'जाति—प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है' लेकिन उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को, जो इस समस्या का मूल है, कानूनी रूप प्रदान करने के लिए कोई भी कदम उठाने में यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि ऐसा करने से व्यक्तिगत चयन या स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को ठेस पहुंचेगी।

हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता सबसे बड़ी आवश्यकता है और उन्होंने भी इस सम्बंध में आवाज उठाई थी लेकिन फिर भी उन्होंने उस मुस्लिम लीग को राजनीति में कार्य करते रहने की अनुमति दे दी जो हमारे देश के विभाजन के लिए उत्तरदायी थी और १९६० में केरल राज्य में मुस्लिम लीग के साथ कांग्रेस की मिली–जुली सरकार बनाने की उन्होंने अनुमति दी थी। यह स्थिति फिर भी स्वीकार कर ली गई, जबकि ३ अप्रैल, १९४८ को कान्स्टीटुयेण्ट असेम्बली (लेजिस्लेटिव) ने एक संकल्प पारित किया था, जो इस प्रकार है–

> "चूंकि लोकतंत्र को उचित रूप से चलाने और राष्ट्रीय एकता तथा भाईचारे के विकास के लिए आवश्यक है कि भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता को समाप्त कर दिया जाये। अतः इस असेम्बली का यह मत है कि किसी भी साम्प्रदायिक संगठन को अपने संविधान द्वारा अथवा अपने अधिकारियों में से किसी अधिकारी और अपने विभागों में से किसी विभाग में विहित विवेकपूर्ण शक्ति के प्रयोग द्वारा धार्मिक कौम और जाति या इनमें से किसी आधार पर व्यक्तियों को सदस्य बना लेता है अथवा सहायता से अलग कर देता है, तो उसे समुदाय की प्रामाणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक आवश्यकताओं के लिए उन कार्यकलापों को छोड़कर किन्हीं अन्य कार्यकलापों में लगने की अनुमति नहीं देनी चाहिए और विधायकी तथा प्रशासकीय जैसी सभी कार्रवाइयां की जा सकती हैं, जो इन कार्य–कलापों को रोकने के लिए आवश्यक हों।"

देश का विभाजन बहुत बुरा था। लेकिन हम जनता के एक बहुत बड़े भाग को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपने साथ रखने की बात सोच नहीं सकते थे–जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव में ऐसा कहा, जिसे उन्होंने १९४१ में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सत्र के लिए तैयार किया और उस समिति के समक्ष प्रस्तुत किया था। एम० ए० जिन्ना ने कांग्रेस के नेतृत्व की कमजोरी समझ ली थी और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वे अपनी बात पर अड़ जाएं तो वे उसे मनवा लेंगे।

नेहरू अपनी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जनता से सम्बंधित समस्याओं के बारे में अपने प्रत्येक वक्तव्य को 'लेकिन', 'तथापि' अथवा 'यद्यपि' जैसे शब्दों का प्रयोग करके अभिव्यक्त करते रहे। बात यह नहीं थी कि वे किसी भी समस्या का, जो हमें ब्रिटिश राज्य के दिनों से विरासत में मिली थी, निराकरण करने के योग्य नहीं थे परन्तु उन्होंने कई ऐसी नयी समस्याओं को जन्म दिया, जिनका आज समाधान करना असम्भव–सा हो गया है।

फिर भी अंतर्जातीय विवाहों के प्रश्न को ही लिया जाए। इसमें 'ऊपर से थोपने' का कोई प्रश्न ही नहीं था, जैसा कि लेखक ने प्रस्ताव में कार्यान्वित करने के लिए कहा था। उदाहरणार्थ लेखक ने अपने पत्र में यह बताया था कि सरकार के बारे में यह नहीं किया जा सकता कि उसने किसी पर 'आरोपण' किया है, जबकि वह राज्य या अखिल भारतीय सेवा में भर्ती होने के लिए उम्मीदवार की पात्रता के सम्बन्ध में शारीरिक और शैक्षिक अर्हताओं को निर्धारित करती है। लेखक के प्रस्ताव का यह भी आशय नहीं था कि 'कानून द्वारा' 'विवाह के चयन पर नियंत्रण' लगा दिया जाए; और यह किसी भी न्यायशास्त्र के किसी भी न्याय द्वारा न तो स्वीकार्य है अथवा, न विचारणीय है। इस देश के कानूनी संग्रह में पहले ही कई प्रतिबन्ध या नियमन प्रावधान विवाह और तलाक के सम्बंध में विद्यमान हैं। हिन्दू विधि हजारों वर्ष पूर्व ही बनाई जा चुकी थी जिसमें यह विधान है कि कोई भी व्यक्ति अपनी सात पीढ़ियों तक अपने चचेरे, ममेरे या फुफेरे भाई–बहन से विवाह नहीं करेगा और जनता सरकार ने भी दो या तीन वर्ष पूर्व यह नियम बनाया था कि कोई भी भारतीय उस लड़की से विवाह नहीं करेगा जो १८ वर्ष से कम आयु की होगी। १९०१ की जनगणना रिपोर्ट, खंड १, भाग १, पृष्ठ ५३७ के अनुसार हिन्दुओं में २,३७८ जातियां थीं: कोई भी उम्मीदवार राजपत्रित सेवा अथवा विधानमंडल की सदस्यता के लिए अपने धर्म का पालन करते हुए शेष २,३७७ जातियों में से सरलता से अपना जीवन–साथी चुन सकता था।

आज पं० नेहरू और उनकी पुत्री, जो २ सितम्बर, १९४६ से भारत के भाग्य विधाता हैं, उनके द्वारा अपनाई गई नीतियों के अनुसार जातिवाद और साम्प्रदायिकता हमारी सामाजिक एकता के रास्ते में दो सबसे बड़े अवरोध हैं और इसीलिए हमारे देश की प्रगति नहीं हो पाई। विदेशी और अल्पसंख्यक लोगों के शासन से शताब्दियों बाद देश आजाद हुआ। अतः देश को एक सबल और स्पष्ट विचार वाले नेता की आवश्यकता थी, जो हमारे समाज के छिद्रों को भर सके और देश को एक सशक्त राष्ट्र बना सके। देश को ऐसे राजनीतिक दार्शनिक की आवश्यकता नहीं थी, जिसमें प्रशासन की क्षमता न हो और जिनके मत में विश्व एक ऐसी स्थिति पर आ गया है, जहां राष्ट्रीय सीमाओं की कोई संगतता नहीं रह जाती।

जवाहरलाल नेहरू ने लेखक के सुझाव के सम्बन्ध में जो उत्तर दिया है उसके पीछे वास्तविकता इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा हो, उसके बावजूद वह स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि जाति–प्रथा इतनी बड़ी बुराई है जिसका निदान प्रबल रूप से किया जाना चाहिए। उन्हें व्यक्तिगत सभाओं में उपस्थित रहने में किसी

प्रकार का कोई खेद नहीं था। यह बात स्वर्गीय श्री दुर्गादास दत्त, विख्यात पत्रकार के लेखों में से एक लेख के निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट है, जिन्हें 'इंसाफ' के छद्म नाम से वे पॉलिटिकल डायरी के रूप में प्रेस को प्रकाशन हेतु बराबर भेजा करते थेः

'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली
दिनांक २९ मार्च, १९५५
इंसाफ की पॉलिटिकल डायरी

> प्रधानमंत्री ने रक्षामंत्री के निवास पर अपने समुदाय के नववर्ष दिवस के आयोजन पर कश्मीरी पंडितों के एक दल में शामिल होकर कोई एक अच्छी परम्परा स्थापित नहीं की। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि उनके जाति–भाइयों की जातिवादिता के सम्बंध में विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में लोग क्या–क्या चर्चा करते हैं।

श्री दुर्गादास दत्त ने उनके 'जाति–भाइयों की जातिवादिता' की अभिव्यक्ति से वस्तुतः यह कहना चाहा है कि नेहरू की कमजोरी अथवा प्राथमिकता देने का प्रत्यक्ष उपसिद्धान्त यह था कि कश्मीरी पंडितों को सरकारी सेवाओं में भर्ती किया जाए और उनकी तैनाती की जाए। जब विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में की गई चर्चा की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया, तो उन्होंने यह कहा कि "आप जिस शैतान को जानते हैं, वह शैतान उस शैतान से कहीं अच्छा है, जिसे आप बिल्कुल भी नहीं जानते।"

इस बात का निष्कर्ष दिया जाए अथवा इस बात को दुहराया जाए। हमारे देश को एक बार फिर महान और शानदार बनाने के सभी प्रयत्न और योजनाएं ऐसी होनी चाहिए जिनसे गरीबी मिट जाए, बेरोज़गारी समाप्त हो जाए और आर्थिक असमानताओं की खाई को पाट दिया जाए। यह सभी केवल व्यर्थ ही रहेगा, जब तक हमारे देश के लोग काम करने के लिए तैयार नहीं हैं और आत्म निर्भरता की भावना बनाने के लिए उद्यत नहीं हैं और वे ऐसा तब तक नहीं करेंगे जब तक कि वे यह महसूस न कर लें कि विश्व वस्तुतः अधिक यथार्थवादी है और मनुष्य अधिकांशतया अपने भाग्य का स्वयं विधाता है और जब तक वे यह न जान लें कि शारीरिक श्रम उतना ही नेक है, जितना बौद्धिक कार्य नेक होता है और उन्हें यह भी जानना है कि जन्म से सभी व्यक्ति समान होते हैं।

७
जनसंख्या–नियंत्रण

देश के विकास और जनसंख्या नियन्त्रण के सह–सम्बन्ध को चौधरी चरणसिंह ने बहुत गहराई से महसूस किया था। उनका कहना था कि जब तक हम जन्म–दर को कम नहीं कर लेते, तब तक देश दुर्दशा की खाई से नहीं निकल सकता किन्तु चौधरी साहब जनसंख्या नियन्त्रण का माध्यम सरकारी आतंक को नहीं बल्कि जन–चेतना को मानते थे। प्रस्तुत लेख उनकी पुस्तक 'इकॉनोमिक नाइटमेअर आफ इण्डियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर' के अध्याय 'अपेंडिक्स' से लिया गया है।

प्रत्यक्ष रूप में हमारी परम्पराएं ही परिवार के आकार के सम्बंध में हमारी अभिवृत्तियों का निर्माण करती हैं। कई बच्चों के जन्म विशेषकर बेटों के जन्म, को हम लोग आपदा न मानकर दैवीय वरदान मानते हैं। भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (कलकत्ता) के डॉक्टर कान्ति पकरासी ने 'भारत में परिवार नियोजन के जैविक–सामाजिक प्रसंग (१९७२)' के अध्ययन में यह कहा है कि अधिकांश भारतीय दम्पतियों को अभी परिवार नियोजन की सामाजिक आवश्यकता को स्वीकार करना है और बच्चों, विशेषकर लड़कों, की इच्छा परिवार नियोजन के कार्यक्रम के प्रति उनकी उदासीनता का मुख्य कारक है।

भारत की जनसंख्या १८५६ में १३ करोड़ ७६ लाख और १९३० में २७ करोड़ ५० लाख थी और अब मार्च, १९८१ में ६८ करोड़ ४० लाख है।

आगे तालिका "क" में यह दिखाया गया है कि आधुनिक सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं (चाहे वे कितनी ही असन्तोषजनक और अपर्याप्त ही क्यों न हों, जैसा कि अन्य देशों की तुलना से ज्ञात होता है), के प्रसार के कारण महामारी पर नियंत्रण हो गया है तथा परिवहन और संचार सुविधाओं, दोनों के कारण देश–विदेश में दुर्भिक्ष पीडित जनसंख्या को कम समय में ही खाद्यान्न उपलब्ध हो जाता है, स्वतंत्रता के समय अपेक्षा

मत्यु–दर में तेजी से कमी आ गई है, जबकि इसके विपरीत परिवार नियोजन के प्रभावकारी कार्यक्रम का अभाव है तथा जन्म दर में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके परिणामस्वरूप सम्वृद्धि दर बहुत तीव्र गति से बढ़ी है और हमारी जनसंख्या १९५१ में ३६ करोड़ १० लाख थी, जो बढ़कर १९७१ में ५४ करोड़ ७० लाख हो गई।

१९७९ में एक करोड़ या इससे अधिक जनसंख्या वाले ५८ देशों में से १७ देशों में, जिनमें भारत की तुलना में जनसंख्या का कम घनत्व है और जहां कम जन्म दर है–चीन, रूस, अमेरिका, फ्रांस, स्पेन, पोलैण्ड, अर्जेंटीना, पूर्वी जर्मनी, ताइवान कनाडा, यूगोस्लाविया, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रेलिया, हंगरी, चिली और क्यूबा हैं (वास्तव में, इन देशों में से एक देश पूर्वी जर्मनी में वृद्धि दर ऋणात्मक है)। भारत की नवीनतम जनगणना (मार्च, १९८१) के आंकड़ों को देखते हुए इटली और इंग्लैण्ड भी इसी ग्रुप के अन्तर्गत आ जाते हैं।

तालिका "क"

जनसंख्या की जन्म, मृत्यु और सम्वृद्धि–दर (१९०१–१९७१)

अवधि	जन्म–दर	मृत्यु–दर	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलो मीटर में)	घनत्व प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलो मीटर में)
१९०१–१९११	४४.१	४२.६	+५.७०	२२.९
१९११–१९२१	४९.२	४७.२	–०.३०	२०.१
१९२१–१९३१	४५.४	३६.३	+११.००	२६.८
१९३१–१९४१	४५.२	३१.२	+१४.२३	३१.८
१९४१–१९५१	३९.९	२७.४	+१३.३१	३२.१
१९५१–१९६१	४१.७	२२.८	+२१.६४	४२.२
१९६१–१९७१	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	+२४.८०	४७.५

स्रोतः भारत की जनगणना, 1971

(i) १९४१ का लेख १, पूरक पत्र, अस्थायी जनसंख्या के योग, पृष्ठ ३६.

(ii) १९७२ का लेख २, धर्म, पृष्ठ ७, भारत, १९७१–७२, पृष्ठ १०४,

सात देश, यथा–जापान, पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैण्ड, दक्षिणी कोरिया, श्रीलंका, नीदरलैंड और बेल्जियम की जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक है लेकिन भारत की तुलना में वहां अपेक्षाकृत कम संवृद्धि–दर

है। इसके विपरीत, तंजानिया में जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है लेकिन वहां संवृद्धि दर अपेक्षाकृत अधिक है।

वर्मा, इथियोपिया, नेपाल और मोजाम्बीक में जनसंख्या की सम्वृद्धि–दर उतनी ही है, जितनी भारत में है अर्थात्, २.२ या २.३ है लेकिन वहां जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। मिस्र में भी जनसंख्या की वृद्धि दर इतनी ही है, जितनी भारत में है लेकिन वहां जनसंख्या का बहुत अधिक घनत्व (६८.३) है। बंगलादेश ही एक ऐसा देश है, जहां जनसंख्या का उच्च घनत्व (६७.५) और जनसंख्या की संवृद्धि दर लगभग (२.४) दोनों ही हैं, जैसा कि भारत में है। वास्तव में बंगलादेश में जनसंख्या की सम्वृद्धि दर और भी अधिक है। बंगलादेश के नागरिक पर्याप्त संख्या में गत ३० वर्षों से भारत के अपने समीपी राज्य असम और त्रिपुरा में घुस आए हैं।

शेष देशों में से ताइवान के आंकड़े या क्षेत्रफल उपलब्ध नहीं हैं। शेष देश अर्थात् भारत की तुलना में २६ देशों में अपेक्षाकृत अधिक सम्वृद्धि–दर है लेकिन वहां जनसंख्या का अपेक्षाकृत कम घनत्व है, जैसा कि तालिका "ख" में दिखाया गया है

तालिका "ख"

संसार के देशों में तुलनात्मक सम्वृद्धि–दर और घनत्व

क्रम संख्या	देश	जनसंख्या (हजारों में)	जनसंख्या सम्वृद्धि–दर (%)	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलो–मीटर में)	घनत्व प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (प्रति किलो मीटर में)
१	२	३	४	५	६
१	चीन	८,६५,६७७	१.७	४३,९२,०००	१९७
२	भारत	६,२५,०१८	२.२	२४,७९,५००	२५२
३	रूस	२,५८,९३२	०.९	१,५२,६१,०४०	१६
४	संयुक्त राज्य अमेरिका	२,१६,८१७	०.८	७१,८३,०००	३०
५	इण्डोनेशिया	१,४३,२८२	२.६	१५,१२,४६०	६४
६	ब्राजील	१,१२,२३९	२.८	८,९२,११०	१२५
७	जापान	१,१३,८६३	१.३	३,०३,८२०	३७४
८	बंगलादेश	८०,५५८	२.४	१,१९,३४०	६७५
९	नाइजीरिया	६६,६२८	२.८	७,५८,८९०	८७
१०	पाकिस्तान	७५,२७८	३.२	२,८१,६००	२६७
११	मैक्सिको	६४,५९४	३.५	१६,८४,१९०	३८
१२	पश्चिमी जर्मनी	६१,३९६	०.२	२,०४,३३०	३००

क्रम संख्या	देश	जनसंख्या (हजारों में)	जनसंख्या सम्वृद्धि–दर (%)	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलो–मीटर में)	घनत्व प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (प्रति किलो मीटर में)
१	२	३	४	५	६
१३	इटली	५६,४४६	०.७	२,३७,९६०	२३७
१४	इंग्लैंड	५५,८५२	०.१	२,०४,४६०	२७३
१५	फ्रांस	५३,१०५	०.६	४,६४,६८०	११४
१६	विएतनाम	४७,८७२	२.९	२,२६,७००	२११
१७	फिलीपीन्स	४५,०२८	२.९	२,२१,७००	२०३
१८	थाइलैंड	४४,०३९	२.८	५५,३१०	७९६
१९	तुर्की	४२,१३४	२.७	७,५५,३४०	५५
२०	मिस्र	३८,७४१	२.२	५६,६४०	६८३
२१	स्पेन	३६,३५१	१.१	४,६८,५४०	७७
२२	कोरिया गणराज्य	३६,४३६	३.८	८८,६००	४११
२३	ईरान	३४,७८२	३.०	४,४९,५००	७७
२४	पोलैंड	३४,६९८	०.९	२,७७,५१०	१२५
२५	बर्मा	३१,५१०	२.२	५,५६,३५०	५६
२६	इथोपिया	२८,९२५	२.३	८,७१,९००	३३
२७	दक्षिणी अफ्रीका	२६,९५२	२.७	१०,०५,६००	२६
२८	अर्जेन्टीना	२६,०५६	१.३	२७,८७,२००	१०
२९	जैरे	२६,३७६	२.५	१५,२८,८३०	१७
३०	कोलम्बिया	२५,०४८	२.९	१०,०२,४५०	२४
३१	ताइवान	१६,७९३	२.०	—	—
३२	कनाडा	२३,३१६	१.३	३९,३१,२९०	५
३३	यूगोस्लाविया	२१,७१८	०.९	२,३४,५३०	९२
३४	रोमानिया	२१,६५८	१.०	२,१२,८४०	१०१
३५	मोरक्को	१८,२४५	२.७	२,५५,३५०	७१
३६	अल्जीरिया	१७,९१०	३.२	४,७९,२२०	३७
३७	सूडान	१६,९१९	२.६	१२,२९,९५०	१३
३८	पूर्वी जर्मनी	१६,७६५	०.२	९२,४४०	१८
३९	पेरू	१६,५२०	३.०	१०,४३,५३०	१५
४०	तन्जानिया	१६,३६३	३.०	८,०८,७४०	२०
४१	चेकोस्लोवाकिया	१५,०३१	०.७	१,१४,९१०	१३०
४२	केन्या	१४,३३७	३.६	७९,१४०	१८१
४३	अफगानिस्तान	२०,३३९	२.५	१,५४,२००	१३१

क्रम संख्या	देश	जनसंख्या (हजारों में)	जनसंख्या सम्वृद्धि–दर (%)	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलो– मीटर में)	घनत्व प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (प्रति किलो मीटर में)
१	२	३	४	५	६
४४	श्रीलंका	१३,९७१	१.६	४९,५३०	२८२
४५	आस्ट्रेलिया	१४,०७४	१.७	६०,२६,०००	२
४६	नीदरलैंड	१३,८५३	०.९	२३,७००	५८४
४७	वेनेजुएला	१२,७३७	३.१	७,०१,३७०	१८
४८	नेपाल	१३,१३६	२.३	८४,६४०	१५५
४९	मलेशिया	१२,६००	२.८	२,८२,१७०	४४
५०	युगांडा	१२,३५३	३.४	१,३२,९७०	९२
५१	इराक	११,९०७	३.४	१,०७,९००	११०
५२	घाना	१०,४७५	२.८	१,५८,५२०	६६
५३	हंगरी	१०,६४८	०.४	८३,०४०	१२८
५४	चिली	१०,६५६	१.९	३,८३,१४०	२७
५५	बेल्जियम	९,९३१	०.४	२३,६७०	४१९
५६	मोजाम्बीक	९,६७८	२.३	६,६४,८००	१४
५७	क्यूबा	९,५९०	१.६	७९,५००	१२०
५८	पुर्तगाल	९,५७७	०.८	७७,४६०	१२३

स्रोतः जनसंख्या के आंकड़ों के लिए खाद्यान्न, कृषि संगठन, प्रोडक्शन इयर बुक १९७९, खण्ड ३३, तालिका ३ और जनसंख्या सम्वृद्धि दर के लिए डेमोग्राफिक इयर बुक, १९७७, संयुक्त राष्ट्र संगठन, तालिका ३। स्तम्भ ५ में प्रयोज्य भूमि के क्षेत्रफल के आंकड़ों के लिए, जिसमें कृषि योग्य भूमि, स्थायी चरागाह और हरे–भरे मैदान, वन और वनों की भूमि सम्मलित की गई है, खाद्यान्न कृषि संगठन प्रोडक्शन इयर बुक, १९७८, तालिका–१, पृष्ठ ४५–४६ देखें।

टिप्पणीः १. ताइवान के प्रयोज्य भूमि–संसाधनों और जनसंख्या के घनत्व के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। २. मार्च, १९८१ में आयोजित जनगणना के प्रारम्भिक आंकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या की संवृद्धि दर इस शताब्दी के १८वें दशक में २.४७५ (डेमोग्रैफिक इयर बुक १९७७, के अनुसार अनुमानित २.२ के बजाय है।)

अधिक स्पष्ट रूप से, हमारी जनसांख्यिकीय स्थिति निश्चय ही हमारे लिए खतरनाक हो गई है। हमारी जनसंख्या की संवृद्धि दर का, जिसमें

जनसंख्या का घनत्व भी शामिल है, विपरीत प्रभाव उन भारतीय प्रयत्नों पर पड़ा है, जो हमारे देश के कल्याण के लिए किया जा रहे हैं। परन्तु कतिपय सम्मानित व्यक्ति इसे देश के धार्मिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति मानते हैं। आचार्य विनोबा भावे के शब्दों में कहा जाता है—व्यक्ति को भूखा नहीं रहना चाहिए, क्योंकि परमात्मा ने उसे खाने के लिए एक मुंह दिया है। उसे काम करने के लिए दो हाथ दिए हैं। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कतिपय लेखकों, राजनीतिक नेताओं ने मनुष्यों को 'मानवीय संसाधनों' के रूप में वर्गीकृत किया है, क्योंकि संसाधन सहायक होते हैं। एल्मेर पैडेल ने कहा है, "लेकिन अधिकांश मानव कुल मिलाकर सहायता देने की अपेक्षा भार बन जाते हैं। मानव संसाधन हित—लाभों का आधार होता है, फिर भी जब लोगों की संख्या अधिक होती है, तो उनका कोई एक भाग अन्य सभी व्यक्तियों पर निर्भर हो जाता है और यह स्थिति लोगों के आधार के बिल्कुल विपरीत है। वे संसाधन न बनकर दायित्व बन जाते हैं।"[1]

वस्तुतः अमेरिका के प्रारम्भिक दिनों में बढ़ती हुई जनसंख्या एक परिसम्पत्ति थी, जब वहां उपयोग करने के लिए पर्याप्त भूमि खाली थी और देश में प्रचुर खनिज सम्पत्ति विद्यमान थी, जिसे कोई वहां जाकर उसका सदुपयोग कर सकता था। यह स्थिति आज भी अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के कतिपय देशों में और शायद आस्ट्रेलिया, कनाडा और रूस जैसे देशों में है, जहां अब तक काम में न लाये गये और अन्य प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में हैं। अब कारखानों को कामगारों की आवश्यकता है, सड़कों का निर्माण किया जाना चाहिए और गांवों का विकास किया जाना चाहिए।

परन्तु यह बात भारत के लिए सही नहीं है (अन्य देश भी इसी प्रकार से गिने जा सकते हैं)। यहां आज करोड़ों लोग दूसरे करोड़ों लोगों के लिए परिस्थितियां अनुकूल बनाने की अपेक्षा कठिन बना देते हैं। जनसंख्या सम्वृद्धि स्वयं अपने से (या आर्थिक विकास की प्राप्तियों की अपेक्षा अधिक ऊंची दर पर) हमारी परिस्थितियों में केवल उपभोक्ता स्तरों को और नीचा गिराती है, जिससे घोर कष्ट और अवनति की स्थिति पैदा हो जाती है तथा इसके फलस्वरूप गरीबी और अभाव बढ़ जाते हैं। कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है और न कोई ऐसा उदाहरण हो सकता है, जहां किसी राष्ट्र ने बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य किसी विशिष्ट प्रकार का स्थान प्राप्त कर लिया हो, जब तक कि

---

[1] 'पॉपुलेशन ऑन द लूज', न्यूयार्क १९५१, पृष्ठ ४—५.

उसके आर्थिक उत्पादन की दर जनसंख्या से अधिक न हो जाए।

इसके अलावा, डॉ० किंग्सले डेविड ने कहा है, "जनसंख्या की वृद्धि के लिए आर्थिक रूप से अनिश्चित काल तक प्रतिवाद करने का प्रयत्न निश्चय ही असफल रहेगा, क्योंकि मानव सीमित संसार में रहते हैं। परमाणु ऊर्जा, सूर्य की किरणों का प्रयोग, समुद्री ज्वारों से उठाए जाने वाले लाभ जैसे सभी प्रयत्नों से खाद्यान्न आपूर्ति को काफी बढ़ाया जा सकता है लेकिन यह सभी प्रयत्न बराबर बढ़ती हुई जनसंख्या की देखभाल सदैव नहीं कर सकते।"[2]

हम सबसे अधिक वांछनीय फसलों और पशुधन को चुन सकते हैं और उनके लिए सबसे उपयुक्त भूमि पर पैदा कर सकते हैं। हम अभी भी हरित क्रांति की उपलब्धि के लिए समर्थ हो सकते हैं, जबकि हम ऐसा कर भी चुके हैं। हम घास भी खाना प्रारम्भ कर सकते हैं, क्योंकि हाल ही में वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि पशुओं के मांस की तुलना में घास में दस गुना अधिक प्रोटीन होता है। हम समुद्र में मछली पाल सकते हैं, जैसा कि जापान ने शुरू किया है। मिट्टी और पौधों के अभिनव परिवर्तन अथवा सुधार से हम उतना अधिक उत्पादन कर सकते हैं, जो जनता की वृद्धि से भी अधिक हो सकता है लेकिन इस प्रकार के सुधार की भी कोई सीमा है, कभी न कभी खाद्यान्न उत्पादन भी अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाएगा।

सुधार यदा–कदा ही किए जा सकते हैं लेकिन उन्हें लगातार नहीं किया जा सकता। अन्तिम कारक भूमि है। उस उत्पादन की भी एक सीमा है, जो भूमि करती है। वैज्ञानिक ज्ञान और पूंजी निवेशों से किए गए सुधारों और श्रम की भी एक सीमा होती है। अन्ततोगत्वा एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसके बाद किसी भी दिए गए क्षेत्र में अतिरिक्त व्यय और अतिरिक्त श्रम से व्यय की प्रति यूनिट अथवा श्रम की प्रति यूनिट के हिसाब से उत्तरोत्तर कम उत्पादन होगा, इसलिए हमारे देश में जितनी भी भूमि उपलब्ध है, वही जनसंख्या की नीतियों के निर्धारण करने के लिए सबसे सशक्त कारक है। यदि हमारे औसत फार्म का आकार वर्ष–प्रतिवर्ष कम होता जाता है, जैसा कि १९२१ से भारत में तेजी से कम होता गया है, तो हम उस परिस्थिति से बहुत दूर नहीं हैं, जहां सबसे अधिक दक्षतापूर्ण काम में लाई जाने वाली यूनिट किसान और उसके परिवार की आवश्यकताओं के लिए बहुत छोटी होगी। अतः कृषीतर संसाधनों के विकास और रोज़गार से बेशी की व्यवस्था की जा सकेगी।

---

[2] 'द पॉपुलेशन ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान,' १९५१, पृष्ठ २२.

अंत में, यदि यह मान भी लिया जाए कि हम वास्तव में असीमित मात्रा में खाद्यान्न–उत्पादन कर सकते हैं लेकिन हम भूमि के लिए क्या करेंगे? हमारी दुनिया की कुल भूमि क्षेत्र में रेगिस्तान, बर्फ और पर्वत शामिल हैं और इसका क्षेत्रफल केवल ५ करोड ६० लाख वर्गमील है। यह मान लिया जाए कि हम प्रत्येक व्यक्ति को रहने के लिए केवल एक वर्गगज ज़मीन आवंटित करें, तो जैसाकि डब्ल्यू. आर्थर लुईस[3] ने कहा है कि यदि विश्व की जनसंख्या प्रतिवर्ष कम से कम एक प्रतिशत बढ़ती जाए, तो १,१०० वर्ष बाद खड़े होने के लिए भी बहुत ही कम भूमि होगी। आज विश्व की वास्तविक संवृद्धि दर प्रतिवर्ष दो प्रतिशत है और भारत की संवृद्धि दर प्रतिवर्ष २.५ प्रतिशत है। इस प्रकार विश्व भर को प्रतिशोध दंड भुगतना होगा और भारत को १, १०० वर्षों से बहुत पूर्व यह दंड भुगतना पड़ेगा।

इसलिए भारत के लिए जनसंख्या–नियंत्रण पर मात्र सैद्धान्तिक वाद–विवाद अब अधिक संगत नहीं है अथवा इसकी असंगतता समाप्त होनी चाहिए। अब आवश्यकता यह है कि सभी सम्भव उपायों से जन्म–नियंत्रण को व्यवहार में लाया जाए और परिवार नियोजन के लिए सभी शल्य चिकित्सीय, रासायनिक, जैविक और यांत्रिक तरीकों का लाभ उठाया जाए। चूंकि कम आयु की महिलाओं में तुलनात्मक रूप से बच्चे का जन्म अपेक्षाकृत अधिक होता है, अतः लड़कियों की विवाह की आयु के बढ़ाने की आवश्यकता है। चीन में पुरुषों को २५ वर्ष की आयु से पूर्व और लड़कियों को २२ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता। अभी हाल ही में (१९७९ में) भारत में लड़कियों के विवाह की आयु बढ़ाकर १८ वर्ष कर दी गई है। जापान ने अपनी शिक्षा के उच्च स्तर, अनुशासित राष्ट्रीय चेतना और पर्याप्त चिकित्सीय संसाधनों की सहायता से कठोर, महंगे और अप्रसन्नतादायक गर्भस्राव के तरीके अपनाकर जन्म–दर को बहुत कम कर लिया है, जबकि जापान में गर्भ–निरोधक वस्तुओं का बहुत कम उपयोग होता है। १९७१ में 'इंडियोज मेडिकल टरमिनेशन ऑफ प्रेगनेन्सी एक्ट' पारित किया गया, जो इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है लेकिन इससे भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला है। यदि सही अर्थों में देखा जाए तो इस प्रकार सामाजिक लेखन के गर्भस्राव कानून में एक ऐसा भी उपबंध शामिल किया जा सकता है, जिसका अभिप्राय यह हो कि जब कोई महिला दूसरी बार गर्भस्राव की मांग करे, तो उसके पति को भी वैसक्टोमी ऑपरेशन करा लेना चाहिए।

---

[3] 'द थ्योरी ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ', जॉर्ज एलिन एण्ड अनविन लिमिटेड, १९५७, पृष्ठ ३०९.

इसके अलावा जनसंख्या संवृद्धि पर नियन्त्रण राष्ट्र के हित में है। एक कानून इसी प्रकार का बनाना होगा और कार्यक्रमों को इस प्रकार बनाना होगा कि हमारी जनता के सभी वर्ग और भाग इस राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए बराबर योगदान करें। प्रत्येक नागरिक को कानूनी दायित्व के अन्तर्गत परिवार नियोजन के लिए यह देखना होगा कि बच्चों के जन्म में समुचित अन्तर हो और बच्चों की संख्या तीन से अधिक न हो।

सभी प्रकार के परिवार नियोजन अभियानों और कार्यक्रमों के बावजूद हमारा देश अब भी भयावह आयामों के जनसांख्यिकीय विस्फोट की जकड़ में फंसा हुआ है। जनसंख्या की सकल संवृद्धि घटने की बजाय १९५१–६१ की २१.६४ प्रतिशत से बढ़कर १९६१–७१ में २४.८० प्रतिशत हो गई है। मार्च, १९८१ में जनगणना की प्रारम्भिक रिपोर्टों से यह विदित होता है कि वस्तुतः जनसंख्या की संवृद्धि दर में कोई कमी नहीं है। यह दर इस शताब्दी के आठवें दशक में २४.७५ थी, जबकि इस शताब्दी के सातवें दशक में २४.८० थी।

डॉ० जैक लिपेज ने अन्तर–गर्भ–निरोधक उपाय खोजा है, जो सबसे अधिक व्यापक रूप में प्रयोग किया जाता है। उन्होंने इस शताब्दी के सातवें दशक के मध्य में यह कहा है "भारत में सबसे अधिक कमी समय की है। जन्म–नियंत्रण क्रांति को दस वर्षों से कम अवधि में ही शुरू कर देना चाहिए।" फिर भी, क्रांति जैसा कुछ भी अभी तक प्रारम्भ नहीं हुआ है, इसके विपरीत विश्व बैंक की परियोजना में यह सुझाव दिया गया है कि यदि भारत में आज की दर से जन संख्या में वृद्धि होती रही, तो भारत में अब से सौ वर्षों बाद २८० करोड़ जनसंख्या हो जाएगी। वास्तव में इस शताब्दी के अन्त तक भारत की जनसंख्या १०० करोड़ हो सकती है।

फिर भी जनसंख्या की समस्या का हल केवल सरकारों का ही उत्तरदायित्व नहीं है। यह प्रत्येक विचारशील नागरिक की सबसे गहरी चिन्ता का विषय है। किसी भी व्यावहारिक तरीके से तब तक कोई परिणाम नहीं निकल सकता, जब तक जनसंख्या की नीति, जिसका कि प्रस्ताव किया जा सकता है, उसे जनमत की बौद्धिकता का समर्थन न प्राप्त हो। यह जन्म–दर और मृत्यु–दर का अन्तर ही है, जो किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि को निर्धारित करता है, लेकिन जबकि मृत्यु दर, जैसा कि पाया गया है, कुछ ही लोगों द्वारा सार्वजनिक कारवाई करने से कम की जा सकी है, लेकिन जन्म–दर को बहुत से व्यक्तियों के निजी कार्य से ही कम किया जा सकता है या स्थिर किया जा सकता है। यह एक अलग बात है कि सरकार इस नियम को स्वीकार करे और यह एक दूसरी बात है कि जनता इस नियम को व्यवहार में लाए।

हमारी चेतना में इस सत्य को घर कर लेना चाहिए कि जब तक हम जन्म दर को कम नहीं कर लेते, तब तक भारत अपने आप को ही दुर्दशा की खाई में धकेल देगा। वे दिन चले गए जब हमारे पूर्वज यह कहा करते थे कि किसी भी आदमी को तभी स्वर्ग मिलेगा, जब वह अपने पीछे अपनी जीवात्मा को पिंडदान समर्पित करने के लिए एक पुत्र को छोड़े। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि हमारे पास बहुत कम भूमि है अथवा इतनी भूमि नहीं है कि हम अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को आराम से रख सकें। विश्व के सबसे अधिक धनी देश अमेरिका में भी यह आवश्यक समझा जाता है कि परिवार परिसीमन का अभ्यास किया जाए। अतः अब किसी ऐसी दलील की आवश्यकता नहीं है, जो हमारे देश की परिस्थितियों में परिवार नियोजन के लिए हमें कायल न कर दे, जबकि हम अपनी कृषि और औद्यागिक उत्पादन की वृद्धि के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करेंगे और हमें सभी प्रकार के प्रयत्न करने चाहिए। हमें यह भी योजना बनानी होगी कि हमारी जनसंख्या की संवृद्धि दर काफी कम हो जाए। आर्थिक उत्पादन और जनसंख्या–नियन्त्रण के क्षेत्र में निरन्तर कार्य किया जा सकता है। इन दोनों में कोई भी विरोध नहीं है और दोनों का ही समान महत्त्व है।

निष्कर्ष रूप में हम, वैरा एनस्टे ने जन्म–नियन्त्रण के अभ्यास के लिए भारतीय आवश्यकता के सम्बन्ध में ५० वर्ष पूर्व जो लिखा था, उसे पाठकों को बताना चाहेंगेः

> "सर्वाधिक रूप से यह मान लेना ही चाहिए कि भारत की सामान्य समृद्धि, तीव्रता या पर्याप्त ढंग से कभी भी, तब तक नहीं बढ़ सकती, जब तक कि व्यक्तिगत आय में की हुई वृद्धि जीवन–स्तर की वृद्धि नहीं करती बल्कि वह जनसंख्या की वृद्धि में ही विलीन हो जाती है। जनसंख्या की समस्या भारत के समूचे आर्थिक भविष्य के मूल में निहित है और इस तथ्य को दबाना निरर्थक ही साबित होगा।"[4]

---

[4] 'द इकनॉमिक डॅवलपमेंट इन इंडिया', लंदनः लांगमैन्स, १९२९, पृष्ठ ४७४, 'द पॉपुलेशन ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान', डॉ किंग्सले डेविस, पृष्ठ २०३ से उद्धृत।

खण्ड दो

आर्थिक लेखन

८

कृषि विपणन (I)
मंडी में किसान की लूट

तरह–तरह के करों, कटौतियों और शुल्कों की बसूली कर, स्थानीय प्रशासन और मंडी में बिचौलिया वर्ग किसान का किस तरह शोषण करता था तथा तौल में गड़बड़ी, कर्दा, धर्मादा और बट्टा आदि की आड़ में उसकी किस तरह खुली लूट की जाती थी, चौधरी चरणसिंह ने व्यावहारिक रूप से इसे देखा और महसूस किया था। एक विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर, किसान की लूट को ज़ाहिर करते हुए, उन्होंने इस लूट पर तुरन्त रोक लगाने तथा इन करों, कटौतियों और शुल्कों को कम करने अथवा समाप्त करने के लिए कानून बनाने की ज़रूरत पर बल दिया था।

दिल्ली से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के, ३१ मार्च, १९३८ और १ अप्रैल, १९३८ के, अंकों में, उपरोक्त विषय से सम्बद्ध दो लेख प्रकाशित हुए थेः "कल्टीवेटर लूजेज १५ पर्सेंट थ्रो लेवीज" तथा "प्रपोज्ड लेजिस्लेशन फार रेगुलेशन।"

इन लेखों को पढ़कर पंजाब प्रान्त के तत्कालीन राजस्व मंत्री सर छोटू राम ने चौधरी चरणसिंह के पास अपने निजी सचिव श्री टीकाराम को भेजा था तथा विचार–विमर्श के बाद पंजाब में इन्हीं विचारों के आधार पर कृषि विपणन सम्बन्धी कानून बनाया। आजादी के बाद १९४९ में जो मंडी समिति कानून अस्तित्व में आया, वह भी चौधरी साहब के इन्हीं विचारों पर आधारित था। चौधरी साहब के ये विचार यहां दो भागों में प्रस्तुत हैंः

किसान किसी भी राष्ट्र का प्रमुख आधार है। वह किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था का अति महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह किसान ही है, जिसे सर्वाधिक श्रम करना पड़ता है, जो अपनी उपज का अधिकांश अपने देशवासियों

को वस्त्र एवं पोषण हेतु दे देता है और अपने लिए बहुत थोड़ा हिस्सा रखता है। यॅरप एवं अन्य विदेशी मुल्कों में सरकारें, कम से कम महायुद्ध के बाद, अपने किसानों की स्थिति सुधार की ओर बहुत ध्यान देती रही हैं। पश्चिमी देशों की सरकारों ने बिना समय बर्बाद किये, विश्व–बाज़ार के बदलते हुए हालात को देखते हुए, कृषकों की मदद करने की स्थिति में आने के लिए अधिनायकीय शक्ति (डिक्टेटोरियल पॉवर) हासिल की है और अनेकों प्रस्ताव पारित किये हैं। परिणाम यह रहा है कि पश्चिमी देशों के किसानों ने मंदी पर काबू पा लिया है। किन्तु भारतीय किसान की हालत क्या है? सरकारी एजेन्सी द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार १९३० से उसकी आय ५३ प्रतिशत से भी अधिक नीचे जा चुकी है किन्तु उसके ऊपर दायित्व–भार वही है, जो पहले था; समय गुजरने के साथ, उसको पीस डालने वाले ऋणों की ब्याज–अदायगी में अक्षमता के कारण, इसमें बढ़ोत्तरी हुई है। सरकारी बकाया पहले की ही भांति है। मुद्रा और विनिमय उसके विरुद्ध जोड़–तोड़ के तौर पर प्रयोग किये गये हैं।

विदेशी बाज़ार उसके लिए बंद हो चुके हैं। संक्षेप में, उसकी छोटी–सी नौका पर इतना भार लदा है कि वह डूब रही है और यदि उसके लिए बड़े पैमाने पर कदम नहीं उठाये जाते, हम शीघ्र ही उसकी अन्तिम यात्रा के बारे में सुनेंगे या हमें इतिहास के सबसे बड़े सामाजिक विप्लव के लिए तैयार रहना चाहिए?

बाज़ार की हालत

इस तथा इससे अगले लेख में हम भारतीय कृषि संगठन के एक पक्ष पर विचार प्रस्तावित करेंगे–मसलन स्वदेशी बाज़ारों का व्यवस्थापन। वह स्थान मुहैया कराना राज्य का काम है, जहां लोग मानवीय ज़रूरतों की वस्तुओं को बेचने और खरीदने की नियत से इकट्ठे हो सकें और यह देखना कि ऐसे स्थान का प्रबंधन ईमानदारी से हो रहा है और यह कि प्राथमिक उत्पादक को उसके उत्पादन का उचित प्रतिफल मिलता है। हमारे बाज़ारों की हालत निराशाजनक है। यह बेहद जरूरी है कि वहां व्याप्त बुराईयों तथा गड़बड़ियों को समाप्त करने के लिए कुछ आवश्यक कदम तुरन्त उठाये जायें, जो किसान को आर्थिक घाटा पहुंचाती है, देशी बाज़ार में बदनामी दिलाती हैं और इस प्रकार हमारे विदेशी व्यापार में गिरावट का कारण बनती हैं। हम उन विभिन्न वसूलियों से शुरूआत करते हैं, जो किसान को अपना उत्पादन बाज़ार में ले जाते समय चुकानी होती है।

नगरपालिका कर

जब किसान बाज़ार पहुंचता है, उससे पहले ही उसे अधिकांशतः चंगी, टोल या टर्मिनल टैक्स के तौर पर, सड़कों के रख–रखाव तथा नगर अथवा नोटिफाइड एरिया, जहां बाज़ार स्थित होता है, की अन्य सुख–सुविधाओं के लिए कर (पैसा) चुकाना होता है। सीधे तौर पर लागू ये चुंगी और करों की वसूली किसान के लिए काफी खटकने वाली बात है। जिस तरह सापेक्ष मूल्यों के आधार पर न लगाकर, मनमाने आधार पर उनसे लेवी वसूली जाती है, वह भी अन्यायपूर्ण है। इसके अलावा सीधे–सादे ग्रामीणों से जबरन कर वसूलना, जिसे 'मामूल' के बतौर जाना जाता है, नगर पालिका के चुंगी कर्मचारियों के लिए सामान्य बात है।

हमारे आर्थिक विशेषज्ञ हमें अभी तक यह बताते रहे हैं कि ये कर अन्ततः उत्पादक द्वारा नहीं बल्कि बढ़ाये गये मूल्य के रूप में उपभोक्ता द्वारा देय होते हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। आज–कल, जो हमारे महत्त्वपूर्ण उत्पाद हैं, वे या तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तु हैं या उनका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय कारकों से नियमित होता है।

अपने यहां के बाज़ारों में मूल्य का जो नियंत्रण होता है, वह प्रतिस्पर्धात्मक होता है एवं उसकी ऊपरी सीमा नियत होती है। "रिपोर्ट ऑन द मार्केटिंग ऑफ ह्वीट इन इंडिया" का लेखक कहता हैः "इस तथ्य के कारण कि इन टैक्सों का भुगतान शुरू में ही खेतिहर विक्रेता को करना पड़ता है, जिसके पास उसकी कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं होती है, इसलिए यह भार उसकी जेब को ही वहन करना पड़ता है।" हम पाते हैं कि ब्रिटिश–भारत की नगरपालिकाएं ही अकेले डेढ़ करोड़ रुपये चुंगी वसूल करती हैं। यह विशाल राशि भुखमरी के कगार पर पहुंचे खेतिहरों की जेब से ही आयी है, क्योंकि कृषिजन्य जिंसों पर ही चुंगी वसूल की जाती है। यह चुंगी भार अक्सर भुगतान करने की सामर्थ्य से बहुत ज़्यादा होता है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि कई क्षेत्रों में, जैसे उत्तर प्रदेश में मेरठ एवं पंजाब में बहादुरगढ़ एवं सोनीपत में, चुंगी भार से बचने के लिए नगरपालिका की सीमाओं से परे मंडियों को स्थानांतरित कर दिया गया है। प्रांतीय सरकारों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि क्या शहरी लोगों पर उनकी अपनी ही सुविधा के लिए टैक्स देने के लिए जोर नहीं डाला जा सकता। इसका शायद सबसे बेहतर हल यह हो सकता है कि नगरपालिकाओं पर दबाव डाला जाए कि (कृषिजन्य जिसों के) आगमन पर टैक्स थोपने के बजाय ओकारा, मांटगोमरी एवं पंजाब के अन्य नगर औपनिवेशिक इलाके में स्थित थोक बिक्री वाले केन्द्रों

में होने वाली उपज के निर्यात पर टैक्स लगायें। अगर एकत्रित होने वाले केन्द्र से बाहर जाने वाली उपज पर टैक्स लगाया जाता है, तब उसका भार उपभोक्ता एवं गरीब खेतिहरों पर एक करोड़ से ज़्यादा का पड़ेगा।

मंडी शुल्क

बाज़ार में पहुंचते ही खेतिहर का सामना होता है आढ़तिया से, फिर रोला से जो उसकी उपज को साफ करता है, तौलने वाले से, ओटा से—जो थैले का मुंह खुला रखे रहता है एवं पल्लेदार से, जो थैलों को ढोता है। इन सभी का हमेशा, बिना किसी अपवाद के, मेहनताना खेतिहर—बिक्रेता को ही देना पड़ता है। उन बाज़ारों में जहां व्यापार संघ या बाज़ार पंचायत होती हैं, जैसा कि गाजियाबाद में है, वहां निश्चित बाज़ार शुल्क मुनीम जैसे छोटे कर्मचारियों, पानी पिलाने वाले, मेहतर, चौकीदार, रसोईया इत्यादि का भुगतान आढ़तिया करता है। हालांकि भारी तादाद में मौजूद उन बाज़ारों में, संगठित व्यापार का अस्तित्व ही नहीं होता, इस आशय की कटौती, जो बहुधा काफी बड़ी राशि होती है, विक्रेताओं से की जाती है। फिर कोई भी भिखारी वहां से मायूस नहीं लौटता। ऐसे सभी स्थानों पर इसके बाद खेतिहरों को धर्मादा देना पड़ता है—गौशालाओं को भी, शहरी बच्चों की शिक्षा के लिए एवं अन्य धर्मार्थ संस्थाओं को चलाने के लिए, जिससे उसको कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता। इसका सबसे आश्चर्यजनक पहलू हालांकि यह है कि धर्मार्थ के नाम पर जो चंदा खेतिहरों से वसूला जाता है, वह ऐसी किसी संस्था को नहीं मिलता बल्कि उसी राशि में से आढ़तिया गया एवं हरिद्वार की तीर्थयात्रा का खर्च निकाल लेता है। इसके साथ अन्य खुदरा शुल्क भी हैं, जो इन बाज़ारों में थोपे जाते हैं, उनमें 'बाज़ार चौधरी,' 'शागिर्दी' (वह भुगतान जिससे प्रशिक्षणार्थी आढ़तिया को मजदूरी दी जाती है), बट्टा (कटौती या विनिमय शुल्क), मुद्दत (सूद भरने के लिए शुल्क, क्योंकि विक्रेता को आढ़तिया तत्काल भुगतान करता है, लेकिन कई दिनों बाद खरीददारों से उसको भुगतान मिलता है) वगैरहा शामिल हैं। इस तरह के अधिकांश शुल्कों का भुगतान जिंसों में होता है, जिसे अपने लिए एवं उन दूसरे कर्मचारियों के लिए, जिससे उसका रोज—रोज का लेन—देन रहता है, लेते समय आढ़तिया और ज़्यादा उदार हो जाता है। जब मोल—भाव पूरा हो जाता है, तो उत्तर प्रदेश के कई बाज़ारों में विक्रेता को और भी परम्परागत कटौती का भुगतान भुगतना पड़ता है, जैसे कर्दा—जिंसों की अशुद्धता दूर करने के लिए (अपवर्तन), जो जिंसों में हो भी सकती है और नहीं भी। इस आशय की कटौती बहुत से

बाज़ारों में नियत होती है जैसा कि हाथरस में है, कई जगह यह लचीली होती है। इस पर टिप्पणी करने की ज़रूरत ही नहीं: इस प्रथा से मिलावट को बढ़ावा मिलता है। उत्तर प्रदेश के बाज़ारों में खरीदारों के देने के साथ उधार देने की भी प्रथा है, जिसकी दर प्रतिमन एक तिहाई से एक चौथाई सेर होती है, और धालता के साथ भी, यानि बटखड़ा भत्ता, क्योंकि जिंसों की खरीदारी ज़्यादा वजन के बटखड़ों में होती हैं। अतः उसे कम वजन के बटखड़े में बेचने के कारण हुए घाटे की क्षतिपूर्ति की जाती है।

भारी अन्तर

इन बाजारू करों के प्रति शिकायत न केवल उनकी बहुलता में निहित है बल्कि इस तथ्य में भी कि वे पूरी तरह स्पष्ट और उल्लेखित नहीं हैं। उनमें, एक बाज़ार से दूसरे बाज़ार के बीच, भारी अन्तर होता है और कुछ मामलों में वे विक्रेता द्वारा देय होते हैं, तो कुछ में खरीदार द्वारा। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में औसतन स्वीकृत अल्पतम कुल शुल्क चुंगी सहित, प्रति १०० रुपये के उत्पाद पर ३ से ८ रुपये है, जिसमें दो रुपये विक्रेता द्वारा तथा १–से–८ रुपये खरीददार द्वारा देय हैं। उत्तर प्रदेश के केन्द्रीय और पूर्वी बाज़ारों में कुल शुल्क औसत प्रति १०० रुपये पर ६–से–१३ रुपये है, जिसमें ५–१०–१३ रुपये विक्रेता द्वारा देय हैं और १–२–९ रुपये खरीदार द्वारा। ये आंकड़े ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट से लिए गये हैं।

हम समझते हैं कि गुड़ के मामले में शुल्क और कटौती अभी भी ऊंची है। यदि आप गलत तोलने तथा अन्य गड़बड़ियों की ओर भी ध्यान दें, जिनका विवरण हम यहां प्रस्तुत करेंगे, तो हम पाते हैं कि बहुत से मामलों में, कम से कम उत्तर प्रदेश के केन्द्रीय तथा पूर्वी हिस्सों में, किसान बाज़ार मूल्य का, जो वास्तव में चालू मूल्य होता है, ८५ प्रतिशत पाता है। बकाया १५ प्रतिशत चोरी–छिपे या खुले तौर पर उससे, इस या उस बहाने, हड़प लिया जाता है। इन शुल्कों से अलग, संग्रह–केन्द्र पर वितरण शुल्क, भी होता है, जिसे ध्यान में रखना होगा। परिवहन सम्बंधी और खरीद के स्थान तक ले जाने के खर्चे, भराई के बर्तनों की लागत, बोरियों के मुंह सीने के लिए सुतली, टूट–फूट और भी विभिन्न तरह के शुल्क–मसलन पत्र–व्यवहार का खर्चा आदि भी इस लागत में जुड़े हैं। जब क्रेता के लिए खरीदारी बाहर के बाज़ार से की जाती है, तब उक्त स्टेशन से क्रेता के गोदाम तक रेल परिवहन व्यय, ढुलाई–उतराई, चुंगी और धर्मादा शुल्क इस पर पुनः लगाया जाता है। जैसा कि देख चुके हैं, उपरोक्त खर्चों में

से कुछ तो विक्रेता से वसूले जाते हैं तथा अन्य क्रेता से, जो कि अंतिम उपभोक्ता के साथ–साथ अपना भाग प्रत्यक्षतः वहन करता है, किन्तु जैसा कि ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट कहती है–"गेहूं पर किसान और उपभोक्ता के बीच लगाये गये सभी तरह के चुंगी शुल्क, सीमा कर, पथ कर, मंडी शुल्क तथा अन्य धर्मादा शुल्क, वापिस किसान पर ही थोप दिये जाते हैं, जिन्हें खुशी न खुशी उसे देने के लिए मजबूर किया जाता है।" एक अन्य स्थान पर इसी रिपोर्ट में कहा गया है, "मौजूदा हालत में किसान कुछ मामलों में उपभोक्ता द्वारा चुकाये गये एक रुपये में से नौ आना तीन पैसे ही प्राप्त कर पाता है।" इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता द्वारा चुकाये गये गेहूं के मूल्य का ४२ प्रतिशत बिचौलिये के पास चला जाता है।

फलों के बाज़ार की हालत भी भयानक रूप से खराब है। हाल ही में बम्बई से प्रकाशित फ्रूट मार्केट रिपोर्ट के अनुसार फलों एवं सब्जियों के लिए चुकाये गये १०० रुपये में से १२ रुपये से भी कम उत्पादक के हाथ में आते हैं, बाकी अन्य लोगों के पास पहुंच जाते हैं। कभी–कभी तो परिवहन व्यय भी उत्पादक के पल्ले नहीं पड़ता है। इन हालात में इस बात के लिए कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारत का किसान शोषण के अथाह गर्त में डूबा हुआ है।

'ह्वीट मार्केटिंग रिपोर्ट' में आगे कहा गया है, "किसान हर किसी के हितों को पूरा करता है और अपने उत्पादन का मूल्य घटा कर विपणन के सारे खतरों को झेलता है। इन हालात को देखते हुए उन सभी को, जो इन शुल्कों पर किसी भी किस्म का नियंत्रण रखते हैं, मन में किसान के हालात सुधारने के प्रति रुचि रखते हैं, इन करों और शुल्कों को कम करने अथवा समाप्त करने के प्रयास करने चाहिए। यदि किसानों के कल्याण हेतु इस दिशा में कुछ नहीं किया गया, तो हम संदेह के घेरे में आ जायेंगे। हमें आशा करनी चाहिए कि इस समय प्रांतों में स्थापित जिम्मेदार सरकारें किसानों के प्रति अपने कर्तव्य को निबाहेंगी।

गड़बड़ियां

धड़ा बिक्री की प्रथा उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी जिलों में प्रचलित है, जिसके तहत विभिन्न किस्मों के ढेर समान दर पर बेचे जाते हैं। हालांकि यह प्रथा क्रेता या आड़तिया के ख्याल से लाभदायक है, क्योंकि इससे काम जल्दी निबटता है। दोनों पक्षों के लिए लिपिक–श्रम की काफी बचत होती है, इससे किसान द्वारा अपने उत्पाद की किस्मों को बेहतर करने में स्पष्ट रूप से बाधा पहुंचती है और कम उत्पादन करने वाले किसान

को उसकी अक्षमता के लिए ज़्यादा पैसा मिलता है। बिक्री की एक और पद्धति हैं, जिसके तहत क्रेता या उसका बिचौलिया एक कपड़े के अन्दर, जो अमूमन छोटा तौलिया या धोती होती है, आढ़तिया का हाथ पकड़ता है और उंगलियां दबाकर उस दर का संकेत करता है, जिसे अदा करने के लिए वह तैयार होता है।

यह बताने की ज़रूरत नहीं कि गुप्त बोली की इस प्रथा में गड़बड़ियों की गुंजाइश होती है, जिससे किसान–बिक्रेता को अमूमन नुकसान पहुंचता है। साथ ही क्रेता किसी बोली या स्वीकृति के प्रति बाध्य नहीं होता है। अगर उसी दिन उत्पाद की तौल पूरी नहीं होती और तौलने का काम अगले दिन के लिए छोड़ दिया जाता है, और इस बीच बाज़ार में कीमतें घट जाती हैं, तो एक बहाना बनाकर क्रेता विक्रेता से ज़्यादा छूट की मांग करता है। साथ ही, जब तौल जारी रहती है, तब क्रेता द्वारा करदा (कूड़ा) के ज़्यादा होने की शिकायत करना बिल्कुल आम बात है। अंततः क्रेता आधा गाड़ी के बाद माल लेने से तब तक इंकार कर देता है, जब तक किसान–विक्रेता, जिसके पास गाड़ी में फिर माल भरकर वापिस ले जाने के अलावा और कोई चारा नहीं होता, वस्तुतः तयशुदा कीमत को और कम नहीं करता। इन मामलों में किसान बिल्कुल निस्सहाय होता है; पूरी मंडी में उसकी ओर से कोई एक शब्द कहने वाला नहीं होता, जिसका दूसरा पक्ष पूरा–पूरा फायदा उठाता है।

गलत तौल

लेकिन किसान की दुखभरी कहानी यहीं खत्म नहीं होती। गलत तौल करना दूसरी गड़बड़ी है, जिसके जरिए उससे उसके उत्पाद का पांच प्रतिशत या ज़्यादा ही लूटा जाता है। खरीदने के समय गांव वाले से तौल में ज़्यादा उत्पाद लिया जाता है और बेचने के वक्त उसे तौल में कम दिया जाता है। इस सिलसिले में भेलियों के रूप में गुड़ के विपणन का उदाहरण आम है। अगर एक भेली वजन में एक छटांक कम होती है, तब सारी भेलियों में से दो–दो छटांक कम कर दिया जाता है और इस बात का ख्याल नहीं किया जाता कि बाकी सारी भेलियां अपेक्षित वजन से ज़्यादा वजन की भी हो सकती हैं।

इस तरह उससे ४२ सेर लेकर उसे सिर्फ ४० सेर की कीमत दी जाती है। पाठकों को यह जानकर हैरानी होगी कि हाल में पंजाब में किये गये एक सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार उपयोग में लाए जाने वाले बाटों में से आधे से भी कम ही सही हैं, प्रत्येक तीन मापों में से दो

दोषपूर्ण हैं। संयुक्त प्रांतों में यही बात है। साथ ही प्रचलित तौल के विभिन्न तरीकों और प्रचलित बाट एवं माप पद्धतियों में इतनी असंगतियां हैं कि हैरानी होगी। एक जिले से दूसरे जिले में और कभी–कभी एक ही जिले में उनमें काफी फर्क होता है। जो व्यापारी ज़्यादा जाने–माने नहीं होते वे इन स्थितियों में बेईमानी करते हैं और जो इससे भी बदतर बात है, वह यह कि इससे संगठित विपणन के विकास को काफी धक्का पहुंचा है। अधिकांश नगर पालिकाओं एवं जिला बोर्डों ने स्थायी सरकार द्वारा बनाए गए मानक बाटों के इस्तेमाल के आदर्श नियम कायदे अपनाए हैं, लेकिन वास्तविक व्यवहार में वे अर्थहीन हैं। इसलिए बाटों और मापों के मानकीकरण और कृषि–विपणन में सुधार के लिए सही तराजुओं के इस्तेमाल और इस मामले में प्रांतीय सरकारों के हस्तक्षेप की ज़रूरत के बारे में दो मत नहीं हो सकते।

अनेकों मंडी शुल्क, जिनकी संख्या और आपतन (इंसीडेंस) के बारे में कुछ तय नहीं है, बाज़ार की जटिल प्रणाली, दुर्व्यवहार, जो किसान और उसके बैलों को झेलने पड़ते हैं–इन और दूसरी कई परेशानियों के कारण मंडी में खुद अपना उत्पाद ले जाकर उसके नतीजे झेलने का जोखिम उठाने के बजाए किसान गांव में ही उसे बेच देना बेहतर समझता है।

भण्डारण के लिए जगह

हमारे बाज़ार में भंडारण के लिए जगह की भी बेहद ज़रूरत है। जाने–माने कृषि–विशेषज्ञ चौधरी मुख्तारसिंह अपनी हाल में प्रकाशित किताब "एग्रेरियन रिलीफ्स इन फॉरेन कंट्रीज" में कहते हैं "बाज़ारों में भंडारण की सुविधाएं उपलब्ध नहीं कराई जातीं और विक्रेता, अगर बताई दर पर नहीं बेचना चाहता, तो उसे अपना माल वापस लाना और परिवहन का पूरा खर्च फिर देना पड़ता है या फिर बताई गई दर पर उसे बेचना पड़ता है।" वर्तमान में किसानों तक बाज़ार की खबरें पहुंचाने के लिए भी कोई माध्यम नहीं है। वे अफवाहों पर और गांव के व्यापारी तथा अपने पड़ोसियों या मंडी से लौटने वाले लोगों से मिली सूचनाओं पर बहुत ज़्यादा निर्भर करते हैं।

९
कृषि विपणन (II)
नियमन के लिए प्रस्तावित कानून

'कृषि विपणन' लेख के दूसरे भाग में चौधरी चरण सिंह ने उन सुझावों को प्रस्तुत किया, जिन पर अमल कर, किसान के शोषण को कमोवेश रोका जा सकता था। प्रस्तावित मसौदे से ज़ाहिर होता है कि सम्बन्धित विषय पर चौधरी साहब का कितना गहन चिंतन था।

हमारे सारे बाज़ारों में व्याप्त इस अस्त–व्यस्तता के कारण–गाजियाबाद हापुड़ और मुजफ्फरनगर को छोड़कर, जहां स्थानीय व्यापार संघों ने कुछ हद तक बाज़ार में कीमतों और व्यवहार का मानकीकरण किया–रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर, सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वयारी कमेटी और मार्केटिंग स्टाफ ने यह अनुशंसा की है और राज्य सरकारों का ध्यान तत्काल इस ज़रूरत की ओर देने के लिए दबाव डाला है कि बाज़ार में कीमतें कम और नियमित की जाएं और विभिन्न कृषि मंडियों की वर्तमान व्यापार प्रणालियों में नियंत्रण किया जाए। रॉयल कमीशन के काम शुरू करने के पहले से ही बेलार और बम्बई में कुछ बाज़ारों को नियमित और नियंत्रित करने वाले कानून, जिन्हें क्रमशः 'बेलार कॉटन एण्ड ग्रेन मार्केट लॉ, १८९७' और 'बाम्बे कॉटन मार्केट्स एक्ट' के नाम से जाना जाता है, लागू थे। कमीशन ने उनके आधार पर दूसरे राज्यों में भी कानून लागू करने की अनुशंसा की है। हैदराबाद स्टेट्स, मद्रास और सेन्ट्रल प्रोविंसेज की सरकारों ने क्रमशः १९२९, १९३३ और १९३५ में कमीशन के इशारे पर नियम बनाये। इन कानूनों ने खेतिहरों को काफी लाभ पहुंचाया है, हालांकि व्यापारियों के गलत व्यवहार पर शुरू में हाय–तौबा मची, पर आगे चल कर उन्होंने कानून की अच्छाइयों की प्रशंसा की। यह तथ्य कि उपर्युक्त कानून काफी सफल रहे, इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि उपर्युक्त सरकारों ने अपने अधिकार क्षेत्र

के ज़्यादा से ज़्यादा बाज़ारों में उनके प्रावधानों को लागू किया है और हालांकि इन्हें लागू हुए काफी समय नहीं हुआ, राज्य और केन्द्रीय विपणन अधिकारियों ने हाल की अपनी एक बैठक में, अब तक जो उनके लाभकारी नतीजे हासिल हुए हैं, उन पर संतोष ज़ाहिर किया है। यह तथ्य कि व्यापार और विपणन के साफ सुथरे और ईमानदार तरीके दीर्घ काल में व्यापारियों के हित में भी होंगे, इस बात से साबित होता है कि २८ फरवरी से २ मार्च तक १९३८ में कलकत्ते में हुई अपनी बैठक में भारतीय केन्द्रीय जूट कमेटी ने बंगाल सरकार को नियमित मंडियां स्थापित करने और बॉम्बे कॉटन मार्केटिंग एक्ट तथा मद्रास एग्रीकल्चरल क्रॉप्स मार्केट एक्ट की तरह जूट के विपणन पर नियंत्रण के लिए कानून बनाने की अनुशंसा करना तय किया। कमेटी ने बंगाल सरकार को बाटों और मापों के मानकीकरण का भी सुझाव दिया। पंजाब के विकास मंत्री सर छोटूराम ने पंजाब विधान सभा में वैसा ही विधेयक पेश करने का अपना सही इरादा ज़ाहिर किया है। कृषि मंडियों के नियमन और नियंत्रण वाकई इतने जरूरी हैं कि कोई भी सरकार, जो किसानों के हित की शुभचिंतक है, इस मामले में लापरवाह नहीं हो सकती। मुझे पूरा विश्वास है कि उत्तर प्रदेश में हमारी अपनी कांग्रेस सरकार, जो आजकल काश्तकारी, स्थानीय स्वायत्त शासन और ऋण–मुक्ति कानूनों को बनाने में बेहद व्यस्त है और जिसके पास निःसंदेह बहुत ज़्यादा काम हैं, शीघ्र ही इस तरह के जरूरी कानून को बनाकर जनता की सरकार होने के अपने दावे को न्यायोचित ठहराएगी।

नियंत्रण के लिए विधेयक

अब मैं प्रस्तावित कानून के बारे में मोटी–मोटी बातों को संक्षेप में बताऊंगा। अब तक बाज़ारों का प्रबंधन–कुछ को छोड़कर, जैसे उत्तर प्रदेश में बस्ती और नौगढ़, जिनके मालिक जमींदार हैं, और जो १६ मन वाली हरेक गाड़ी से तीन से छह आने तक शुल्क वसूलते हैं–स्थानीय बोर्डों, मसलन नगरपालिकाओं, के हाथों में था, जो अपनी जिम्मेदारी निभाने में पूरी तरह असफल रहे हैं। किसान, जिसके हित सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए हैं, का अब तक बाज़ारों के प्रबंधन में कोई अधिकार नहीं था। इसलिए अब यह प्रस्तावित किया जा रहा है कि वर्तमान प्रबंधन को मंडी समिति से ज़्यादा अधिकार दिए जायें और उसमें किसानों का प्रतिनिधित्व हो। उनका प्रतिनिधित्व कैसे होगा, इसके लिए विस्तृत बातचीत की ज़रूरत है और इसके बारे में यहां हमें चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है।

इसका मतलब है कि कानून को राज्य की सारी मंडियों में नहीं, बल्कि सिर्फ उन्हीं मंडियों में लागू होना चाहिए, जो सरकार द्वारा अधिसूचित किए गए हैं। राज्य सरकार को ऐसा कानून बनाना चाहिए, जिसमें अन्य चीजों के अलावा निम्नलिखित के लिए प्रावधान होः

(१) बाज़ार के व्यापारियों, बिचौलियों और तुलैयों को लाइसेंस देने के लिए, उनसे लिए जाने वाले शुल्क को तय करने के लिए, इन लाइसेंसों को किन स्थितियों में दिया जाए और उनके लिए क्या शुल्क लिया जायेगा, इसके लिए। जिसके पास मंडी समिति का लाइसेंस नहीं होगा, उसे व्यापारी, बिचौलिये या तुलैये के रूप में काम नहीं करने दिया जाएगा।

(२) विवरण और समय–समय पर निरीक्षण, सत्यापन, संशोधन, नियमन और बाज़ार में इस्तेमाल होने वाले तराजुओं, बाटों और मापों की जब्ती के लिए। सही–सही तौल की जिम्मेदारी व्यापारी पर होगी और उसे गलत तौल करने के लिए अपने लाइसेंस से हाथ धोना पड़ेगा।

(३) किसी मंडी में किसी व्यक्ति द्वारा लेन–देन में ट्रेड एलाउन्सेज, शुल्क या छूट देने या हासिल करने या इस तरह के एलाउन्सेज की सूची बाज़ार में विशेष स्थान पर लगाने के लिए। अगर कोई अपने न्यायोचित शुल्क या हिस्से से ज़्यादा लेगा, तो उसका लाइसेंस निलम्बित कर दिया जाएगा।

(४) क्रेता और विक्रेता को उचित रसीद और हिसाब–किताब के विवरण देने के लिए। लेन–देन को सुविधाजनक बनाने और विवाद से बचने के लिए क्रेताओं व विक्रेताओं के बीच लिखित अनुबंध की व्यवस्था होनी चाहिए।

(५) विभिन्न कृषि उत्पादों की किस्मों का एकरूप मानदंड तय करने के लिए, ताकि एक ही किस्म के उत्पाद की कीमत एक हो सके और बेहतर किस्मों के उत्पादों की कीमत शीघ्र तय की जा सके।

परम्परागत शुल्क जैसे, करदा, धालता और दांणे को अवैध घोषित किया जाना चाहिए और बिना मंडी समिति की मंजूरी के किसान को कोई शुल्क और चन्दा, चाहे वह दान के लिए हो या किसी धार्मिक उद्देश्य के लिए, न देना चाहिए, न उससे वसूला जाना चाहिए। गुप्त चिह्नों के जरिए लेन–देन की प्रथा और धड़ा प्रथा के तहत बिक्री पर कड़ा प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए।

मंडी समिति

मंडी समिति के पास, जो एक नियमित संस्था होगी और बाज़ार में व्यापार नियमित करने, बेहतर भण्डारण करने, मंडी की व्यवस्था बनाये रखने और उसमें सुधार करने, मंडी के लिए जरूरी भवन और सड़कें बनवाने और मरम्मत करने, बाटों का प्राधिकृत सेट रखने, मंडी में आने वाले उत्पादों, आदमियों और मवेशियों के लिए बेहतर आश्रय, जल—व्यवस्था और स्वास्थ्य सम्बंधी सुविधाओं के लिए मंडी की आम स्थितियों में सुधार लाने, मंडी में दैनिक मूल्यों की सूची, जो सिर्फ उस मंडी की नहीं, बड़े थोक बाज़ार या बाज़ारों, जिससे वह मंडी सीधे—सीधे जुड़ी हुई है, लगाने, अपने अधिकारियों और कर्मचारियों को रखने, आदि के लिए अपना कोष होगा।

मध्यस्थता

मंडी में लेन—देन के कारोबार में पैदा होने वाले विवादों का निपटारा मंडी समिति या उसकी उप—समिति करेगी और अनुबंध में इसका प्रावधान होना चाहिए। अगर कोई क्रेता तयशुदा कीमत पर विक्रेता का उत्पाद अपने यहां पहुंचने पर लेने से इंकार करेगा, तो मामला मंडी समिति को भेजा जायेगा और उसे समिति का निर्देश मानना होगा।

इस ख्याल से कि मंडी समिति प्रभावपूर्ण ढंग से काम कर सके, जनता के हितों के रक्षक के रूप में राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह किसी अक्षम मंडी को खारिज करके, मंडी का प्रशासन अपने हाथों में ले सके। ब्रिटेन के खाद्य एवं औषध कानून, १९२८, में ऐसा ही प्रावधान है। ऐसी कार्यवाही से मंडी शुल्क घट जाएगा या कम हो जायेगा और नियमित हो जाएगा, व्यापार प्रणाली पर नियंत्रण होगा, मापों और बाटों का मानकीकरण होगा और बेईमानी खत्म हो जाएगी, किसान—विक्रेता का हित सुरक्षित रहेगा और मंडी के उचित शुल्कों को छोड़कर उसके उत्पाद का सारा बाज़ार मूल्य उसे मिलेगा और कमीशन के आधार पर बिक्री की वर्तमान प्रथा बेहतर हो जाएगी, क्योंकि कमीशन एजेण्ट को अपना लाइसेंस दिखाना पड़ेगा। इस कार्यवाही से, किसान को अपना उचित हक मिलेगा, उसे अपने उत्पाद की बेहतर किस्में पैदा करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा और विदेशी बाज़ारों में भारतीय कच्चे मालों से जुड़ा एक कलंक दूर होगा। इत्तफाक से एक फायदा और होगा कि लाइसेंस शुल्कों से प्राप्त राशि से कृषि उत्पादों, जैसे फल, घी आदि पर मार्का लगाने और

उनकी श्रेणियां तय करने के लिए राज्य के विपणन अधिकारियों को कोष का आबंटन करना सम्भव होगा।

स्पष्ट है कि यह कानून नगरपालिका के करों के बोझ को कम नहीं करेगा, न ही इससे बिचौलियों को दिये जाने वाले शुल्क पूरी तरह खत्म हो जाएंगे। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए दूसरे व्यापक और कड़े कानून बनाने होंगे। यह कार्यवाही सिर्फ विपणन व्यवस्था की कुछ खामियों को दूर करने और उसके कुछ पहलुओं में सुधार लाने के लिए है।

१०
ज़मींदारी उन्मूलन आलोचनाओं के जवाब

जिस समय चौधरी चरणसिंह के ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के प्रारूप को उत्तर प्रदेश विधायिका के दोनों सदनों ने चयन समिति को भेजा था, तो भू–स्वामियों और उनके प्रतिनिधियों ने इसकी आलोचना की। चौधरी साहब ने इन आलोचनाओं के जबाव में एक लेख लिखा था 'एबोलिशन ऑफ ज़मींदारी इन यू० पी०: क्रिटिसिज्म एन्सर्ड'। यह लेख १६ अगस्त, १९४९ के, लखनऊ से प्रकाशित, अंग्रेजी दैनिक 'नेशनल हेरल्ड' में प्रकाशित हुआ था।

उत्तर प्रदेश ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक अब जनता के सामने है। प्रेस और मंचों से इसे उत्साहपूर्ण, व्यापक समर्थन मिला है, फिर भी कुछ पक्षपाती या अनभिज्ञ लोगों ने इसकी आलोचना की है। इसकी पूरी उम्मीद थी कि इस व्यापक निर्णय का, जो जड़ से हमारी पूरी सामंती ग्रामीण संरचना को उखाड़ फेंकेगा, अज्ञानतावश या जानबूझ कर विरोध किया जाएगा। यहां इस लेख का उद्देश्य, जो मुख्य आपत्तियां की गयी हैं, उनका जवाब देना और दूसरी सम्बद्ध बातों का जिक्र करना है।

जैसा कि पाठक अब तक यह जान चुके होंगे कि इस विधेयक का उद्देश्य महज भूमिकर पाने वाले जमींदारों तक की हैसियत को खत्म करना है, यानी 'राज्य' और 'खेत जोतने वाले किसान' के बीच के सारे बिचौलियों को खत्म करना है; उत्तर प्रदेश की सारी ज़मीन पर 'राज्य' को अधिकार देना है तथा उन सारे लोगों को, जिनके पास कृषि की ज़मीन वैध रूप से है, भूमिधारी अधिकार देना है, चाहे उनकी वर्तमान हैसियत या उनके द्वारा देय लगान का स्वरूप जो भी हो, लेकिन काश्तकारों और शिकरी–काश्तकारों को ये अधिकार तभी मिलेंगे, जब वे जमींदार को देय सालाना लगान की क्रमशः दस और पंद्रह गुना रकम अदा करेंगे। यहां

यह स्पष्ट कर दें कि भूमिधर को ज़मीन का हस्तांतरण करने, उसे अपनी मर्जी से किसी भी रूप में इस्तेमाल करने और अपने लगान को आधे तक घटाने का अधिकार है। उन सारी ज़मीनों का, जिन पर खेती नहीं होती, चाहे वे कैसी भी हों, प्रबंधन ग्रामीण समुदाय करेगा, जिसे पंचायती राज कानून के तहत पहले ही कुछ खास न्यायिक व प्रशासनिक अधिकार दिये जा चुके हैं। सारे जमींदारों को उनकी कुल आय की आठ गुना रकम मुआवजे के रूप में दी जाएगी, और जो ५,००० रुपया या उससे कम भूमि राजस्व की अदायगी करते हैं, उन्हें पुनर्वास ग्रांट दी जायेगी, जो उनकी कुल आय के दो गुना से २५ गुना तक और विपरीत अनुपात में देय भूमि राजस्व की रकम के बराबर होगी। दोनों किस्म की अदायगियों की कुल रकम पूरे प्रदेश के लिए १३७.५ करोड़ रुपया होगी।

भविष्य में काश्तकारी

खास स्थितियों में सहकारी फार्मों का प्रावधान किया गया है, जो हालात के अनुसार अनिवार्य होगा, और इस सिलसिले में राज्य की ओर से सारे सम्भव प्रयत्न और प्रोत्साहन देने की गारंटी दी गई है, ताकि ज़मीन पर आदमी द्वारा आदमी के शोषण की स्थिति भविष्य में फिर कभी पैदा न हो। आम पट्टेदारी या भोग बंधक के जरिए बटाईदारी और संयुक्त परिवार, जिसके पास ३० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है, द्वारा ज़मीन बढ़ाकर पूंजीवादी तरीके से खेती करने पर भी पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया गया है और इन नियमों के उल्लंघन करने पर उनकी ज़मीन तत्काल छीन ली जाएगी। अलाभकारी जोतों की तादाद नहीं बढ़े, इसके लिए यह घोषित किया गया है कि दस प्रामाणिक बीघा या उससे कम की जोतों को तोड़ा नहीं जा सकता और जो बड़े आकार की जोतें हैं, उन्हें बंटवारे के लिए दस–दस बीघा से कम की जोतों में नहीं बांटा जा सकता है। अगले ४० वर्षों तक राजस्व का कोई निबटारा नहीं होगा या राज्य को दी जाने वाली अदायगी की रकम में बढ़ोतरी नहीं होगी। थोड़े में, विधेयक में किए गए ये मुख्य प्रावधान हैं, जो कुल ३१० धाराओं में सूत्रवद्ध हैं।

जिस दौरान इस महति वैधानिक कार्यवाही की तैयारी हो रही थी, कांग्रेस के विरोधियों ने जोर–शोर से यह बात फैलायी कि यह अक्षम शासन है, जो प्रस्तावों को तय करने में ज़रूरत से ज़्यादा समय ले रहा है, यानी वे दरअसल इस बात को लेकर संदिग्ध थे कि कांग्रेस सरकार ज़मींदारी उन्मूलन की अपनी बातों के प्रति ईमानदार या गंभीर थी। लेकिन आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि हमें सिर्फ ज़मींदारी खत्म नहीं

करनी थी, यानी सिर्फ नष्ट नहीं करना था, बल्कि एक स्थायी संरचना भी तैयार करनी थी जो न सिर्फ वर्तमान की ज़रूरतों को पूरा करेगी, बल्कि आने वाले समय में भी अपने को अर्थपूर्ण साबित करेगी। किसी भी तरह के रचनात्मक कार्य में, खासकर सामाजिक आधारों की रचना में, जो भविष्य के लिए योजना भी होती है, पूर्व विचारों और प्रभावशाली राजनीतिमत्ता के इस्तेमाल की ज़रूरत होती है। 'ज़मींदारी का उन्मूलन' एक नकारात्मक नारा है, जबकि जो लोग मसलों को हल करने में लगे हैं, उन्हें एक सकारात्मक हल–एक वैकल्पिक भूमि व्यवस्था–निकालना है।

रूस के समानान्तर

ऐसे आलोचकों के दिमाग में हमेशा रूस छाया रहा है। लेकिन एक ओर जहां रूस ने जल्दीबाजी में मौजूदा व्यवस्था को नष्ट कर दिया, उसके पास दूसरी और कोई नई योजना नहीं थी और नया विकल्प तैयार करने में उसने पूरे दस साल लगाये। क्रांति के वर्ष १९१७ से १९२७ तक, जिस वर्ष समूहीकरण के बारे में अंतिम निर्णय लिया गया, उन्हें छह बार अपनी भूमि नीति में बदलाव लाने पड़े, जिसके कारण काफी दुःख–तकलीफें झेलनी पड़ीं और ऐसी राष्ट्रीय हानियां हुईं, जिन्हें टाला जा सकता था। फरवरी १९१७ में सारी ज़मीन का कम्यूनों में एकीकरण हुआ और पुराने सिद्धांतों के आधार पर कम्यूनों के सदस्यों के बीच भूमि का वितरण हुआ। आठ महीने बाद लेनिन ने संविधान–सभा के चुनावों में किसानों के समर्थन के ख्याल से यह नारा दिया–"जो लूटा गया था, उसे लूट लो"।

फरवरी १९१८ में ज़मीनों पर हर किस्म के स्वामित्व को खत्म कर दिया गया और उनका वितरण, समान भूमि स्वामित्व के सिद्धांत के आधार पर, कामगार लोगों के बीच होना था। ज़मीन की किसी भी किस्म की खरीद–फरोख्त की मनाही हो गयी। एक साल बाद जब कम्युनिस्टों ने अपने को पूरे तौर पर सत्ता पर काबिज पाया, तब सारी ज़मीनें एकल राज्य निधि घोषित कर दी गयीं और 'हर किस्म के व्यक्तिगत भू–स्वामित्व' को समाप्ति के कगार पर बतलाया गया। बड़े सोवियत राज्य फार्मों, कम्यूनों और खेतीबारी से जुड़े अन्य किस्म के फार्मों को 'समाजवादी आधार पर खेती की व्यवस्था के लिए सबसे बेहतरीन तरीका' बतलाया गया। लेकिन यह एक गीली फुलझड़ी साबित हुई; किसानों ने कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। इसीलिए मार्च १९२१ में 'खुशहाल किसानों के वास्तविक मनोविज्ञान के आधार पर राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था को विकसित करने के ख्याल से नयी आथिक नीति की घोषणा की गयी।

लेनिन ने स्वीकार किया था कि इन किसानों की मंशा और संवेदनाओं को बदलने में हम असफल रहे हैं।' अनिवार्य तौर पर अनाज की सुपुर्दगी को घटाया गया, रूबल का पुनरुद्धार किया गया और खुले बाज़ार में खरीद–फरोख्त की अनुमति दी गयी। १९२४ में कम्युनिस्ट 'दक्षिण' की ओर और ज़्यादा झुके और सरकार ने अपना नजरिया पूरी तरह बदल दिया। भूमि–कर मुद्रा के रूप में देना तय हुआ और किसानों को पट्टे पर ज़मीन देने, दिहाड़ी पर मजदूर इस्तेमाल करने और खेतीबाड़ी सम्बंधी मशीनों को खरीदने की इजाजत दी गयी।

यहां एक ऐसी व्यवस्था को विकसित करने के लिए, जो हमारे किसानों को पूरी तरह मंजूर हो, हमने महज तीन साल लिये हैं। सरकार के लिए ये साल असहज तनाव और दबावों के रहे हैं, जबकि रूसी व्यवस्था को, अगर किसानों को आजादी होती, तो इसकी स्थापना के बावजूद, दो दशक पहले वे नकार देते।

पूंजीपति

एक दूसरी आपत्ति, हालांकि उसका उन्मूलन की योजना की अच्छाइयों–बुराइयों से कुछ लेना–देना नहीं है, लेकिन इस सिलसिले में जो ज़ाहिर की गयी है, वह यह है कि हम लोग पूंजीपतियों के पक्षपाती रहे हैं, क्योंकि ज़मींदारी उन्मूलन के साथ–साथ हमने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया है। इसका जवाब यह है कि चूंकि कांग्रेस बड़े व मौलिक उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए प्रतिबद्ध है, फिर भी पूंजीपतियों और जमींदारों को एक ही पलड़े पर नहीं तोला जा सकता है। "पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य और अतिरिक्त उत्पादनों के विकास के लिए कम से कम सक्रिय भूमिका तो अदा करता है, लेकिन जमींदार खुद बिना किसी शिरकत के अतिरिक्त उत्पादों और अतिरिक्त मूल्यों में बढ़ते हुए हिस्से को हड़पता है।"

दूसरे, राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक सर्वहारा की जिंदगी के हालात में कोई मौलिक परिवर्तन होने वाला नहीं है, क्योंकि इससे वे सिर्फ निजी उद्योगों के मालिकों के बजाए एक नये मालिक, 'राज्य' के तहत काम करेंगे और पहले की तरह ही नियमित मजदूरी के लिए उन्हीं उद्योगों में काम करेंगे, जबकि ज़मींदारी उन्मूलन का मतलब किसानों की जिंदगी में बदलाव है। साथ ही, बड़े उद्योग हमारी जनता के एक बहुत छोटे हिस्से को, कुल २२.५ लाख को काम देते हैं, जिनकी तादाद ज़मीन पर काम करने वाले लोगों की तुलना में बहुत कम है। इसलिए जरूरी है कि

राजनेता सबसे पहले ज़मींदारी खत्म करने में अपनी ऊर्जा लगायें, जो राजनैतिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विकृति है। यह उसी तरह है, जैसे कोई डॉक्टर तुलनात्मक रूप से छोटी बीमारियों के बजाए पहले गम्भीर बीमारी का इलाज करेगा। अंत में, जब तक हमें प्रशिक्षित तकनीकी अधिकारी उपलब्ध न होंगे और जब तक नैतिक और प्रशासनिक मूल्य संतोषजनक रूप से नहीं बढ़ते, तब तक हाल–फिलहाल में राष्ट्रीयकरण से उत्पादन बढ़ने के बजाए घट सकता है।

अब जहां तक उन्मूलन के तरीकों का सवाल है, तो इतिहास में ऐसे तीन तरीके मिलते हैं। पहला तरीका जापान से उपलब्ध है, जहां २५० सामंती सरदारों ने जिन्हें 'दिआम्योस' कहते थे, १८६८ में स्वेच्छा से सम्राट के आगे अपने प्रशासनिक व वंशानुगत अधिकारों को समर्पित कर दिया था। उन्हें उनके इलाकों से होने वाली आमदनी का एक खास प्रतिशत देने की गारंटी दी गयी थी। उन्हें देखकर छोटे–छोटे आभिजात्यों ने भी, जिनकी तादाद कोई चार लाख थी, ऐसा ही किया। पहले तो उन्हें भूमि–करों के भोग की आजादी दी गयी थी, लेकिन कई मामलों में आनुवांशिकता का सिद्धांत समाप्त कर दिया गया था। उनकी सालाना पेंशने कोई एक करोड़ २० लाख पौण्ड थीं। राष्ट्रीय कोष पर इससे काफी दबाव पड़ा लेकिन बड़े स्तर पर इस समस्या का हल भी 'सामुराइयों' ने खुद निकाला था। १८७३ में एक समर्थनकारी राजशाही आदेश ने 'सामुराइयों' के राजस्व को छहसाला आनुवांशिक पेंशनों की खरीद और चारसाला आजीवन पेंशनों की खरीद की दर से तब्दील कर दिया। समय की गति के अनुकूल 'सामुराइयों' ने इस व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकारा; क्योंकि उन्हें मालूम था कि उनकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है। दुनिया के किसी भी मुल्क ने आम हित में अपने सामंती आभिजात्यों की ओर से ऐसे प्रयास की मिसाल पेश नहीं की है। इससे देशभक्ति की ऐसी धारा फूटी, जिसने जापान को महज छह दशकों की छोटी अवधि में दुनिया के पहले दर्जे के देशों में ला खड़ा किया।

दूसरा उदाहरण १९१७ की रूसी क्रांति ने पेश किया है, जहां जर्मनों द्वारा रूसी सेनाओं की घोर पराजय के बाद, काश्तकारों की बड़ी तादाद सशस्त्र विद्रोह के लिए उठ खड़ी हुई। बोयारों, जो वहां के सामंती आभिजात्य थे, का उत्पीड़न सारी सीमाएं लांघ चुका था। जमींदारों के खिलाफ आक्रोश का शिकार उनकी जायदादें और उनकी बेशकीमती चीजें, हुईं, जिनमें किसानों के लिए भी मूल्यवान चीजें थीं, जैसे कृषि यंत्र और जानबर, बिना सोचे समझे नष्ट कर दिये गये।

तीसरा उदाहरण आयरलैण्ड, डेनमार्क, जर्मनी, रूमानिया और दूसरे

योरोपीय देशों ने पेश किया है, जहां ज़मींदारी को कानून से, न कि तलवार से, खत्म किया गया और जमींदारों को मुआवज़ा दिया गया।

पहले तरीके को लागू करने की स्थिति गुजर चुकी है। अगर हमारे जमींदार जापान के रास्ते पर चले होते, तो कांग्रेस सरकार और देश ने दिल से उनकी प्रशंसा की होती। दूसरा, रास्ता न तो महात्मा गांधी की शिक्षाओं के ख्याल से, वांछनीय है और न इस दृष्टि से कि राजनीतिक शक्ति अब जनता के हाथों में है। तीसरा, और सबसे उपयुक्त रास्ता बस हमारे लिए यही बचा है, कि कलम से–शांतिपूर्ण तरीके से–जमींदारी उन्मूलन हो; और यही रास्ता है जिसका अनुसरण किया जा रहा है।

मुआवज़ा

अब मुआवजे के बारे में: यह सवाल उन्मूलन के तरीके से काफी जुड़ा हुआ है। जापान में सामंती आभिजात्य वर्ग ने नाम मात्र का मुआवज़ा स्वीकार किया था, क्योंकि उन्होंने राष्ट्र–हित के लिए अपने को मिटा देना पहले ही तय कर लिया था। रूस में मुआवजे का सवाल उठा ही नहीं, क्योंकि कोई भी, जो मुआवजे के लिए दावा कर सकता था, बचा नहीं; क्योंकि ज़मींदारी के साथ जमींदार भी खत्म कर दिये गये थे। बाकी सारे दूसरे देशों में जहां राज्य द्वारा बनाये गये कानून के जरिये ज़मींदारी खत्म की गयी, मुआवजे की अदायगी करनी पड़ी थी; कानून को कुछ खास सिद्ध ांतों पर चलना था और सारे प्रभावित पक्षों का ख्याल करना था।

जो लोग जब्त करने की नीति की वकालत करते हैं, वे संदिग्ध तरीकों का हवाला देते हैं. जिनके जरिये बीते जमाने में ज़मीनें हथियायी गयी थीं। लेकिन इन लोगों को जिनके हाथों से ज़मीन की अच्छी–खासी मात्रा का लगभग एक शताब्दी के दौरान हस्तांतरण हुआ है, साथ ही किसी पर–पोते को उसके पूर्वजों के पाप के लिए सजा देने का औचित्य भी संदेहास्पद है; खास तौर पर जब उनमें से कुछ ने अपने पूर्वजों के पापों का प्रायश्चित, बाद में आजादी की लड़ाई में सक्रिय रूप से भाग लेकर किया।

आलोचक महात्मा गांधी की उस राय का हवाला दे सकते हैं, जो उन्होंने जून १९४२ में लुई फिशर को दिये गये अपने दो साक्षात्कारों में ज़ाहिर की थी; कभी–कभी उन्होंने इसका हवाला दिया भी है। जब महात्मा गांधी से यह पूछा गया कि क्रांतिकारी उथल–पुथल के दौरान, जो वस्तुतः आने वाले अगस्त में ही देश में शुरू हो गई थी, किसानों की क्या भूमिका होनी चाहिए थी, तो उन्होंने घोषणा की कि वे (किसान) ज़मीन पर

कब्जा कर लेंगे, इसके लिए किसी को भी कहने की ज़रूरत नहीं होगी, और मुआवज़ा बिल्कुल नहीं दिया जायेगा। आखिर वह क्यों दिया जा रहा है? चूंकि महात्माजी एक ऐसी क्रांति के बारे में बात कर रहे थे, जो विदेशी शासन के साथ–साथ अगर पूरी तरह सामाजिक संरचना को नहीं, तो कम से कम मौजूदा भूमि–व्यवस्था को, जिसने विदेशियों को अपना आलम्ब दिया था, अपनी आग में निगल जाती। तब हम लोग इसमें चुक गये और अब कोई शिकायत नहीं कर सकते। फिर भी, यह वही महात्मा थे, जिन्होंने बदली हुई परिस्थितियों में दिसम्बर १९४७ में, जब चुनाव–घोषणा–पत्र का प्रारूप तैयार किया जा रहा था, कांग्रेस हाई कमान को 'न्याय संगत मुआवज़ा' देने की सलाह दी। जहां तक मुआवजे की दरों का सवाल है, जमींदारों ने दरख्वास्त की है कि यह अदालतों पर तय करने के लिए छोड़ दिया जाए कि न्याय संगत क्या है? किन्तु यदि अदालतें ज़मीन के हर टुकड़ें पर ऐसे निर्णय देने लग जाती, तो फिर ज़मींदारी उन्मूलन का कार्यक्रम लम्बे समय तक रुका रहता। हर जगह भूमि के मामले में सारी कार्यवाही विधायिका ही करती है, जिसमें जन–प्रतिनिधि होते हैं; वही सिद्धांत तय करती है और बताती है कि क्या उचित हैं।

समाजवादी आलोचक

चूंकि विधेयक की योजनाओं में कोई बड़ी गड़बड़ी या सिद्धांतगत गड़बड़ी नहीं है, इसलिए समाजवादी आलोचकों ने मुआवजे की प्रस्तावित बड़ी रकम को मुद्दा बनाया है। वे चाहेंगे कि ज़मीनों का पुनर्वितरण होने और सीमान्त, खुदकाश्त और बागान की ज़मीनों के अधिकारों की कटौती के बाद मुआवजे की अदायगी हो, और वे यह नहीं चाहेंगे कि किसी को एक लाख रुपये से ज़्यादा मुआवज़ा दिया जाए। फिलहाल उन्हें जैसा भी अच्छा लगे, या जो कहें लेकिन उनके खुद अपने ही नेता आचार्य नरेन्द्र देव ने ज़मींदारी उन्मूलन समिति को पेश किये गये ज्ञापन में ऐसी कोई शर्त नहीं जोड़ी थी। उन्होंने किसी भी व्यक्ति को अधिकतम मुआवजे की सीमा पांच लाख रुपये रखी थी और पूरे मुआवजे का हिसाब एक सौ करोड़ रुपया लगाया था। बड़े फार्मों में कटौती का मुआवजे की अदायगी से लेना–देना है या नहीं और क्या १०० करोड़ रुपया और १३७.५ करोड़ रुपये के बीच इतना बड़ा फर्क है कि इस बात को लेकर पागल हुआ जाय या इस मुद्दे को बढ़ा–चढ़ाकर सैद्धांतिक विरोध की स्थिति बनाई जाए, यह पाठक ही तय करेंगे। अब चूंकि मुआवज़ा देना ही है, तो इसके बस दो ही रास्ते हैंः 'राज्य' या तो किस्तवार बॉण्डों के रूप में इसका भुगतान

कर सकता है या काश्तकारों से कह सकता है कि वे नकद भुगतान करें। जो लोग पहले रास्ते की वकालत करते हैं, वे भूल जाते हैं कि सारे करों का भार अंततः उत्पादकों पर पड़ता है; मुआवज़ा अंततः काश्तकारों से ही आयेगा, जो ज़मीन जोतते हैं और जिनका देश के उत्पादकों में भारी बहुमत है। यह स्पष्ट है कि 'राज्य' किसी जादूगर की टोपी से मुआवज़ा पैदा कर, उसकी अदायगी नहीं करेगा।

भूमिधारी–अधिकार

विधेयक ने यह बात काश्तकारों पर छोड़ रखी है कि वे चाहें तो आज नकद अदायगी करें और उसके बदले में भूमिधारी अधिकार के साथ भूमिकर में ५० प्रतिशत की कटौती का फायदा हासिल करें, या जिस तरह आज भूमि–करों की अदायगी होती है, उसी तरह किस्तों में अदायगी कर और सीरदारी या महज खेती बारी करने के अधिकारों से संतुष्ट रहें। यह महत्त्वपूर्ण प्रावधान, मुख्यतः इस आधार पर कि खेतिहरों के पास अदायगी के लिए कुछ भी नहीं है, विरोध का केन्द्र बना है। अच्छी बात हैः अगर उनके पास नहीं है, तो उन्हें अदायगी के लिए कोई मजबूर नहीं करेगा। उत्तर प्रदेश सरकार को यह विश्वास है कि हालांकि शहरों में रहने वालों या औद्योगिक वर्गों की तरह कृषक वर्ग बहुत अच्छी स्थिति में नहीं है या वे विकसित देशों के कृषक वर्गों की तरह खुशहाल नहीं हैं, फिर भी उनके पास इतना साधन जरूर है कि वे अपनी जमाबंदी की दस गुना रकम अदा कर सकें। १९४० में देश में जारी करेंसी नोटों की कीमत २९० करोड़ रुपये थी; १९४५ में वह बढ़कर ११८० करोड़ रुपये हो गयी। अगर व्यापारियों और उद्योगपतियों ने युद्ध के दौरान अपने खजानों में रुपयों का अम्बार बढ़ाया, तो तरल मुद्रा का एक बड़ा हिस्सा गांवों में भी पहुंचा। इसके फलस्वरूप ग्रामीण ऋणग्रस्तता १९४२ तक पूरी तरह, कम से कम उत्तर प्रदेश में, खत्म हो गयी। यह ऐसा सच है, जिसे गांवों के मामलों से ताल्लुकात रखने वाले जान सकते हैं।

साथ ही, आलोचक यह नहीं समझ पाते कि किसान में ज़मीन के लिए एक तीव्र ललक होती है; दरअसल किसान होने पर ही ज़मीन की लालसा को समझा जा सकता है। ज़मीन से एक सुरक्षा–बोध होता है और भविष्य में फायदे का इससे आश्वासन मिलता है, जो किसी दूसरी सम्पत्ति से नहीं मिलता।

यह जीवंत सम्पत्ति है। पैसा और दूसरी सम्पत्तियां इस्तेमाल करके खत्म की जा सकती हैं, मगर ज़मीन नहीं। आदमी मर जाता है, लेकिन

ज़मीन रहती है। कई पीढ़ियों से किसान उस दिन का सपना देखता रहा है, जब उस ज़मीन को, वह जिसे जोतता है, अपनी कह सकेगा। आज वह सपना पूरा हुआ है। इच्छा की यह पूर्ति या संतोष, जो खेतिहर अपनी ज़मीन पर पूर्ण स्वामित्व से महसूस करेगा, उसकी तुलना क्या पैसे या किसी भौतिक चीजों से की जा सकती है? नहीं, यह सोचना ही असम्भव है। भूमिधर बनने के लिए वह अपनी सारी दूसरी चीजों को त्याग सकता है, यहां तक कि अपनी पत्नी के जेवरों को भी।

खेतिहर की उपलब्धियां

खेतिहर की उपलब्धि, अगर पैसे के ख्याल से भी आंकी जाएं, तो वह परिणम की दृष्टि से बहुत ज़्यादा है। मान लीजिए उसके पास पांच एकड़ ज़मीन है, औसतन वह आज २५ रुपया भूमि–कर देता है। अगर वह २५० रुपये दे दे, तो भविष्य में वह सालाना १२.५० रुपया देगा, जो किसी भी हालत में अगले चालीस वर्षों तक नहीं बढ़ाया जायेगा। इसका मतलब है कि वह ४० वर्षों में ५०० रुपये की आमदनी करेगा या बचत करेगा, जो आज के उसके भुगतान की दूनी रकम है। बैंक की दर से २५० रुपया इस अवधि में बढ़कर कुल ४०० रुपया ही होगा। साथ ही, चूंकि भूमिधारी अधिकार हासिल करने के कारण वह आज अपनी ज़मीन नहीं बेच सकता या उस पर कर्ज नहीं ले सकता, अतः डेढ़ हजार रुपया प्रति एकड़ की दर से उसकी ज़मीन की कीमत बढ़कर कम से कम साढ़े सात हजार रुपया हो जायेगी। इस योजना से देश और प्रदेश को काफी फायदा होगा।

आज हमारा उत्पादन लगभग उतना ही है, जितना १९३९ में था, जबकि उस समय से करेंसी चार गुना बढ़ गयी है। मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार कीमतें भी चार गुना या बिलकुल सही–सही कहा जाए तो ३७८ प्रतिशत बढ़ी हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की गांवों में मांग बढ़ी है और हम इसकी पूर्ति नहीं कर सकते। कृषि और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने की हमारी योजना फलीभूत होने में पांच से दस साल लगेंगे। नतीजतन उपभोक्ता, जिसके पास आज क्रय–शक्ति है, विदेशी वस्तुएं खरीदने लगा है, जिससे पूरे देश पर ९५ करोड़ रुपये का प्रतिकूल असर पड़ा है। किस्त बॉण्डों के जरिये मुआवज़ों के भुगतान के कारण १३७.५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त नयी राशि पैदा होती है, जिसका बाज़ार पर गहरा असर पड़ता है। किसानों द्वारा नकद भुगतान का मतलब लाखों–लाख जेबों से क्रय–मुद्रा का सफाया कर, उसे महज

३० हजार जेबों में बड़ी–बड़ी मात्राओं में इकट्ठा करना है, क्योंकि उन जमींदारों की इतनी ही संख्या है, जो २५० रुपये से ज़्यादा भूमि राजस्व का भुगतान करते हैं। इसका मतलब है कि ज़मींदारी उन्मूलन के बाद उपभोक्ता वस्तुओं के खरीददार कई गुना कम होंगे, और कीमतें घटेंगी। आर्थिक स्थिति बिगड़ने के बजाए सुधर जाएगी।

बॉण्ड

बॉण्ड जारी करने का मतलब प्रदेश के भविष्य को लगभग चालीस साल के लिए बंधक रखना था। और अगर बाज़ार में मंदी हुई, तो भूमिकरों को कम करने की मांग होगी, जिसे, चूंकि किसानों के पास वोटों का प्रतिशत बहुत ज़्यादा है, अस्वीकार करना बिल्कुल मुमकिन नहीं होगा। इस मांग की स्वीकृति का नतीजा राष्ट्र–निर्माण की गतिविधियों में प्रदेश की क्षमता को कुंद बनाना होगा, या भू स्वामियों को किये गये वायदों से मुकरना होगा, और बॉण्डों को अगर खारिज नहीं, तो उनका अवमूल्यन करना होगा।

आत्मिक संतुष्टि

इस प्रावधान से जमींदारों के दिलों को और ज़्यादा शांति मिलनी चाहिए; आखिर, बड़े जमीदार को तो बाज़ार मूल्य नहीं अदा किया जा रहा था। बड़े जमींदार का तर्क था कि जो भी मुआवज़ा उसे मिलना था, उसे चालीस वर्षों के दरम्यान बांटना और उसके अवमूल्यन या खारिज होने के खतरे की सम्भावना बनी रहना उचित नहीं था। यह समझना मुश्किल नहीं है कि जमींदार की बातों में दम था। अब.उसे रकम नकद मिलेगी और वह उससे जो चाहे कर सकता है। यह इस योजना के बारे में एक और अच्छी बात है। क्योंकि वह पैसे को कार खरीदने, अलशेसियन कुत्तों या रेस के घोड़ों आदि पर जाया नहीं कर सकता, वह उन्हें उद्योगों में नियोजित करेगा, जो मध्य वर्गों द्वारा बचत और नियोजन की अक्षमता के कारण पूंजी के अभाव में संकटग्रस्त रहे हैं।

ज़्यादा पूंजीपति

दूसरी आपत्ति यह ज़ाहिर की जा रही है कि इस योजना से जितने जमींदार खत्म किये जा रहे हैं, उससे भूमिधरों के रूप में कई गुना

ज़्यादा पूंजीपति या जमींदार बनाए जा रहे हैं जिससे शोषण जारी रहेगा। लेकिन अगर विधेयक को ध्यान से पढ़ा जाए, तो इस तरह के सारे भय दूर हो जायेंगे। दरअसल जो खत्म किया जा रहा है, वह जमींदार–खेतिहर रिश्ते की व्यवस्था है, न कि ज़मीन से जुड़े सारे हितों की। इसके लागू होने पर प्रदेश में कोई छोटा या बड़ा काश्तकार नहीं रहेगा। उत्तर प्रदेश में उपकाश्तकार भी नहीं रहेंगे, जिन्हें कभी कोई अधिकार या किसी अधिकार का आश्वासन नहीं मिला था। पांच साल बाद उनकी भूमिधरों के रूप में उन्नति होगी, और चूंकि पट्टदारी पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाया जा रहा है (विकलांगों को छोड़कर, जिनके लिए विकलांगता की अवधि तक इसकी छूट रहेगी), भविष्य में भी कोई शोषक काश्तकार पैदा नहीं होगा, और इसलिए कोई जमींदार भी नहीं रहेगा। भूमिधर को महज हस्तांतरण का अधिकार मिलने से वह शोषक नहीं हो जाएगा, क्योंकि ज़मीन सिर्फ वही खरीदेगा या अपने कब्जे में रखेगा, जो उसे खुद जोतने के लिए तैयार हो। समाज के लिए यह बात मायने नहीं रखती कि किसान के रूप में 'अ' की जगह 'ब' ले लेता है। सरकार की चिंता बस यही है कि भविष्य में कोई शोषक पैदा न हो और इसकी पूरी व्यवस्था कर दी गई है। भविष्य के लिए फार्मों की ऊपरी सीमा तय कर खेतों में काम करने वाले श्रमीकों के शोषण की गुंजाइश काफी हद तक खत्म कर दी गयी है। उपर्युक्त स्थितियों में भूमिधर को किसान–मालिक या पूंजीपति बनाने की बात करना तथ्यों को गलत ढंग से पेश करना है पूंजीपति का असल काम पूंजी संग्रह करना है, जो वह (भूमिधर) नहीं करेगा। हालांकि कभी–कभी वह दूसरों से काम कराएगा, परन्तु अधिकतर शारीरिक श्रम वह खुद करेगा।

अलाभकारी जोतें

एक और आलोचना, जिसको विरोधी ज़्यादा तरजीह देते हैं, की गई है कि विधेयक में अलाभकारी जोतों का कोई निदान नहीं दिया गया है। पाठक याद करेंगे कि भविष्य में अलाभकारी जोतें वजूद में न आएं, इसका ख्याल किया गया है। साथ ही, गांव में सहकारी खेती न होने पर किसी अलाभकारी ज़मीन धारक का ज़मीन पर पहला दावा होगा, जिसे ग्रामीण समुदाय पुनः अपने कब्जे में ले सकता है। फिर भी, बहुत स्पष्ट कहा जाए, तो अलाभकारी जोतें हैं और रहेंगी, क्योंकि ज़मीन इतनी ज़्यादा नहीं है कि हरेक आदमी को दी जा सके, और इसे पैदा नहीं किया जा सकता।

समाजवादी प्रवक्ताओं ने प्रदेश की विधान सभा में निदान के दो तरीके सुझायेः बड़े फार्मों को, मसलन जो ५० एकड़ से ज़्यादा बड़े हैं, तोड दिया जाए, और अतिरिक्त ज़मीन अलाभकर जोत वाले किसानों को दे दी जाए।

पुनर्वितरण

अब प्रदेश में कम से कम ७५ लाख किसान परिवार हैं। क्या यह प्रस्ताव अमल में लाना सम्भव है कि उन सबको भूसम्पत्तियों से बेदखल कर दिया जाए और सभी में ज़मीनों को बराबर–बराबर बांटा जाए? कुछ भी असम्भव नहीं हो सकता, मगर ऐसा करने में ५० साल लग जायेंगे, उस समय तक, अगर देश प्रगति के रास्ते पर सफलतापूर्वक बढ़ता रहा, तो ऐसा करना आवश्यक नहीं रह जायेगा। लेकिन, मान लीजिए कि ऐसा पुनर्वितरण सम्भव है और एक दिन में किया जा सकता है, तो क्या बराबर की मई नयीं जोतें लाभकारी होंगी? आज कुल ४१३ लाख एकड़ क्षेत्रफल की ज़मीन पर खेती होती है। हरेक परिवार को लाभकारी जोत के लिए, जो खुद समाजवादियों के अनुसार १२.५ एकड़ प्रति परिवार है, हमें ९०० लाख एकड़ ज़मीन की ज़रूरत होगी। और महज ८० लाख एकड़ ज़मीन को 'कृषि योग्य परती ज़मीन' करार दिया गया है, जिसका एक बहुत छोटा उपयोग उद्धार के लायक है। ये आलोचक ४८७ लाख एकड़ या लगभग उतनी ज़मीन की ज़रूरत को कहां से पूरा करेंगे?

जहां तक बड़े फार्मों को तोड़कर छोटा करने की बात है, तो सिर्फ नौ हजार ऐसे जमींदार हैं जिनके पास ९ लाख एकड़ सीर और खुदकाश्त की ज़मीन है, यानि प्रत्येक के पास औसतन १०० एकड़। इन फार्मों से बांटने के लिए ४.५ लाख एकड़ ज़मीन हासिल हो सकती है, इस आकार के फार्मों की तादाद उतनी ही हो सकती है, मगर सही–सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। बहरलाल, नौ लाख एकड़ के इस अतिरिक्त क्षेत्रफल के कितने लाभकारी फार्म बन सकते हैं? हमें मालूम होना चाहिए कि वर्तमान फार्मों में से दो–तिहाई से कम फार्म अलाभकारी हैं। साथ ही, अगर हम फार्मों को तोड़ना, अतिरिक्त ज़मीनों की हदबंदी करना और इसको चाहने वाले बहुत से लोगों में से बहुत थोड़े लोगों में इसका निबटारा करना तय करते हैं, तो हमें अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए कम से कम और पांच साल तक अवश्य इंतजार करना पड़ेगा। इसके अलावा, बड़े फार्मों को छोटा करने के इस काम का, जिससे कृषक की स्थिति में कोई संतोषजनक राहत नहीं पहुंचने वाली है, ज़मींदारी को खत्म करने के उद्देश्य से कोई लेना–देना नहीं है, और अगर देश के हित में ऐसा

करने की ज़रूरत पड़ती ही है, तो यह सुविधा से, भविष्य में कभी भी किया जा सकता है।

भूमिहीन मजदूर

एक और आलोचना, जो सुनने में आयी है वह यह है कि इस विधेयक में भूमिहीनों के लिए आशा का कोई संदेश नहीं है। इस सिलसिले में एक भय को, जिसे ज़ाहिर किया गया है, दूर करना अप्रासंगिक नहीं होगा, और वह यह है कि पट्टेदारी पर प्रतिबंध लगने के कारण कोई अपनी ज़मीन अपने फार्म मजदूर को दिहाड़ी के बदले नहीं देगा या साझेदारी में खेती नहीं करेगा। अतः भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति और बिगड़ने की सम्भावना है। इस तर्क का कोई आधार नहीं है। इन दोनों किस्मों के रोज़गार की स्थिति में कतई कोई परिवर्तन नहीं किया गया है, और वह आज भी वैसी ही है, जैसी पहले थी। विधेयक के तहत दिहाड़ी के बदले में ज़मीन देना उसके सेवा काल तक के लिए सम्भव है, और काम करने के लिए साझेदारी का मतलब पट्टेदारी नहीं होगा।

भूमिहीनों के हित में सकारात्मक कदम उठाने के रूप में विधेयक ने उन सारी ज़मीनों पर, जिन पर खेती नहीं होती, ग्रामीण समुदाय को अधिकार दिया है। इससे वर्तमान स्थितियों में उनकी जितनी दिलचस्पी ज़मीन में सम्भव है, उसकी गुंजाइश दी गयी है। साथ ही, उन्हें अपने मकानों का मालिक घोषित किया गया है, जिनसे कल तक इच्छानुसार उन्हें बिना मुआवज़ा दिये निकाल बाहर किया जा सकता था।

सहयोग और दबाव

समस्या के किसी बेहतर हल के अभाव में कुछ आलोचक यह सुझाव देने के लिए मजबूर हैं कि अलाभकारी जोतों की समस्या से उबरने और भूमिहीनों को रोज़गार देने के लिए सहकारी कृषि को अनिवार्य बनाया जाए। जैसाकि हम देखेंगे, सहकारी कृषि को भुलाया नहीं गया है। लेकिन पूरे तौर पर इसे लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। 'अनिवार्य सहकारिता' का कोई मतलब है? वह 'अनिवार्य सामूहिक कृषि' भी हो सकती है, जिसे, कोई अपनी कल्पना–शक्ति का चाहे कितना भी इस्तेमाल करे, 'सहकारी कृषि' नहीं कहा जा सकता। साथ ही, अगर अनिवार्य समूहीकरण सम्भव हो, तो क्या उससे समस्या हल हो जाएगी? पहला, अनिवार्यता के दबाव से किसानों को मिलने वाला आवश्यक प्रोत्साहन

खत्म हो जाएगा और उत्पादन घट जाएगा। सामूहिक कृषि में श्रम साधनों के एकत्रीकरण से आज का स्वतः नियमित किसान मजदूर में बदल जाएगा, जिसका आखिरी दम तक वह विरोध करेगा। दूसरे, छोटी–छोटी जोतों को खत्म करने के पीछे मुख्य कारण यह है कि उनसे उनके वर्तमान धारकों को पूरा काम नहीं मिल पाता। लेकिन क्या बड़ी इकाइयों में उनके विलय से उनके वर्तमान धारकों को ही नहीं बल्कि दूसरे २५ प्रतिशत अतिरिक्त हाथों को काम मिल जाएगा, जिसकी बेहद ज़रूरत है? नहीं, ऐसा नहीं होगा। साथ ही, सहकारी या सामूहिक कृषि से भूमिहीनों को काम मिलने के बजाय बेरोज़गारी बढ़ेगी, क्योंकि मवेशियों का संयुक्त स्वामित्व सम्भव नहीं है और मशीनें ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल में आने लगेंगी, जो श्रमिकों की जगह ले लेंगी।

तब और क्या निदान है? वह पूरे ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता के आधार पर संगठित दस्तकारी या छोटे कुटीर उद्योगों तथा छोटे मशीनीकृत उद्योगों का जाल बिछाना है। इन उद्योगों को बिजली की आपूर्ति जल–विद्युत् बांधों से होगी, जो निर्माणाधीन हैं। सिर्फ यही विकेन्द्रित उद्योग है, जिससे विशाल जनसंख्या को, जो भारत में पूंजी की तुलना में ज़्यादा आसानी से उपलब्ध हैं, और जिन्हें आज या तो कोई काम नहीं है या जिन्हें पूर्ण रोज़गार हासिल नहीं है, रोज़गार मिल सकता है। यह तथ्य अब पूरी दुनिया में स्वीकार किया जाता है कि बड़े उद्योग की तुलना में छोटा उद्योग प्रति इकाई ज़्यादा रोज़गार देता है। वह दौर बहुत पहले गुजर गया, जब व्यापक स्तर पर उत्पादन का मूल्य घटाने के जरिए मांग और उत्पादन बढ़ाकर उद्योग का विस्तार होता था और इसलिए रोज़गार बढ़ता था। अब तकनीकी विकास के कारण हमें अतिरिक्त धन पैदा करने के लिए आनुपातिक रूप से कम से कम आदमियों की ज़रूरत पड़ती है। इसका नतीजा यह कि बड़े स्तर पर उत्पादन करने वाले उद्योग आज उतने प्रतिशत लोगों को रोज़गार नहीं दे पाते, जितना कि पहले देते थे।

मानव–शक्ति

लेकिन अगर इतनी ज़मीन उपलब्ध भी होती कि सारी मानव–शक्ति को काम दिया जा सके, तब भी यह जरूरी है कि हमारे देश के लोग आज कृषिक रोज़गार के बजाय औद्योगिक–रोज़गार चुनें या उन्हें औद्योगिक रोज़गार उपलब्ध कराया जाना चाहिए। किसी न्यायपूर्ण समाज में श्रम को उसकी मात्रा और गुण, यानी जितनी ऊर्जा खर्च की गयी हो और जिस तरह की दक्षता हो, उसके अनुसार पुरस्कार मिलना चाहिए, ताकि एक

घंटे के श्रम, मसलन खेत जोतने के श्रम, के बदले उतना ही पुरस्कार मिल सके, जितना कारखाने के एक मामूली मशीन वाइन्डर को एक घण्टे के श्रम के बदले मिलता है। लेकिन २२ देशों के आंकड़ों के आधार पर एक अर्थशास्त्री द्वारा की गयी गणना के अनुसार, "कृषि गतिविधि की तुलना में दूसरी सारी गतिविधियां औसतन ४.३५ प्रतिशत ज़्यादा उत्पादक हैं।" इस असमानता की वजह बताने की यहां मुझे ज़रूरत नहीं है, लेकिन यही वजह है कि तुलनात्मक रूप से कृषक वर्ग हर जगह हमेशा गरीब रहा है। वह समाज के औद्योगिक, व्यापारिक व दूसरे हिस्सों से ज़्यादा गरीब रहा है। और फिर यही वजह है कि सारे देशों में राजनेताओं द्वारा जान–बूझकर लागू की जाने वाली नीतियों के नतीजों में ग्रामीण आबादी का, यहां तक कि खेती पर सबसे ज़्यादा निर्भर करने वाले देशों में भी, ह्रास हो रहा है और वह समय के दौरान पूरी आबादी का छोटा और फिर और ज़्यादा छोटा हिस्सा बनती जा रही है। लेकिन हमारे देश की कहानी अलग है। यहां सीधे–सीधे खेती पर निर्भर करने वाली आबादी का अनुपात १८९१ में ६१ प्रतिशत से बढ़कर १९२१ में ७३ प्रतिशत हो गया और उद्योगों पर निर्भर आबादी का प्रतिशत १८९० में १२.३ से घटकर १९३१ में ९.७ रह गया।

विकेन्द्रीकरण

इसलिए यह देश के या भूमिहीन लोगों के हित में नहीं होगा कि उन्हें कृषि के पेशे से बांध दिया जाए। मानकीकरण तथा जल–विद्युत से आज यह किसी भी देश के लिए सम्भव हो गया है कि वह आबादी के केन्द्रीकरण के बिना, जैसा कि पिछली शताब्दी में बड़े नगरों में हुआ था, या गांवों से उनके मौलिक सम्बंध को खत्म किए बिना, औद्योगीकृत हो सके। इसलिए बेरोज़गारी के एक मात्र निदान के रूप में हमें अपनी ऊर्जा को विकेन्द्रीकृत उद्योग की ओर मोड़ना होगा। उद्योग और कृषि के बीच सचमुच एक सही संतुलन स्थापित करने के लिए हमें अपने किसानों की आबादी के, जिसे पूर्ण रोज़गार उपलब्ध नहीं है, एक अच्छे–खासे प्रतिशत को उद्योगों की ओर ले जाना होगा।

इस सिलसिले में एक और सवाल से निबटना संदर्भ के परे नहीं होगा: समाजवादी आलोचक यह भविष्यवाणी करते हैं कि निकट भविष्य में ग्रामीण समाज का विकास दो स्पष्ट खेमों में होगा और दोनों में अवश्यम्भावी टकराव होगा–एक तरफ शोषक भूमिधर होगा और दूसरी ओर शोषित भूमिहीन मजदूर। लेकिन १९३१ की जनगणना के अनुसार

उत्तर प्रदेश में, जबकि किसानों की तादाद १३,८०७,१५७ थी, भूमिहीन मजदूरों की तादाद महज ३,४१९,१८५ थी। दोनों का अनुपात १० : २५ था। इसलिए ऐसे समाज में, जहां काम देने वाले सम्भावित मालिकों की तादाद की तुलना में रोज़गार के लिए उपलब्ध व्यक्तियों की तादाद बहुत ज़्यादा है, दिहाड़ी दासता या सर्वहारा का सवाल नहीं उठ सकता और नतीजतन वर्ग–युद्ध का सवाल पैदा नहीं होता।

उत्पादन

एक अन्य आपत्तिः ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्होंने शिकायत की है कि यह उन्मूलन योजना गरीबी से राहत दिलाने या उत्पादन बढ़ाने में सहायक नहीं होगी। बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि चाहे जो हो, यह योजना ज़्यादा उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देती है और ऐसा कोई और योजना नहीं कर सकी है। हमें यह मालूम है कि एक किसान, जो अपनी ज़मीन का मालिक भी है, किसी काश्तकार या दिहाड़ी के मजदूर से ज़्यादा कड़ी और ज़्यादा घंटों तक मेहनत करता है। जो इस बयान की सच्चाई जानना चाहते हैं, वे मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों के गांवों में जाकर उनकी स्थिति की तुलना अवध के गांवों से कर सकते हैं। दोनों में बेहद फर्क है; और इसकी वजह उन दोनों जगहों की काश्तकारी में है। मेरठ और मुजफ्फरनगर के गांवों में अधिकांश खेतों पर स्वामित्व और कब्जा एक ही हाथ में होता है, अवध में ऐसा नहीं है।

दूसरे, ऐसा दावा कहीं नहीं किया गया है कि हम ज़मींदारी खत्म करने के अलावा उत्पादन बढ़ाने के लिए और कुछ नहीं करना चाहते। उत्पादन के कारक के रूप में स्वामित्व के जादू के साथ–साथ पानी, खाद, अच्छा बीज, शिक्षा और गांवों को बाज़ारों से जोड़ने के लिए सड़कों की ज़रूरत है। उत्तर प्रदेश सरकार पूरी ईमानदारी से इन चीजों को उपलब्ध कराने के लिए कार्यरत है, लेकिन यहां इन योजनाओं की विस्तार से चर्चा करना अनावश्यक है।

एक सुझाव का ठुकराना

उत्तर प्रदेश विधान सभा में जमींदारों के नेता ने बड़े भोले ढंग से सुझाव दिया कि विरोध की स्थिति में ऐसे व्यापक विधेयक को पेश करने के बजाय सरकार एक छोटा विधेयक पेश कर सकती थी, जिससे जमींदारों को लगान का दस गुना भुगतान करके काश्तकार उसी से स्वामित्व का

अधिकार सीधे–सीधे हासिल कर सकते हैं। और, कि जमींदार इसका स्वागत करेंगे।

शायद, यहां यह बताना अनुचित नहीं होगा कि मैंने १९३९ में 'भूमि उपयोग विधेयक' के नाम से एक विधेयक बिल्कुल इसी नजर से तैयार किया था, लेकिन निम्नलिखित कारणों से उसे मंत्रिमंडल के विचार–विमर्श के लिए पेश नहीं किया गया। पहला कारण है कि अगर मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता, तो ग्रामीण समुदाय को कोई ज़मीन नहीं मिलती। छोटे जमींदारों को जो कुछ मिलेगा, उससे कम मिलता। इस योजना के तहत धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाएं अपनी आमदनी से, जिसकी वर्तमान विधेयक में गारंटी दी गयी है, महरूम हो जातीं 'राज्य' को ज़मीन पर बचे–खुचे अधिकार से धोखे से वंचित किया जाता, जो अब राज्य के पास रहेगा और जमींदार अभी भी उन काश्तकारों पर, जो पैसे की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं, अपना स्वामित्व चलाते हैं।

उपर्युक्त ही मुख्य आपत्तियां हैं जो की गयी हैं। पाठक पाएंगे कि विधेयक जिस रूप में है, उसे वह शक्ल देने में प्रदेश सरकार किसी नारे से प्रभावित नहीं हुई है और साधनों को लेकर किसी भ्रम में नहीं रही है। देश के हालात पर, जहां आबादी की तुलना में ज़मीन बहुत थोड़ी है और जिस तरह की सभ्यता हम विकसित करने की आशा करते हैं, गौर करते हुए सरकार ऐसा कदम उठाने में हतोत्साहित नहीं हुई है, जो हमारी ज़रूरतों को बेहतरीन ढंग से पूरा करता है, और न ही इस पर उसे किसी समाजवादी या साम्यवादी स्वीकृति की मुहर की दरकार रही हो। काश्तकार, जो लम्बे काल तक दुःख–दर्द झेलते रहे हैं और ज़मींदार जिन्होंने उन्हें बेहद भयभीत किया व सताया है, दोनों समाप्त हो जाएंगे। उनकी जगह एक किसान का उदय होगा, जो एक साथ ही ज़मीन का मालिक और रोजी कमाने वाला होगा; मिश्रित हितों की यह स्थिति मार्क्सवादी सिद्धांतों को चुनौती देती है। हमारी अवधारणा का भूमिधर जनतंत्र का आधार होगा और वह समाज की सारी बुराइयों और उसमें दरार पैदा करने वाली हवाओं, जो किसी भी दिशा से बह सकती हैं, के सामने अड़िग खड़ा होगा।

११
काले धन का विमुद्रीकरण

आज देश में काले धन की समानान्तर अर्थ–व्यवस्था का संकट है। चौधरी चरणसिंह ने काले धन में वृद्धि तथा 'काले धन को कैसे बाहर निकाला जाए' इस मुद्दे पर एक नोट तैयार किया था तथा १९६७ में जब वह उत्तर प्रदेश की संविद सरकार में मुख्यमंत्री थे, उन्होंने यह नोट सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों को भेजा था। इस नोट में दिये गये सुझाव आज भी प्रासंगिक हैं।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि तकरीबन पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान भारत में मुद्रा का काफी प्रसार हुआ है। प्रसार की इस सीमा को निम्नलिखित आंकड़ों के जरिये समझा जा सकता है:

तिथि	सक्रिय प्रसार वाले नोटों का मूल्य (करोड़ रुपयों में)	टिप्पणी
३१ दिसम्बर १९३९	२७१.५७	एक रुपये के सिक्के का कुल ६४.०४ करोड़ रुपये मिलाकर
३१ दिसम्बर १९६५	२,७४४.००	
२६ मई १९६६	२,९७७.२०	

युद्धकालीन वर्षों की चर्चा करते हुए इलाहाबाद बैंक ने अपने शतवार्षिकी अंक (१९६१) में उल्लेख किया, "बात सिर्फ इतनी नहीं कि कीमतें बढ़ीं, बल्कि जमाखोरी एवं काला बाज़ारी भी भरपूर हुई, इस हद तक कि १९४२–६५ की अवधि में बेहिसाब धन की जमकर बढ़ोतरी हुई–ऐसा धन, जिस पर टैक्स नहीं दिया गया था। नतीजतन उसके कुछ ही वर्ष बाद इस समानान्तर अर्थ व्यवस्था में उस धन के प्रसार के कारण ही अपने आप में एक समस्या खड़ी हो गयी।

इन्हीं समस्याओं से आज हमारा सीधा साक्षात्कार हो रहा है।

इस समानान्तर अर्थ–व्यवस्था या देश में काले धन के प्रसार सम्बन्धी कई आंकलन हुए हैं और इन आंकलनों के मुताबिक काला धन कम से

कम ५०० करोड़ रुपये और ज़्यादा से ज़्यादा १३७२ करोड़ रुपये है, जो ३१ दिसम्बर १९६५ तक जारी की गई कुल मुद्रा का आधा होता है। पिछले दो साल में स्वैच्छिक घोषणा के तहत या आयकर विभाग द्वारा मारे गये छापों में जितना काला धन बरामद किया गया, वह वस्तुतः कुल काले धन का नगण्य प्रतिशत भर ही है।

काला धन बिल्कुल अनुत्पादक होता है, क्योंकि न तो इससे उद्योग स्थापित हो सकते हैं और न ही उत्पादन के किसी सुनिश्चित जरिये में उसका निवेश हो सकता है। यह करों की चोरी का जरिया भी है। वैसे व्यापार में इस मुद्रा के प्रसार एवं निजी उपयोग की वस्तुओं पर उसके अनाप—शनाप उपयोग के कारण कीमतें बढ़ती जाती हैं। उदाहरण के तौर परः

एक सरकारी कर्मचारी 'अ' अपनी फियेट कार को किसी व्यापारी 'ब' के हाथों, मान लें, २४,००० रुपये में बेचता है। 'ब' इसके लिए १४,००० रुपये सफेद धन में देता है एवं १०,००० रुपये काले धन में, रसीद सिर्फ १४,००० रुपये की होती है।

अब 'अ' इस काले धन को निपटाने/ठिकाने लगाने के लिए निम्नलिखित तरीकों में से कोई एक अपनाता है

(क) वह उच्च स्तर का रहन—सहन अपनाता है, कुछ महीने एवं वर्षों तक, जब तक वह धन प्रसार में नहीं आ जाता है।

(ख) वह 'स' से कुछ ठोस चीजें, मान लें ३०,००० रुपये में खरीदता है, जिसमें २०,००० रुपये सफेद धन होता है एवं १०,००० रुपये काला धन।

'स' भी ऊपर दिये गये, दो में कोई एक तरीका काले धन को ठिकाने लगाने के लिए अपनाता है।

'अ' एवं 'स' अपने काले धन से कभी भी १०,००० रुपये के मूल्य के बराबर सोना खरीद सकते हैं। सोने का व्यापारी तस्करी में और भी ज़्यादा से ज़्यादा लग जाता है और जिनके पास काला धन है, उन्हें बेचता है।

बताया जाता है कि पिछले साल अप्रैल में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर पर पांच लाख रुपये का सोना हिन्दुस्तान में पकड़ा गया।

भारत में सोने, मोतियों एवं बहुमूल्य पत्थरों की जितनी विशाल पैमाने पर तस्करी एवं बिक्री होती है, उसका सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है। हालांकि सोने के तस्करों को पकड़ने की कुछ कोशिशें हुई हैं लेकिन अभी तक मोतियों एवं बहुमूल्य पत्थरों के तस्करों को कभी छुआ भी नहीं गया है। काले धन का प्रयोग तस्करी और सोने की खरीद में होता है, यह खुद पूर्व वित्तमंत्री ने ही स्वीकार किया था। अखबारों में

प्रकाशित एक समाचार के अनुसार पिछले साल उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि अवमूल्यन से एक फायदा भी होगा, क्योंकि जमाखोरी करके इकट्ठा किये गये रुपयों से सोना ही खरीदा जाता है।

कुछ सरकारी हलकों में यह विश्वास है कि 'काला धन' निष्क्रिय धन है या ज़्यादा से ज़्यादा यह कि इसका प्रसार हो सकता है लेकिन बहुत धीरे–धीरे। जबकि बैंक मालिकों एवं व्यापारियों को यह अच्छी तरह मालूम है कि 'काले धन' के प्रसार का वेग अगर ज़्यादा नहीं, तो श्वेत धन के बराबर का है ही।

व्यापारियों, उद्योगपतियों, ठेकेदारों, प्रबन्धक या रियासती प्रतिनिधियों, परिवहन मालिकों, भूतपूर्व जमींदारों एवं राजाओं, भ्रष्ट अधिकारियों, यहां तक कि कुछ राजनीतिज्ञों–खेद के साथ हमें इसे स्वीकार करना पड़ेगा–के पास पड़े हुए इस अनुत्पादक धन को निष्प्रभावी करने का एक ही तरीका है जो निम्नलिखित है–

प्रत्येक मूल्य के नोटों को फिलहाल मौजूदा नोटों से अलग रंगों में सरकार मुद्रित करे और इन नये नोटों से पुराने नोटों को बदलने के लिए छह महीने से लेकर साल भर तक का समय दे। निर्धारित तिथि के बाद पुराने सभी नोट अपने आप विमुद्रित हो जायेंगे, क्योंकि उनका कोई मूल्य ही नहीं रह जायेगा।

नाजायज तरीके से प्राप्त इस धन को बचाने के लिए इसके मालिक एक या उससे अधिक निम्नलिखित तरीकों में से अपनाने की कोशिश करेंगे–

(क) वे अपने 'काले' धन को रियायती कीमतों पर ऐसे लोगों को बेच सकते हैं, जो आयकर, बिक्री कर की अदायगी के बावजूद एक सीमा तक कुछ धन रखने की सामर्थ्य रखते हों, भले ही उनके पास ऐसे (सफेद) धन की मात्रा बहुत कम हो।

(ख) वे बड़ी संख्या में ऐसे लोगों को बहाल कर सकते हैं, जो विभिन्न स्थानों पर जाकर अनेक नामों से उनके काले धन को कम मूल्य के नोटों में बदल सकते हैं।

(ग) वे बड़े किसानों, जिन्हें मौजूदा कानून के तहत कोई आय या बिक्री कर नहीं देना पड़ता और आजकल माना जाता है कि उनके पास भी काफी धन हो गया है, के जरिये भी नोट–परिवर्तन का काम करा सकते हैं।

इस तरह के छल–कपट को रोकने या कम करने के लिए हमें तीन ऐसे फार्मों, जिनका स्वरूप पृष्ठ नं० ११७ पर दिया गया है, की कानूनन ज़रूरत पडेगी, जिसमें से किसी एक में ऐसे परिवर्तन का बाकायदा

उल्लेख होगा। बाद में ऐसे विवरणों की जांच से यह पता लगाया जा सकता है कि किसी भी आदमी के पास उतना अपवर्तित धन पहले से था, जितना उसके व्यापार, नौकरी या खेती के स्रोतों से घोषित या सम्भावित तौर पर, अगर आमदनी टैक्स योग्य नहीं है, हो सकता है।

फिर यह भय ही कि इस तरीके से उनका 'काला' धन उजागर हो सकता है, वैसे लोगों को पुराने नोटों (काले) को नये नोटों (सफेद) में बदलने से रोकेगा। इस प्रक्रिया में धोखाधड़ी के लिए जो दोषी पाये जायें, उनसे, अगर ज़्यादा नहीं तो कम से कम उतना ही जुर्माना वसूलने का प्रावधान हो, जितना काला धन उसके पास से बरामद हो।

उपर्युक्त विधियों के, जो छह से बारह महीने तक लागू रहेंगी, निम्न लिखित फायदे हैं–

(i) इसको लागू करने के लिए बहुत कर्मचारियों की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

(ii) कुछ खास मात्रा में नये नोटों का मुद्रण जैसे ही हो जाता है, इस योजना को लागू किया जा सकता है और उसके बाद जब तक परिवर्तन की अवधि बरकरार रहती है, मुद्रण जारी रखा जा सकता है।

(iii) स्वर्ण नियंत्रण कानून के विपरीत इस सिलसिले में नया विधान बनाने के लिए सरकार को संसद में जाने की ज़रूरत नहीं। यों भी सारे राजनीतिक दलों में मौजूदा स्वार्थी तत्त्व ऐसे विधान को गिराने के लिए एकजुट हो सकते हैं।

(iv) यह चुनाव–वर्ष है, फिर भी अगर इस आशय की घोषणा की जाती है, तो भी नोटों के परिवर्तन के मुद्दे पर सरकार की कोई आलोचना नहीं करेगा, यहां तक कि वामपंथी भी नहीं, व्यक्तिगत राय चाहे जो भी हो।

(v) अंत में, इस योजना का उद्देश्य ही है 'काले धन' के प्रसार को रोकना। जैसे ही इस योजना के पूर्ण विवरण की घोषणा की जायेगी, तस्करी से लाये गये सोने, बहुमूल्य पत्थरों, मोतियों, ट्रांजिस्टरों, घड़ियों, भवनों, व्यापार इत्यादि में इसका निवेश अप्रभावी हो जायेगा, क्योंकि यह जानकर कि इसे जल्दी ही नये नोटों से बदलना पड़ेगा, कोई भी 'काला' धन स्वीकार नहीं करेगा।

काला बाज़ारी, जमाखोरी एवं तस्करी इत्यादि की दीर्घकालिक तौर पर रोकथाम करने के लिए यह बाकायदा घोषित हो कि इस विधि को प्रत्येक पांच साल बाद या ज़रूरत पड़ने पर उससे पहले भी दुहराया जायेगा।

पूरे विश्वास के साथ यह उम्मीद की जाती है कि इससे देश की अर्थ

व्यवस्था को होने वाले लाभ इस प्रकार होंगे–

(क) ऐसी जिन्सों, जिनकी वास्तविक कमी नहीं है, की कीमतों में वृद्धि रुक जाएगी।

(ख) मात्र २५ प्रतिशत मुद्रा के विमुद्रीकरण के साथ ही कीमतों का गिरना तय है एवं यह गिरावट जितने प्रतिशत का विमुद्रीकरण होगा, उसकी मात्रा के हिसाब से कहीं ज़्यादा होगी। फिर, जैसे कीमतों में वृद्धि जमाखोरी की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है, उसी तरह दामों के गिरने से विक्रय को प्रोत्साहन मिलता है एवं स्नोवाल (बर्फ की गोली) के लुड़कने जैसा प्रभाव अस्तित्व में आता है।

(ग) हालांकि कृषि जन्य उपज की यथेष्ट कमी है, फिर भी उनकी कीमत उस मात्रा के अनुपात से शुरू में गिरेगी, जितना स्टॉक बाज़ार में लाने को जमाखोर मजबूर हो जायेंगे। मान लें, अगले साल भी कमी बनी रहती है, तो कीमतें फिर बढ़ेंगी और किसान भी अन्त में घाटे में नहीं रहेंगे।

(घ) औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्रों में 'काले' धन को खत्म करने के लिए उठाये गये कदम से व्यापारियों एवं दूसरे जमाखोरों के पास इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं बचेगा कि वे या तो सोने को बेचकर अपना जीवन–स्तर और उठाएं या उससे पूंजी प्राप्त कर अपने व्यापार में लगायें। जमा किये गये सोने को बाहर लाने के लिए स्वर्ण नियंत्रण कानून को तत्काल रद्द करना जरूरी लगता है–जिस पर भारत सरकार भी गम्भीरता से विचार कर रही है।

स्वर्ण बांड योजना असफल हो गयी, विशेषकर इसलिए कि सरकार ने सोने को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य के हिसाब से खरीदने की पेशकश की थी, जिसका देश के मौजूदा मूल्य स्तर से कोई सम्बन्ध नहीं था। स्वर्ण बांड योजना को देश के मौजूदा मूल्य पर सोने की खरीद के प्रस्ताव पर पुनः शुरू किया जा सकता है। एकत्रित सोने के बाज़ार में आते ही हमारी विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयां पूरी तरह समाप्त हो सकती हैं।

परिवर्तन के दौरान सामने आने वाली प्रशासनिक एवं अन्य कठिनाइयां–

(अ) ३१ दिसम्बर, १९६५ को जारी किये गये नोट निम्नलिखित अनुपात

में थे–

			नोटों की संख्या (करोड़ रु० में)
१० रुपये का नोट	१२१५.३३ करोड़ रुपये	या	१२१.५३३
१०० रुपये का नोट	९६९.१९ करोड़ रुपये	या	९.६९१

५ रुपये का नोट	२६१.५२ करोड़ रुपये	या	५२.३००
२ रुपये का नोट	४८.७१ करोड़ रुपये	या	२४.३५५
५००० रुपये का नोट	२२.८७ करोड़ रुपये	या	०.०४७४७
	२५१७.६२ करोड़ रुपये	या	२०७.८७९
१ रुपये का नोट	१८०.०० करोड़ रुपये	या	१८०.०००
	२६९७.६२ करोड़ रुपये	या	३८७.८७९
१००० रुपये का नोट	४६.३८ करोड़ रुपये	या	संख्या मालूम नहीं

इस तरह अगर प्रत्येक पुराने नोट को बदलने के लिए नये नोट की मांग हुई, तो भी मई १९६६ के अन्त तक जारी किये गये नोटों, जिन्हें बदलना है, के मूल्य के आंकलन के हिसाब से करीब ४२५.० करोड़ नोटों की ज़रूरत पड़ेगी। छह महीने या साल भर के अन्दर नासिक सिक्योरिटी प्रेस इतनी ज़्यादा तादाद में नोटों को छाप दे, यह सम्भव नहीं। इसके दो विकल्प हैं

(१) नासिक स्थित प्रेस अपनी क्षमता के अनुसार नोटों को छाप देगा, बाकी का मुद्रण विदेशों में कराया जा सकता है।

या

(२) एक रुपये का नोट शायद बदला नहीं जाए। लेकिन इसमें खतरा यह है कि एक रुपये के नोटों का मूल्य अचानक बढ़ जायेगा, क्योंकि उसे जमाखोर खरीद लेंगे, फिर जैसे ही उसकी आपूर्ति कम होगी, साधारण आदमी के रोजमर्रा का लेन–देन बुरी तरह अवरुद्ध हो जायेगा।

बहरहाल, पूर्ण विश्वास के साथ यह आशा की जा सकती है कि १०० रुपये एवं १० रुपये के नोट बड़ी संख्या में, साथ ही १००० रुपये के नोटों का भी मामूली अनुपात कभी भी अदला–बदली के लिए प्रस्तुत नहीं किया जायेगा।

भारत की कुल जनसंख्या ४८ करोड़ होने से ऐसे लोगों की संख्या शायद १० करोड़ से ज़्यादा नहीं हो सकती, जो नोटों को परिवर्तित कराएंगे। फार्मों को दुगुना कर समुचित संख्या में भारत की अनेक क्षेत्रीय भाषाओं एवं प्रपत्र में सुझाये गये रंगों में छापा जा सकता है, यानी, कुल २२ करोड़ फार्म छापने पड़ेंगे (२० करोड़ की ज़रूरत पड़ेगी एवं दो करोड़ मान लें, बर्बाद होंगे) यह बहुत मुश्किल नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस काम को अनेक मुद्रकों में बांटा जा सकता है।

देहाती इलाकों में प्रत्येक तहसील स्तर पर (मुद्रा) परिवर्तन की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इसके लिए जो फार्म लोगों को भरने पड़ेंगे, उसे प्रधानों, ग्राम सभापतियों एवं लेखपालों या पटवारियों के पास भेजा जायेगा। लेखपाल या ग्रामीण स्तर पर काम करने वाले ज़मीन के

नोट बदलने के समय प्रयुक्त होने वाला प्रपत्र

व्यापारी, उद्योगपति वगैरह — सफेद रंग में

क्र.सं.	नाम एवं पता	व्यवसाय की प्रकृति, जैसे दुकानदार, कारखाना, ठेकेदारी वगैरह	कर्मचारियों की संख्या/दैनिक मजदूर	कर्मचारियों का साप्ताहिक या मासिक वेतन	पिछले पांच साल की अनुमानित आमदनी एवं आयकर नम्बर	जितने नोटों को बदलना है, उनकी राशि

वेतनभोगी या निश्चित आय वाला वर्ग — हरे रंग में

क्र.सं.	नाम एवं पता	आमदनी का जरिया जैसे–जायदाद, वेतन वगैरह	आय पिछले पांच साल में जायदाद/वेतन	जितने नोटों को बदलना है, उसकी राशि

किसान — गुलाबी रंग में

क्र.सं.	नाम एवं पता	ज़मीन (एकड़ में) एवं भू–राजस्व	उपजाई गई फसल जैसे, ईख, तम्बाकू, गेहूं, मूंगफली, कपास	पिछले पांच साल की आमदनी का आंकलन/ब्यौरा	जितने नोटों को बदलना है, उसकी राशि

बंदोबस्त एवं भू–राजस्व से सम्बंधित कॉलमों को भरेंगे तथा ग्राम प्रधान से सलाह कर, संभावित आय वाला कॉलम भी। प्रधान की यह जिम्मेवारी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति जितने नोटों को बदलना चाहता है, उसका विवरण फार्म में दर्ज कर दे। इसके बाद प्रधान एवं लेखपाल के साथ नोट बदलने के इच्छुक गांव के सब लोग एक नियत दिन, तहसील मुख्यालय (बैंक) जाकर नोटों एवं फार्मों को जमा कर देंगे–जिसे तत्काल परिवर्तित कर, सम्बंधित लोगों के बीच वहीं–बांट दिया जायेगा।

अमूमन प्रत्येक तहसील में पहले से ही एक बैंक है, लेकिन जहां बैंकिंग सुविधा का अभाव है, वहां जिला सहकारी बैंक की शाखा खोली जा सकती है, ताकि गांव के लोगों की अगर वैसी इच्छा हो, तो अपना बैंक खाता खोलकर उसी समय अपना पैसा जमा कर सकें। एक बार ये सारे नोट बाहर आ गये, तो नोटों को इकट्ठा करने वाले या रखने वाले उसे यों ही घर में जमा कर रखने का खतरा मोल नहीं लेंगे। यहां तक कि (मुद्रा) परिवर्तन से हमारी ग्रामीण आबादी के बीच बैंक से लेन–देन करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी एवं गांवों में धन व्यर्थ पड़ा रहने के बजाए सूद अर्जित करने लगेगा।

१२
गरीबी और भाग्यवाद का सहसम्बन्ध

चौधरी चरणसिंह के अनुसार देश के अधिकांश लोग अपने भाग्य या किस्मत से संतुष्ट हो जाते हैं और इस तथ्य पर विश्वास नहीं करते कि वे अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। परिणाम यह है कि हमारा समाज अत्यधिक भाग्यवादी हो गया है और गरीबी की वृद्धि में यह स्थिति सहायक रही है। चौधरी साहब ने इस लेख में स्पष्ट किया है कि यदि देश को समृद्धिशाली बनाना है, तो लोगों की मौजूदा सामाजिक और आर्थिक अभिवृत्तियों में परिवर्तन करना होगा।[1]

हमारे देश के नेताओं का यह परम और पुनीत कर्तव्य है कि वे जनता को सोते से जगाएं और शिक्षित नवयुवकों का यह दायित्व है, विशेषकर उन नवयुवकों का, जो गांवों से आए हैं, कि वे इस आन्दोलन के सिपाही बनकर काम करें और महानता तथा समृद्धि के भव्य भवन की आधारशिला बनें, जैसा कि कभी हमारा देश था और जिसे हम एक बार फिर शानदार देश बनाने का स्वप्न देख रहे हैं। लेकिन यह कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे लोगों की अभिवृत्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो यथा—राष्ट्रीय स्तर पर मनोवैज्ञानिक परिवर्तन।

मानसिक अभिवृत्ति

कतिपय लोगों का यह विचार है कि यदि भारत मुगल साम्राज्य के पतन के बाद फूट का शिकार न बना होता और प्रतिद्वन्द्वी दलों में विभाजित न हुआ होता तथा बाद में भी ब्रिटिश सत्ता का गुलाम बनकर विदेशी

---

[1] इस लेख की सामग्री चौधरी चरणसिंह की पुस्तक—'इण्डियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६२ से ली गई है।

आर्थिक शोषण से आक्रांत न होता, तो भारत पश्चिमी देशों के अनुरूप आर्थिक प्रगति कर लेता लेकिन ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक स्वतंत्रता और स्थायित्व उसकी आर्थिक प्रगति का एक कारण तो हो सकता है, और होता भी है लेकिन यह केवल एक मात्र कारण नहीं हो सकता।

एशिया में ईरान व थाइलैंड दो ऐसे देश हैं, जहां राजनीतिक स्थायित्व भी रहा और वे यूरोपीय उपनिवेशवाद से भी बचे रहे। फिर भी, उनका गरीबी और अभाव का स्तर भारत और उसके भूतपूर्व उपनिवेशी पड़ोसी देशों जैसा है। यही तर्क प्राकृतिक संसाधनों और या पूंजी की उपलब्धता अथवा अनुपलब्धता के बारे में सत्य है। एक ओर इंग्लैंड और दूसरी ओर आधुनिक अमेरिका और कनाडा ने आर्थिक समृद्धि प्राप्त कर ली है। इसके विपरीत तीन शताब्दियों पूर्व स्पेन और उत्तरी अमेरिका में उपनिवेश के लिए यूरोपवासियों के आगमन से पूर्व वे आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने में असफल रहे—यद्यपि, शायद स्पेन सभी औपनिवेशिक साम्राज्यों में सबसे अधिक लोभी था और एक समय यूरोपीय इतिहास में उसने उपनिवेशों और आश्रित देशों का आर्थिक शोषण करके अद्वितीय समृद्धि का आनंद उठाया था। उत्तरी अमेरिका के पास विशाल प्राकृतिक संसाधन थे। इसलिए अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियों और प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों अथवा प्रति व्यक्ति पूंजी की उपलब्धता के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी चीजें हैं, जो किसी देश को आर्थिक रूप से विकसित करने के लिए आवश्यक होती हैं, और वह अपेक्षित गुणवत्ता का मानव कारक है।[2] अंततोगत्वा हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का कारण ब्रिटिश आधिपत्य में ही निहित नहीं है, बावजूद इसके कि उन्होंने हमारे देश को आर्थिक एवम राजनीतिक रूप से क्षतविक्षत किया। यह हमारे देश के भाग्य अथवा प्रकृति की कंजूसी में

---

[2] तीन कारक हैं—ऐतिहासिक, भौगोलिक और सामाजिक। इन तीन कारकों ने स्पष्ट रूप से इन समुदायों के जीवन के दृष्टिकोण को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वे देश के उन प्रदेशों में रहते हैं; (क) जिन्होंन अधिकांशतया विदेशी आक्रमणों का सामना किया है; (ख) जहां तुलनात्मक रूप से कम वर्षा होती है और इसलिए अनेक वार दुर्भिक्षों से पीड़ित हुए हैं; और (ग) जहां देश में सबसे अधिक क्रांतिकारी, सामाजिक, धार्मिक आंदोलन हुए हैं; यथा आर्यसमाज ने एक ऐसा स्वरूप बदला है तथा अधिकांशतया जनता के मस्तिष्क को प्रभावित किया है। विशेषकर पंजाब को एक अन्य सम्बंध में भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सिक्ख गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविंदसिंह और गुरु अर्जुनदेव ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने जनता को उद्यम की भावना से प्रेरित किया और अत्याचार सहित सभी कठिनाइयों का सामना करने के लिए उनकी इच्छाशक्ति को जागृत किया है।

भी निहित नहीं है बल्कि यह आर्थिक पिछड़ापन केवल हमारे देशवासियों के अवगुणों के कारण है। डब्ल्यू० एस० वॉयटिंस्की ने कहा है:

> "आधुनिक देशों में समृद्धि का आधार पूंजी का संचयन नहीं है बल्कि यह समृद्धि जनता पर आधारित है यथा,—मोटे तौर पर इसे श्रम शक्ति कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और जापान के अनुभव से इस बात की पुष्टि हो जाती है। इन देशों के शहर, बन्दरगाह, रेल—सड़कें, पुल, कारखाने और बिजलीघर आदि, जो आधी शताब्दी के कठोर परिश्रम से बनाए गए थे और वे सब मलबे तथा राख में बदल दिए गए थे। खंडहरों में अर्धनग्न लोग ही बचे थे। उनके पास केवल उनके हाथ, दिमाग—सामूहिक रचनात्मक कार्य के लिए प्रशिक्षित—और मनोबल ही काफी था। चारित्रिक गुणों के कारण उन लोगों ने पुनर्निर्माण किया। एक दशाब्दी ही में वे आर्थिक रूप से इतने सशक्त हो गए, जितने वे युद्ध पूर्व भी नहीं थे।" (देखिए, 'इंडिया' द अवेकनिंग जाइन्ट, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क १९५७, पृष्ठ १८५—८६)

यह लगभग स्वयंसिद्ध सत्य है कि प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता और मात्रा ईश्वर या प्रकृति की देन हैं और ये लगभग मानवीय नियंत्रण के परे हैं फिर भी लोगों (संख्या सहित) की गुणवत्ता या उत्कृष्टता की मात्रा का निर्माण बहुत कुछ लोगों पर ही निर्भर करती है। जापान के उदाहरण से हमें यह विदित होगा कि अधिकांश मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा की कमी को काफी हद तक श्रमजीवी जनसंख्या की गुणवत्ता से पूरा किया जा सकता है या उसकी कमी की क्षतिपूर्ति की जा सकती है। ऐतिहासिक कारकों के अलावा यह गुणवत्ता लोगों की सामाजिक और आर्थिक अभिवृत्तियों पर आधारित है और यह गुणवत्ता सरकार द्वारा उपलब्ध उनके स्वास्थ्य और शिक्षा तथा नेतृत्व पर भी आधारित है।

देश के पश्चिमी भागों में रहने वाले सिंधी, गुजराती, मारवाड़ी और पंजाबी समुदायों को छोड़कर—और दूसरी ओर जापान के लोगों से कहीं भिन्न—हमारे देश के लोग आरामतलब हैं लेकिन महत्त्वाकांक्षी नहीं हैं; वे अपने आप अपनी आर्थिक—सामाजिक स्थिति में सुधार करने के लिए स्वयं कठोर परिश्रम के लिए तैयार नहीं होते। वे नवीन विचारों और तरीकों को अपनाने, पहल करने और अस्थायी रूप से हार या हानि उठाने में भयभीत हो जाते हैं।

लोगों के धार्मिक विश्वास और परम्पराएं ही इस सम्बंध में सबसे अधिक संगत हैं, जो जीवन के प्रति लोगों की अभिवृत्ति को निर्धारित

करती हैं। सभी प्रकार के मानवीय क्रिया–कलाप, चाहे वे सामाजिक व आर्थिक हों, मस्तिष्क में जन्म लेते हैं। इसलिए समाज की आर्थिक दशाएं अन्ततोगत्वा समाज के सदस्यों की मानसिक अभिवृत्तियों अथवा उनकी प्रक्रियाओं में खोजी जा सकती हैं।

इसी प्रकार किसी भी देश की समृद्धि या गरीबी उस देश के निवासियों की मानसिकता से जानी जा सकती है। यदि आज हम गरीब और आर्थिक रूप से पिछड़े समाज के सदस्य हैं, तो इसका कारण हमारी दोषपूर्ण मानसिक अभिवृत्तियों में खोजा जा सकता है। उपसिद्धांत के रूप में, यदि अब हम अपने देश को समद्धिशाली बनाना चाहें, तो हमें अपने देश के लोगों की वर्तमान सामाजिक और आर्थिक अभिवृत्तियों में परिवर्तन करना होगा। केवल इसी परिवर्तन के बाद अर्थात् हम आर्थिक प्रगति की इच्छा अपने मन में जागृत करें और यह इच्छा ऐसी हो कि राष्ट्रों के बीच में हमारा भी वही स्थान हो, जो कभी हमारे पुरखों का था, तो हम इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन प्राप्त करना प्रारम्भ कर देंगे अर्थात् हम आवश्यक कौशल अथवा ज्ञान और आवश्यक स्वास्थ्य अथवा शारीरिक बल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करेंगे और कठोर परिश्रम के लिए आवश्यक इच्छा–शक्ति जागृत करेंगे। यदि इस रूप में देखा जाए, तो आर्थिक विकास अनन्य रूप से–शायद प्राथमिक रूप से भी, केवल आर्थिक प्रगति ही नहीं हैः इस आर्थिक प्रगति में भी गहन सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन निहित है। यह परिवर्तन मूल्यों, आदतों, ज्ञान, अभिवृत्तियों, सामाजिक आदर्श और महत्त्वाकांक्षाओं में निहित है। यह परिवर्तन अथवा सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सुधार उस कीमत का एक भाग है, जो हमें उस दलदल से निकलने के लिए चुकाना होगा, जिसमें कि आज हम फंसे हुए हैं। पर्याप्त प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में मानव शक्ति या कृषि उपलब्धता की बेशी, ये अकेले ही आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं, जिनके बारे में पुस्तक में काफी कुछ कहा जा चुका है।

कई शताब्दियों तक हिन्दू धर्म ने, जैसाकि कतिपय सम्प्रदायों ने व्याख्या की है, वैयक्तिक और निष्क्रिय प्रकार के जीवन पर गहरा विश्वास व्यक्त किया है और भौतिक संसार की अवहेलना करने के लिए घोर तर्क प्रस्तुत किया है। इन लोगों के लिए विश्व कुछ भी नहीं है बल्कि माया है अर्थात् कपोल–कल्पना है। इसलिए अन्य सांसारिकता पर विशेष बल दिया गया है और कठोर कार्य तथा सम्पत्ति के संचयन को बहुत ही कम ठोस प्रोत्साहन दिया गया है। सादा अथवा आडम्बरहीन जीवन को निम्न कोटि के जीवन के साथ भ्रम में डाल दिया गया है।

हममें से अधिकांश लोग अपने भाग्य या किस्मत से संतुष्ट हो जाते

हैं और यह विश्वास नहीं करते कि वे स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। अपने प्रयत्नों पर विश्वास करने के बजाय वे बाहर की सहायता की बाट जोहते हैं—चाहे वह सहायता परमात्मा से मिले अथवा सरकार से। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा समाज अत्यधिक भाग्यवादी हो गया, जिसके फलस्वरूप गरीबी बढ़ी हैं।

हम लोग काम से बचना चाहते हैं। यह स्थिति निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है। इस तालिका में १६ देशों की जनसंख्या की तुलना में कार्यकारी दल की प्रतिशतता दिखाई गई है।

तालिका

पुरुष—महिला के हिसाब से क्रियाशील जनसंख्या और कुल जनसंख्या में इनकी प्रतिशतता—चुनिंदा देश

(१९७१ अथवा आसपास)

क्र० सं०	देश	आर्थिक रूप से क्रियाशील जनसंख्या ('०००) पुरुष	महिलाएं	योग
१	२	३	४	५
१.	संयुक्त अरब गणराज्य	८७२८	५३९	९२६७
२.	कनाडा	(४९.३)	(३.१)	(२६.४)
		५७६०	३०५३	८८१३
		(५३.३)	(२८.४)	(४०.९)
३.	अमेरिका	५८३९७	३८५२०	९६९१७
		(५५.९)	(३५)	(४५.२)
४.	भारत	१४९१४६	३१३३९	१,८०,४८५
		(५२.५)	(११.९)	(३२.९)
५.	जापान	३३६८०	२०१००	५३७८०
		(६०.६)	(३५.१)	(४७.७)
६.	पाकिस्तान	१९५९५	१४४०	२००३५
		(५२.१)	(४.३)	(५९.५)
७.	चेकोस्लोवाकिया	३८७०	३११३	६९८३
		(५६.४)	(४२.३)	(४८.७)
८.	फ्रांस	१४१४६	७९८८	२२१३४
		(५४.६)	(२९.६)	(४२.९)
९.	जर्मनी (पश्चिमी)	१७०७५	९५३५	२६६१०
		(५९.२)	(३०.०)	(४३.९)

क्र० सं०	देश	आर्थिक रूप से क्रियाशील जनसंख्या ('०००) पुरुष	महिलाएं	योग
१	२	३	४	५
१०.	पोलैंड	९४२४	८०८२	१७५०७
		(५७.८)	(४६.७)	(५२.०)
११.	स्विट्जरलैंड	१९७३	१०२२	२९९६
		(६३.९)	(३२.१)	(४७.८)
१२.	अमेरिका	१६३२९	९३८७	२५७१५
		(६०.६)	(३२.१)	(४६.३)
१३.	यूगोस्लाविया	५६८६	३२०३	८८९०
		(५६.४)	(३०.७)	(४३.३)
१४.	आस्ट्रेलिया	३६४०	१६९१	५३३०
		(५६.८)	(२६.७)	(४१.८)
१५.	न्यूजीलैंड	८६२	४१५	१२७६
		(५५.३)	(२६.३)	(४०.७)
१६.	रूस	५७९९०	५९०३७	११७०२८
		(५२.१)	(४५.३)	(४८.४)

स्रोतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (इयर बुक आफ लेबर स्टैटिस्टिक्स), १९७७

इस सम्बंध में राजनीतिक स्वतंत्रता के आगमन से किसी प्रकार का कोई अन्तर विदित नहीं होता। यह सही है कि हमारे देश के लोगों की वर्तमान गरीबी और इसके कारण—प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने की हमारी अक्षमता, जिसमें रोग और निरक्षरता शामिल है—काफी हद तक भाग्यवाद के लिए उत्तरदायी हैं; और पहल करने की कमी या यों कहिए कि अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपनी आर्थिक स्थितियों में सुधार करने की अन्यमनस्कता भी है। हमारे धार्मिक विश्वासों और परम्पराओं ने भी इस अभिवृत्ति को पनपने देने में किसी अन्य कारक की अपेक्षा पहले ही काफी बड़ी भूमिका निभाई है।

भाग्यवाद को समाप्त करना ही होगा। हमारे समाज के नेताओं का इस सम्बंध में विशेष दायित्व है। लोगों को यह महसूस कराना होगा कि हमारा भौतिक वातावरण अपरिवर्तनीय कारक नहीं है, बल्कि यह एक व्यवस्थित संसार है, जिसे परिवर्तित करके बनाया जा सकता है। भगवत्कृपा का ऐसा विधान नहीं है कि हमारे बच्चे अभाव और दीनता में जीवित रहें अथवा नासमझ बने रहें। मानवीय इच्छा—शक्ति स्वतंत्र है और यदि कोई चाहे, तो वह अपने वर्तमान जीवन के पुरुषार्थ से प्रारब्ध

के प्रभावों को नकार सकता है या अधिकांशतया उन्हें नकार सकता है। कर्म–सिद्धान्त की शिक्षा के अन्तर्गत भाग्यवाद अथवा पूर्ण नियतिवाद का कोई स्थान नहीं है। मानव केवल प्राणी ही नहीं है बल्कि परिस्थितियों का निर्माता भी है। मानवीय प्रयत्न द्वारा प्रगति का विचार हिन्दू विचारधारा के लिए केवल स्वदेशी ही नहीं है बल्कि वास्तव में उसकी शिक्षा का एक भाग है।

आर्य समाज के महान संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती सामाजिक युग–चेतना के प्रवर्तक थे और उन्होंने भारत की विचारधारा में काफी परिवर्तन किए। उन्होंने हिन्दुओं को यह याद दिलाया कि आत्मा अमर है और कर्म भाग्य का विधाता होता है। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है, "एक सशक्त और क्रियाशील जीवन की मान्यता भाग्य के फैसले की स्वीकृति की अपेक्षा कहीं अधिक है। भाग्य कर्मों का फल है। कर्म भाग्य के निर्माता होते हैं। भलाई के कार्य उदासीन त्याग की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। आत्मा स्वतंत्र कर्ता है और उसे जैसा भी पसंद हो, वह मुक्त भाव से कर लेती है लेकिन यह बात परमात्मा की अनुकम्पा पर ही आधारित है कि वह अपने कार्य के परिणाम का सुख भोगे।"

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है:

> जीवन के खेल के पत्ते हमें दे दिए जाते हैं। हम स्वयं उनका चयन नहीं करते। वे हमारे पूर्व जन्म के कर्मों में खोजे जा सकते हैं लेकिन हम इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकते हैं और हम जैसा चाहें. वैसा जीवन बिता लेते हैं और जिस प्रकार हम खेलते हैं, वैसे ही, हम या तो जीत जाते हैं या हार जाते हैं; और इसमें स्वतंत्रता है।

धर्म के बाद रीति–रिवाज प्रत्येक समाज के लिए सबसे सशक्त एकाकी बल है। जनता का आचरण अथवा व्यवहार अधिकांशतया उसकी सामाजिक परम्परा या सांस्कृतिक विरासत से अनुशासित होता है और यह विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को लगातार मिलती रहती है अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रेषित होती है, जिसमें सामाजिक रूप से संचित उन व्यक्तियों के अनुभव, कौशल, न्याय, और विवेक होते हैं, जो दिवंगत हो गए हैं।

फिर भी, हमारे रीति–रिवाज या सांस्कृतिक परम्पराएं, जैसी कि अन्य देशों में भी होती हैं, न तो सभी अच्छी हैं और न सभी अमिश्रित रूप से अच्छी हैं। यद्यपि हठीली रूढ़िवादिता ने बहुमूल्य मूल्यों, यथा–चरित्र और आचरण की गुणवत्ता के परिरक्षण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है, जिनसे

हमारे समाज को शक्ति, स्थायित्व और सुरुचि प्राप्त हुई हैं अन्यथा समाज ही लुप्त हो जाता, फिर भी इसने परम्पराओं को भी स्थायी बना दिया है, जो इतना लाभकारी नहीं है। उनमें अंधविश्वास, बुरी आदतें और देहाती तरीके शामिल किए जाते हैं, जो प्रायः कतिपय भटकी हुई पीढ़ियों की ही देन हैं अथवा ऐसे नियमों के परिणाम हैं, जो किसी समय अच्छे थे लेकिन बाद में वे उपयुक्त नहीं रहे। इस प्रकार की परम्पराओं ने जनता के जीवन की प्रक्रिया को काफी बोझिल बना दिया है और उसकी प्रगति को अवरुद्ध कर दिया है।

१३
भारत का बिगड़ता रूप

देश की समस्याओं, विशेषकर आर्थिक स्थिति, को लेकर चौधरी चरणसिंह सदैव चिंतनशील रहते थे। उन्होंने १९८२ में यह लेख लिखा था, जिसमें भारत में व्याप्त गरीबी और बेरोज़गारी की समस्याओं का विश्लेषण किया गया था, साथ ही समस्या के सभी पहलुओं पर विचार करते हुए एक सुधार–सिद्धान्त भी उन्होंने प्रस्तुत किया था। लेख में चौधरी साहब ने यह धारणा स्थापित की है कि "भारत की खुशहाली का रास्ता गांव और खेतों से होकर गुजरता है"।

आज का भारत मेरी पीढ़ी के स्वप्नों का भारत नहीं है। आज से ३५ वर्ष पूर्व राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ जो आशाएं जगी थीं, अब वे पूरी तरह से समाप्त हो गई हैं। कुछ विदेशी विचारकों की यह उम्मीद भी समाप्त हो गई है कि लम्बे समय तक कष्ट सहने वाला तथा 'संस्कृति का असीम भण्डार एवम् प्राचीन बुद्धिमत्ता का यह देश', जिसने गुलामी के दिनों में भी गांधी को पैदा किया, वह साम्यवाद, पूंजीवाद तथा उपनिवेशवाद से त्रस्त विश्व को एक नया रास्ता दिखायेगा।

पतन की ओर बढ़ते हुए भारत में, राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत चरित्र के साथ सभी अन्य क्षेत्रों में गिरावट आई है। इस पतन के कारण और निदान लिखने के लिए एक अलग किताब लिखनी पड़ेगी। यहां सिर्फ अपने इस दुर्भाग्य के आर्थिक पहलू की बात की जा रही है।

आज भारत दुनिया का लगभग सबसे गरीब देश है। दुनिया के १२५ गरीब देशों में भारत का स्थान १२३वां है, देश के करीब दो तिहाई लोग हर रात आधे पेट खाकर सोते हैं। करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो अधनंगे घूमते हैं और देश में, खासकर बिहार तथा उत्तर प्रदेश में, सर्दियों में लाखों लोग पूरे कपड़े न होने के चलते ठंड़ से मर जाते हैं। देश में पांच करोड़ से ज़्यादा परिवार ऐसे हैं, जो एक कमरे में या झोंपड़ी में रहते हैं। करीब पांच साल पहले इकट्ठे किये गये आंकड़ों के अनुसार बम्बई तथा कलकत्ता

में ३३ प्रतिशत लोग झोंपड़–पट्टियों में या फुटपाथ पर रहते थे। दिल्ली में, जहां पर प्रति व्यक्ति औसत आय सभी शहरों से ज़्यादा है, वहां भी इस तरह के लोग कुल आबादी का २४ प्रतिशत और कानपुर में सबसे ज़्यादा, यानी ३७ प्रतिशत थे।

पढ़े–लिखे और अनपढ़ ग्रामीण तथा शहरी बेरोज़गारों और अर्ध–बेरोज़गारों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। मार्च १९७७ के अन्त में जिला मुख्यालयों के रोज़गार–कार्यालयों में दर्ज बेरोज़गारों की संख्या १.०२ करोड़ थी। पांच साल में ही यह संख्या बढ़ कर १.८० करोड़ हो गई है। ऐसे डॉक्टर (पी–एच० डी०) भी मिल जायेंगे, जो चपरासी की नौकरी करने के लिए खुशी से तैयार हो जाएंगे और ऐसे एम० ए० और एम० एस–सी० भी आसानी से मिल जायेंगे, जो सात रुपये प्रति दिन मजदूरी कर रहे हैं।

गांवों में १९५३ में, कृषि–मजदूरों तथा भू–स्वामियों (परिवार के अवैतनिक सहायकों सहित) का अनुपात करीब १३:५७ था। १९६१ में सिर्फ भू–स्वामियों और कृषि–मजदूरों के बीच यह अनुपात १७ : ५१, और १९७१ में ३६.३ : ४३ हो गया।

सीमांत और सीमांत से भी नीचे के किसान (२.५ एकड़ तथा १.२५ एकड़ या ४ और २ बीघा ज़मीन वाले किसान) सातवें दशक में भी अपनी ज़मीनों से बेदखल किये जाते रहे हैं और परिणाम यह हुआ कि १९८१ में यह अनुपात करीब ३० और ४० हो गया। ज़मीन से बेदखल किये गये ये ही करोड़ों बेरोज़गार तथा अर्ध–बेरोज़गार लोग नौकरी पाने की झूठी आशा में महानगरों की ओर भागते हैं।

अर्ध–बेरोज़गार तथा बेरोज़गार किसानों और पहले से ही बेरोज़गार खेतिहर मजदूरों की, पहले हमारे विदेशी मालिकों और फिर हमारे अपने राजनेताओं ने भारतीय ग्रामीण कलाओं और हस्त कलाओं का जो हाल किया, उसकी वजह से हालत और भी खराब हो गई है। १९३१ की जनगणना से स्पष्ट हो जाता है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा अंग्रेज सरकार की नीतियों की वजह से मजबूर होकर हमारे देश के करीब तीन चौथाई शिल्पकारों तथा दस्तकारों ने सन् १९३० तक खेती (५०%) और अन्य धंधों (२४ प्रतिशत) को अपना लिया था। सिर्फ एक चौथाई (२६%) अपने बाप–दादाओं के धंधों में लगे रहे। आजादी मिलने के बाद पं० नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेसी नेताओं ने महात्मा गांधी की शिक्षाओं के विरूद्ध जाकर एक ऐसी अर्थनीति अपनायी, जिसमें सबसे ज़्यादा महत्त्व भारी उद्योगों को दिया गया और जिसके चलते ऐसे बचे–खुचे उद्योग भी खत्म हो गये, जो कि १९४७ तक, विदेशी शासन के बावजूद, जीवित बचे

थे। यह बात १९५५ में मई तथा नवम्बर के दौरान किये सेम्पल सर्वे (नौवां चक्र) से साफ हो जाती है। इसके अनुसार गृह–उद्योगों में लगे कारीगरों की संख्या १.०२ करोड़ थी। १५ साल बाद यह संख्या बढ़ने के बजाय ३८ प्रतिशत गिर कर सिर्फ ६३.५ लाख रह गई (१९७१ की जनगणना के अनुसार)। विचारधारा के अलावा इस हालत के लिए यह बात भी जिम्मेदार है कि देश के करीब–करीब सभी नेता अपने चुनाव–चंदों और गद्दी पर बने रहने के लिए भी एकाधिकारवादियों तथा बड़े उद्योग घरानों के मोहताज हैं।

जहां तक आर्थिक विषमता का सवाल है, नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च की एक रिपोर्ट के अनुसार १९७६ में १.५५ करोड़ परिवारों, जो कि ग्रामीण जनता का सबसे गरीब–२० प्रतिशत है, की कुल पूंजी १०७४ करोड़ रूपये थी, जो कि करीब ७०० रुपया प्रति परिवार पड़ती है, जबकि, १९७७ में टाटा तथा बिरला दोनों उद्योग घरानों की अलग–अलग सम्पत्ति का मूल्य १०७० करोड़ रुपये था। तीन साल पहले हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय १२५० रुपये सालाना थी। देश में लाखों लोग ऐसे हैं, जो यह तक नहीं जानते कि वे अपनी सम्पत्ति का क्या उपयोग करें? इनमें से ज़्यादातर लोगों ने काले धंधों से कमाई की है और यही वजह है कि वे पांच सितारा होटलों में ढाई से तीन हजार रुपये प्रति दिन तक के किराये पर कमरे ले सकते हैं।

इस असमान आर्थिक स्थिति की वास्तविक वजह कृषि की उपेक्षा तथा भारी उद्योगों को (निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में) ज़्यादा महत्त्व देना है। हस्त शिल्प तथा कुटीर उद्योगों का विनाश इसी का परिणाम है।

खाना आदमी की पहली ज़रूरत है, इसके बिना कोई जिंदा नहीं रह सकता। नगरों की आधुनिक सुविधाओं, अस्पतालों, सड़कों, शिक्षा, घर, यहां तक कि कपड़ों के भी बिना रहा जा सकता है पर खाने के बिना नहीं। खाने के अलावा लोग अपनी और भी इच्छाएं या आवश्यकताएं पूरी करना चाहते हैं जैसे–जूते और कपड़े, घर और घरेलू सामान, स्वास्थ्य का रख–रखाव या चिकित्सा–सम्बन्धी देख–भाल, शिक्षा या ज्ञान–प्राप्ति का साधन, संचार और परिवहन के साधन। और भी बहुत–सी सुविधाएं या साधन, जो कि सभ्य नागरिक जीवन के लिए जरूरी समझे जाते हैं, जैसे घड़ी आदि। आम आदमी को इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए शायद ही कोई चीज सहज रूप में मिलती हो।

किसी व्यक्ति या समाज का स्तर तभी ऊंचा उठ सकता है, जब इन ज़रूरतों को पूरा करने वाली कृषि से इतर (उत्पादन से अतिरिक्त) वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों और इन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के

साधन तथा यन्त्र तभी बनाये जाते हैं, जब जनता की ओर से इन चीजों तथा सेवाओं की मांग हो और यह तभी सम्भव होता है जब कृषि–कर्मियों की क्रय शक्ति पर्याप्त हो, जो कि भारत में (तथा अन्य विकासशील देशों में भी) जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा है। तभी औद्योगिक या कृषि–इतर वस्तुओं और सेवाओं की मांग भी बढ़ेगी। कृषि उत्पादन में वृद्धि करके ही यह क्रय–शक्ति बढ़ाई जा सकती है। किसानों की ज़रूरत के बाद बचा कृषि–उत्पादन जितना ज़्यादा होगा, वही बिक्री के लिए उपलब्ध होगा और इसकी वजह से ही क्रय–शक्ति बढ़ेगी, परिणामस्वरूप कृषि से इतर उत्पादनों तथा सेवाओं की मांग भी बढ़ेगी।

इसके अलावा विकसित कृषि, जिसकी उत्पादकता मांग की अपेक्षा तेजी से बढ़ती है–न केवल अधिकांश जनसंख्या की क्रय–शक्ति बढ़ाती है, जिससे कारखानों में बने माल को खरीदा जा सकता है, बल्कि कृषि–मजदूर भी खेती छोड़ औद्योगिक एवं क्षेत्रीय रोज़गारों में जा सकेंगे। कृषि–मजदूर दूसरे उद्योगों में न जायें, तो देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता तथा गरीबी नहीं मिटाई जा सकती। इसे इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है, बहुत से उत्पादन, जो प्राथमिक उद्योग या कृषि द्वारा प्राप्त होते हैं, उन्हें उपयोग में लाने लायक बनाने के लिए अन्य उद्योगों की ज़रूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन, गृह–निर्माण, विद्युत उत्पादन आदि इसके लिए भी व्यापार, यातायात, भंडारण, बैकिंग तथा बीमा जैसी सुविधाओं की ज़रूरत होती है।'

कृषि उत्पादन में लगातार वृद्धि आर्थिक विकास के लिए सबसे ज़्यादा जरूरी है, क्योंकि इसके बिना खाद्यान्न और कच्चा माल उपलब्ध नहीं करवाया जा सकता, और इसीलिए तब तक खेतिहर मजदूर दूसरे क्षेत्रों में नहीं जा सकते।

सच तो यह है कि जब तक अनाज और खेतों में पैदा होने वाली चीजें किसानों की ज़रूरत से ज़्यादा पैदा नहीं होती, तब तक औद्योगीकरण मुमकिन नहीं है। इतना ही नहीं औद्योगीकरण किस तरह और किस तेजी से होगा, वह भी ज़रूरत से ज़्यादा उत्पन्न कृषि उत्पादों की मात्रा पर निर्भर करता है। ऐसे देश में जहां पूंजी के मुकाबले श्रम सस्ता है यानी आदमी मशीन से सस्ता है, वहां अतिरिक्त उत्पादन तभी हो सकता है, जब हाथ के काम और कुटीर उद्योगों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाए। जब कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी होगी, तभी कृषि आय बढ़ेगी तथा औद्योगिक उत्पादन की मांग बढ़ेगी और तभी उद्योग स्थापित होंगे। ये उद्योग मात्र अतिरिक्त आमदनी का परिणाम न रहकर अतिरिक्त आमदनी की वजह बन जायेंगे। विभिन्न प्रकार के उद्योगों तथा सेवाओं में बढ़ोतरी की वजह से

अक्सर एक ऐसी हालत आती है, जब श्रम–शक्ति कम हो जाती और पूंजी ज़्यादा हो जाती है, यानी श्रम–शक्ति मशीन की अपेक्षा महंगी हो जाती है। इस स्थिति में अर्थव्यवस्था अपने आप ऐसी बन जाती है कि उद्योगों में यंत्रीकरण का महत्त्व बढ़ जाता है। हस्त शिल्प या श्रम–आधारित उद्योगों से मशीनीकरण यानी पूंजी–प्रमुख उद्योगों की ओर बढ़ने की प्रक्रिया मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि कृषि से बचे मजदूरों को किस अनुपात में पूंजी उपलब्ध हो रही है।

दुनिया के धनी या विकसित देश भी दो तरह के हैं – एक तो वे, जिनके पास प्राकृतिक संसाधन जनसंख्या से कहीं कम हैं। ऐसे देशों में प्रमुख हैं–जापान, बेल्जियम, जर्मनी, नीदरलैंड और ब्रिटेन। ये देश अपने उपनिवेशों से कच्चा माल लेकर इस कमी को पूरा करते हैं। अपने अधीन देशों के कच्चे माल, अनाज और वहां के लोगों के श्रम का शोषण करके ही ये देश हस्त–शिल्प से सीधे मशीनीकरण के स्तर तक पहुंच सके।

दूसरी तरह के देश वे हैं, जहां जनसंख्या कम तथा कच्चा माल और प्राकृतिक संसाधन ज़्यादा हैं। इनमें मुख्य हैं अमेरिका, कनाडा, स्वीडन और आस्ट्रेलिया (इन देशों को दूसरों की ज़मीन पर कब्जा करने की ज़रूरत नहीं है)। इन देशों में कच्चा माल तो पर्याप्त मात्रा में होता ही है, साथ ही इन देशों में अनाज भी इतना पैदा होता है कि ग्रामीण क्षेत्र के लोगों के साथ–साथ उद्योगों में लगे मजदूरों तथा पूंजी–निर्माण में लगे लोगों के लिए भी वह काफी होता है।

प्रथम श्रेणी के उपनिवेशवादी देशों को जो सुविधाएं प्राप्त थीं, वह हमें प्राप्त नहीं हैं। सही या गलत की बात छोड़ भी दें, तो भी अब कोई देश ऐसा नहीं है, जिसे उपनिवेश बनाया जा सके। हमारे समय में हम चाह कर भी किसी देश के संसाधन या उसके लोगों का शोषण नहीं कर सके। सभी विकासशील देश भी उत्पादन तथा खपत की असमानता की खाई पाटने की कोशिश कर रहे हैं और जल्दी ही ऐसी हालत आ जायेगी कि अपने माल की खपत करना या विदेशी औद्योगिक माल खरीदना भी सम्भव नहीं रहेगा।

दूसरी श्रेणी में आने वाले देशों द्वारा अपनाए गए रास्ते के बारे में बात करें तो मालूम पड़ेगा कि भारत जनसंख्या तथा प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात के लिहाज से उतना सम्पन्न नहीं है, जितना हममें से ज़्यादातर सोचते हैं। इस लिहाज से हम बहुत गरीब हैं। इसलिए न तो हम भारी उद्योगों के लिए जरूरी पूंजी इकट्ठी कर सकते हैं और न ही भारी उद्योग भारत की विशाल जनसंख्या को पर्याप्त रोज़गार दे सकते हैं। यदि १८५७ में, जब ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत के शासन की बागडोर संभाली थी,

तब ईमानदारी के साथ हमें औद्योगीकरण करने दिया जाता, तो हम यह रास्ता अपना कर विकसित देशों की श्रेणी में आ सकते थे। उस समय पूरे उपमहाद्वीप की कुल जनसंख्या १८ करोड़ से ज़्यादा नहीं थी। मृत्यु दर ऊंची थी। अतः जनसंख्या की वृद्धि दर मुश्किल से आधा प्रतिशत थी। उद्योग शुरू करने के लिए आज के मुकाबले कहीं कम पूंजी की ज़रूरत पड़ती थी, पर आज यह रास्ता हमारे लिए निश्चित रूप से बंद हो चुका है।

अब सवाल यह है कि वर्तमान स्थिति में अपनी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए हमें कौन–सा रास्ता अपनाना चाहिए। इस वक्त हमारे सामने सिर्फ एक रास्ता है और वह है महात्मा गांधी द्वारा सुझाया गया रास्ता अर्थात अपने साधनों के आधार पर देश को नीचे की ओर से धैर्य के साथ धीरे–धीरे मजबूत बनाना।

इसके लिए जरूरी है कि देश में जिन हालात में खेती की जा रही है उन हालात को पूरी तरह से बदलना। यदि हम निश्चित भूमि से प्रति व्यक्ति के आधार पर ज़्यादा अनाज पैदा नहीं कर सके, तो औद्योगिक क्षेत्रों में काम कर रहे किसान भी खेती–बाड़ी की ओर लौटने के लिए मजबूर होंगे, क्योंकि अनाज आदमी की पहली ज़रूरत है। इस हालत में उद्योगों के विकास की दर आज से भी कम हो जायेगी, उत्पादन दर तथा लोगों का जीवन–स्तर, जो कि फिलहाल काफी नीचा है, और भी गिर जायेगा।

उपेक्षापूर्ण नीति

सवाल यह है कि हमारी सरकार पिछले करीब ३५ सालों से यह व्यवहार क्यों कर रही है और क्यों आज भी उसी राह पर चल रही है। जवाब आसान है। वास्तविक भारत गांवों में रहता है पर देश की सत्ता तथा प्रशासनिक बागडोर शहरों में पले बुद्धिजीवियों के हाथों में है। ये लोग न तो गांवों की समस्याओं से परिचित हैं, न ही उसकी ज़रूरतों, कमियों, आवश्यकताओं तथा ग्रामीणों के मनोविज्ञान को समझते हैं। यही वजह है कि ये लोग गांव की समस्याओं का समाधान पहले से बनी धारणाओं के आधार पर करते हैं। अकसर उन अभौतिक घटकों को भुला दिया जाता है, जिन्हें समझ पाना यों तो मुश्किल हो सकता है पर जो गांव के लोगों को जन्मघुट्टी के साथ मिलते हैं। विदेशी खेलों की किताबें पढ़कर या उस वातावरण से प्रभावित होकर, जिसमें वे पले थे, हमारे शहरी नेताओं ने अधकचरी योजनाएं प्रारम्भ की हैं। सहकारी खेती, राज्य द्वारा अनाज का व्यापार, फसल बीमा तथा खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजूरी,

ऐसी ही योजनाएं हैं, जो असफल रही हैं और इनकी सफलता की कोई सम्भावना भी नहीं हैं।

खेतों के आकार की ही बात की जाय, तो स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे नेता तथा प्रशासक सहकारी खेती की असफलता के बाद बड़े आकार के खेतों को आदर्श मानते हैं। वे भूल जाते हैं या शायद जानते ही नहीं कि हमारे देश में कृषि योग्य भूमि सीमित है। अतः हमारा उद्देश्य खेत पर काम करने वाले प्रति व्यक्ति के लिहाज से उत्पादन बढ़ाने के बजाय प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाना होना चाहिए। यही उद्देश्य रखकर पूरे देश में उत्पादन बढ़ाकर गरीबी व पूंजी की कमी को दूर किया जा सकता है। यद्यपि सिद्धांत रूप में प्रति एकड़ उत्पादन का चक के आकार से कोई सम्बंध नहीं है। बड़े चक में प्रति एकड़ उतना ही उत्पादन होना चाहिए, जितना छोटे चक में, पर व्यवहार में यह सही नहीं रह जाता। ज्यों–ज्यों खेत का आकार बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों प्रति एकड़ मानव श्रम तथा निरीक्षण भी कम होता जाता है।

आज देश के हर कोने में यंत्रीकृत खेती देखी जा सकती है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही शुरू हुई। अंग्रेजों के जमाने में गिने–चुने फार्म थे, जहां मशीनों से खेती होती थी। ज़मीन के ऐसे मालिकों को, जो ज़मीन कम होने की वजह से खुद दूसरा व्यवसाय करते थे या जिनकी बसर ज़मीन के किराये से हो जाती थी, उन्होंने अपनी ज़मीन काश्तकारी करने के लिए दूसरे लोगों को पट्टेदारी, उप–पट्टेदारी,भागीदारी, सीर या खुदकाश्त के तहत दे रखी थी, पर अब इन्होंने खेती करने वालों को बेदखल कर, उस पर अपना अधिकार कर लिया है। तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं को देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ऐसे लोगों को ३० से ६० एकड़ तक ज़मीन पर खुदकाश्तकारी करने का अधिकार दे दिया गया है, और इस प्रकार प्राप्त भूमि पर खेती करने के लिए बड़े किसानों को ट्रैक्टर तथा खेती सम्बंधी अन्य बड़ी मशीनें खरीदने के लिए आसान शर्तों पर बड़े–बड़े कर्ज दिये गये। इस प्रकार सरकार की नीतियों की वजह से ही पूंजी प्रधान यंत्रीकृत खेती महत्त्वपूर्ण हो सकी। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जायेगा कि देश में १९४५ में मात्र १३८३ ट्रैक्टर थे (जिनमें से सिर्फ महाराष्ट्र में ही ७६१ थे)। यह संख्या बढ़कर १९५१ में ८,६३५, सन् १९६१ में ३१,०१६, सन् १९७१ में १,४८,३०० तथा १९७७ में २,४४,५९८ हो गयी।

इसे ही दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो कृषकों तथा खेतिहर मजदूरों का १९५१ का ५७:१३ का अनुपात गिरकर १९८१ में ४०:३० का हो गया और सीमांत किसानों, यानी जिनके पास २.५ एकड़ या चार बीघा ज़मीन है, का प्रतिशत १९६१ के ३९ से बढ़कर १९८१ में करीब ५५ हो गया।

दूसरी ओर १० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन वाले किसानों की संख्या, जो १९६१—६२ में २३ लाख थी, १९७० ७१ में बढ़कर २८ लाख हो गयी।

१९६०—६१ में इन किसानों के पास औसतन १७ हेक्टेयर ज़मीन थी, जबकि १९७०—७१ में यह औसत बढ़कर १८ हेक्टेयर हो गया। १९६१—६२ में बड़े खेतों की कुल ज़मीन ३८६ लाख हेक्टेयर या कुल कृषि योग्य भूमि का २८.९९ प्रतिशत थी। १९७०—७१ में यह बढ़ कर ५ लाख हेक्टेयर या कुल कृषि भूमि का ३०.८ प्रतिशत हो गई। १९८१ के बड़े किसानों सम्बंधी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस तथ्य के बावजूद हमारे पास कृषि योग्य भूमि की कमी है। प्रकृति ने हमें पर्याप्त मात्रा में वर्षा और धूप प्रदान की है, उसके बावजूद विदेशों से हमें काफी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। इनकी कपटपूर्ण नीतियां भी इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार हैं। हमारे राजनेताओं ने कृषि को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था।

कृषि की आवश्यकताओं और समस्याओं को सुलझाने के लिए देश के नेता कितनी प्राथमिकता दे रहे हैं, यह इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि सरकार राजस्थान में नहर—निर्माण या बिहार में नलकूप लगाने के बजाए एशियाई खेलों पर १,००० करोड़ रुपया खर्च कर रही है। सम्भवतः किसी अन्य देश की सरकार इन परिस्थितियों में धन की बर्बादी का ऐसा अपराधपूर्ण कदम न उठाती।

जहां तक हमारी औद्योगिक नीति का सवाल है, उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि हमारे द्वारा अपनायी नीति से ज़्यादा अव्यावहारिक नीति हो ही नहीं सकती। भारत शहरों में नहीं, गांवों में निवास करता है। गांव निर्धन हैं, क्योंकि वहां की अधिकांश जनसंख्या या तो बेरोज़गार है या अर्द्ध—बेरोज़गार है। इतनी विशाल श्रम—शक्ति और उसके मुकाबले ज़मीन की कमी और अन्य प्राकृतिक साधनों के होते हुए कम पूंजी से शुरू किये गये कुटीर उद्योग लगाकर ही लोगों को उत्पादक रोज़गार दिया जा सकता है। इस प्रकार के उद्योग ही हमारी अन्य समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। बड़ी पूंजी लगाकर शुरू होने वाले पाश्चात्य अर्थनीति पर आधारित वे उद्योग नहीं, जिन्हें नेहरू ने अपनाया था। पाश्चात्य यंत्रीकृत अर्थ—व्यवस्था केवल बेरोज़गारी में बढ़ोतरी करेगी और धन कुछ हाथों में सिमट जायेगा। इस प्रकार पूंजीवाद अपनी सारी बुराइयों के साथ फैल जायेगा; और वास्तव में यह सब कुछ हो भी चुका है।

सुधार–सिद्धान्त

इस विषय में स्पष्ट सिद्धांत, जिसे अपनाने की आवश्यकता है, यह है कि ऐसी किसी भी वस्तु के उत्पादन हेतु मशीनी उद्योगों को बड़े स्तर पर स्थापित करने की इजाजत न दी जाए, जिसका उत्पादन लघु या कुटीर उद्योगों में मानव–श्रम शक्ति द्वारा किया जा सकता है।

उपरोक्त प्रतिपादन के पक्ष में आंकड़े प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रति श्रमिक के लिहाज से कुल उत्पादन का उद्योग के आकार तथा तकनीक से सीधा सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए उद्योग में लगी पूंजी तथा उद्योग के आकार अथवा तकनीकी सुधार के साथ–साथ प्रति श्रमिक उत्पादन बढ़ता है। कुटीर उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन लघु उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन के मुकाबले कम होता है और इसी प्रकार बड़े उद्योगों अथवा ऐसे उद्योगों के मुकाबले, जिनमें पूंजी निवेश को प्रमुखता दी जाती है, लघु उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन कम होता है, जबकि मूल्य तथा स्थायी पूंजी निवेश के आधार पर नियुक्त किये गये श्रमिकों का सम्बन्ध नकारात्मक होता है, अर्थात ऐसे उद्योगों में, जहां प्रति श्रमिक पूंजी–निवेश बढ़ता है तथा तकनीकी सुधार होता है, वहां पर उत्पादन भी कम होता है और कम श्रमिकों की नियुक्ति होती है।

यदि प्रति श्रमिक उत्पादकता, स्थायी पूंजी निवेश के आधार पर उत्पादकता तथा पूंजी निवेश की प्रति इकाई के आधार पर श्रमिक–नियुक्ति की बात की जाये, तो लगता है कि इनमें विरोधाभास है किंतु हमारे देश की जो स्थिति है, अर्थात् पूंजी की कमी तथा श्रम की बहुतायत, उसे देखते हुए इन स्थितियों में कोई विरोधाभास नहीं है, क्योंकि जब विभिन्न तकनीकों या उद्योगों के चुनाव की बात आती है, तो इसी तथ्य के आधार पर यह चयन हमारे लिए बहुत आसान हो जाता है। पूंजी निवेश की प्रमुखता देकर स्थापित किये गये उद्योगों में लगे श्रमिकों को ज़्यादा लाभ हो सकता है, क्योंकि उन्हें ज़्यादा मजदूरी मिलती है। किंतु देश के लिहाज से श्रमिक–बहुल उद्योग ही लाभकारी हैं। एक ऐसे देश में जहां पूंजी की कमी हो, अत्यधिक गरीबी हो, और मजदूरों की बहुतायत हो, वहां कुटीर उद्योग ही लाभकारी सिद्ध होंगे। पश्चिमी देशों में सरकारों तथा अर्थशास्त्रियों की यह कोशिश होती है कि प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़े, जबकि हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि पूंजी में बढ़ोतरी हो, क्योंकि देश में, पूंजी की कमी है, पश्चिमी देशों की तरह श्रमिकों की नहीं।

स्पष्ट है कि अधिक पूंजी निवेश वाले उद्योग एक ओर तो बहुसंख्यक

श्रमिकों को बेरोज़गार रखते हैं या बेरोज़गार बनाते हैं, दूसरी ओर इनकी वजह से पूंजी कुछ ही हाथों में इकट्ठी हो जाती है, जो पूंजी मजदूरी या आय के रूप में बहुतायत लोगों अथवा मजदूरों के पास जानी चाहिए, वही पूंजी मिल—मालिकों के मुनाफे के रूप में या गिने—चुने मजदूरों की ऊंची मजदूरी के रूप में कुछ हाथों में एकत्रित हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न लोगों की आय की विषमता की खाई बढ़ती जाती है। यही वजह है कि राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने के ३५ साल बाद भी आय में विषमता न केवल बरकरार है बल्कि लगातार बढ़ती ही जा रही है। इसी तरह कारखानों की संख्या पांच गुनी बढ़ जाने के बावजूद लोगों का जीवन—स्तर तथा उपयोगी सामग्री की खपत बढ़ी नहीं बल्कि गिरी है। अतः कुछ लोगों के लिए ऊंची आय अथवा पूंजी निवेश को प्रमुखता देने की राह तथा सभी उत्पादकों की आय में थोड़ी—बहुत बढ़ोतरी की राह में से यदि एक राह चुननी हो, तो निश्चय ही हमें दूसरी राह चुननी होगी, जो कि जापानी पद्धति है।

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले तो देश के नेताओं को यह समझना चाहिए कि गरीबी से बचकर समृद्धि की ओर बढ़ने का एकमात्र मार्ग गांव तथा खेतों से होकर गुजरता है, शहर तथा उद्योग नगरियों से होकर नहीं। विडम्बना यह है कि दोनों प्रमुख आर्थिक विचारधाराओं के लोग यानी पूंजीवादी तथा साम्यवादी भी हमें यही सलाह देंगे। बहुत से समाजवादी कहते रहे हैं कि सशक्त औद्योगिक आधार के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना असम्भव है, जबकि पश्चिमी अर्थशास्त्री अक्सर कहते रहे हैं कि विकासशील औद्योगिक क्षेत्र ही बाहरी पूंजी आमंत्रित कर सकता है।

जोनाथन पावर और अन्ना होल्सरीन ने अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड आफ हंगर' में पृष्ठ ८९ पर लिखा है कि तृतीय विश्व के नव स्वतंत्र देशों में हमेशा ही अनाज का अभाव बना रहता है, ग्रामीण क्षेत्रों का मनोबल गिरा रहता है, शहरी क्षेत्रों में झोंपड़—पट्टियों में रहने वालों की संख्या तथा आय में विषमता तेजी से बढ़ रही है और यह इसी गलत उद्योग नीति का परिणाम है। पाठकों को याद दिलाने की ज़रूरत नहीं कि भारत भी तीसरे विश्व के देशों में आता है।

अतः हमें ग्रामीण क्षेत्रों को प्राथमिकता तथा कृषि को केन्द्र बनाकर कुटीर उद्योग तथा कृषि की ओर वापिस लौटना होगा। हमारे देश की स्थिति में यह विशेष रूप से सत्य है कि हम अपने देश की जनता का जीवन स्तर तब तक नहीं उठा सकते, जब तक कि कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी न हो, भले ही औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो।

दूसरे, यदि इस मामले में हम सचमुच कुछ करना चाहते हैं, तो हमें

कानून बनाकर बड़े तथा मझोले उद्योगों में उन वस्तुओं के उत्पादन पर रोक लगानी होगी, जिन्हें लघु उद्योगों में बनाया जा सकता है। इसी प्रकार लघु उद्योगों में उन वस्तुओं के उत्पादन पर रोक लगायी जानी चाहिए, जिनका उत्पादन कुटीर उद्योगों में किया जा सकता है।

इसी प्रकार विद्यमान ऐसी मिलों तथा कारखानों को, जिनमें कपड़ा तथा अन्य इस तरह की वस्तुएं बनती हैं, जिनका उत्पादन लघु तथा कुटीर उद्योगों में किया जा सकता है, उन्हें देश में अपना उत्पादन बेचने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इन वस्तुओं का सिर्फ निर्यात होना चाहिए। जरूरी नहीं कि इस नियम का पालन एकदम किया जाए, इसे कई चरणों में शुरू किया जा सकता है। सरकार इस प्रकार के उद्योगों को हर सम्भव सहयोग दे, ताकि वे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अन्य देशों का मुकाबला कर सकें। इसके बावजूद यदि वे मुकाबला नहीं कर सकते, तो उन्हें बन्द कर दिया जाना चाहिए, पर घरेलू बाज़ार हर हालत में लघु कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित रहने चाहिए। स्पष्ट है कि जिस प्रकार लघु उद्योगों को मझोले तथा बड़े उद्योगों से सुरक्षा प्रदान की जाए, उसी प्रकार कुटीर उद्योगों को अन्य सभी से सुरक्षित रखा जाना चाहिए।

इसके अलावा बेरोज़गारी की समस्या से निपटने का कोई रास्ता नहीं है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि देश में बेरोज़गारी मुख्य रूप से आधुनिक तकनीक की देन है। अतः इसके समाधान के लिए उत्पादन तकनीक तथा उसके तरीकों में आमूल परिवर्तन करना होगा। इसके अलावा हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जब हम देश में व्याप्त बेरोज़गारी की बात करते हैं, तो हम कुछ हजार या कुछ लाख लोगों की बात नहीं कर रहे होते बल्कि उन करोड़ों लोगों की बात कर रहे होते हैं, जो बेरोज़गार अथवा अर्द्ध–बेरोज़गार हैं। हमारी समस्या इतनी बड़ी है कि छोटे–मोटे सुधारों से हालत नहीं बदलेगी। इसके लिए जरूरी है कि हम इसे मूलभूत राजनैतिक तथा आर्थिक दर्शन बनाएं।

भारत आवश्यक परिवर्तन कर इस समस्या का समाधान कर सकेगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि इसके लिए राजनेतागण आवश्यक राजनैतिक साहस जुटा पाते हैं या नहीं।

खण्ड तीन

राजनैतिक लेखन

१४
हमारी गुलामी के कारण

अंग्रेज भारतीयों से किसी भी तरह श्रेष्ठ नहीं थे, इसके बावजूद उन्होंने भारत पर सैकड़ों वर्ष तक शासन किया। इसके पीछे कौन से कारण थे तथा उनके विरोध के संदर्भ में समकालीन कांग्रेस की क्या भूमिका थी, चौधरी चरण सिंह ने इस तथ्य का विश्लेषण इलाहाबाद एवं लखनऊ से प्रकाशित 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के १६ अगस्त, १९४७ के 'कांग्रेस विशेषांक' में, 'कॉज़ेज ऑफ अवर स्लेवरी' शीर्षक से लिखे लेख में किया है। उस समय वह उत्तर प्रदेश सरकार में सभा सचिव थे।

अंग्रेज हम लोगों से किसी भी तरह श्रेष्ठ नहीं हैं, चाहे हम उनके देश के (आर्थिक) स्रोतों से तुलना करें या उन की शारीरिक या मानसिक क्षमता से। न ही उनके पास हमें नैतिकता एवं सभ्यता की सीख देने जैसा कुछ था, कम–से–कम जब वे हिन्दुस्तान आये। बल्कि कला, संस्कृति एवं सभ्यता को बाजारू माल मानकर हिन्दुस्तान एवं इंग्लण्ड के बीच व्यापार हो, तो पलड़ा हिन्दुस्तान का ही भारी पड़ेगा–इस आशय की स्वीकारोक्ति एक अंग्रेज ने ही १८३३ में हाऊस ऑफ कॉमन्स की एक समिति के समक्ष की थी। फिर भी अंग्रेजों ने कई पीढ़ियों तक हम पर शासन किया। सवाल उठता है–कैसे?

इसके दो या तीन मामूली कारण हैं–यूरोपीय अनुशासन एवं सैन्य तकनीकी श्रेष्ठता, दिल्ली स्थित केन्द्रीय सत्ता के क्षीण हो जाने के कारण देश में व्याप्त अराजक स्थिति वगैरह, लेकिन इसका जो सबसे प्रमुख कारण रहा है, वह है हममें राष्ट्रीय विवेक का अभाव।

देशभक्ति का अभाव

इंग्लैण्ड ने भारत को जीता एवं भारतीय सैनिकों, जिनका भरण–पोषण

भारतीय धन से ही होता था, के जरिये उसे पराधीन बनाये रखा। इंग्लैण्ड के खजाने से उसके लिए एक भी पैसा नहीं आता था। १७७३ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ५४,००० सैनिक थे, जिनमें अंग्रेजों की संख्या मात्र ९,००० थी; १८०८ ई० में कुल १,५५,००० सैनिकों में से सिर्फ ४५,००० ही अंग्रेज थे; और सन् १८५४ में जब फौजियों की कुल संख्या २,८०,००० हुआ करती थी, तब भी उसमें मात्र ४५,००० ही अंग्रेज सैनिक थे, यानी सेना में औसतन मात्र १६ प्रतिशत ही अंग्रेज रहे। गौर करने की बात यह भी है कि ब्रिटिशकालीन भारत में ऐसा कोई भी निर्णायक युद्ध नहीं हआ, जिसमें अंग्रेज फौजियों की टुकड़ी ने संख्या बल में अपने बराबर के हिन्दुस्तानी सैनिकों का सामना कर, पराजित किया हो। इतिहास शायद ऐसा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता, जिसमें एक विदेशी विजेता ने सिर्फ तनख्वाह देकर किसी देश में सेना तैयार की हो और जिसका इस्तेमाल उसी देश को जीतने के लिए किया हो। लेकिन अंग्रेजों ने भारत में बिल्कुल वही किया। अतः भारत के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसे विदेशियों ने जीता बल्कि इसने खुद को पराजित किया। सवाल है, ऐसा क्यों हुआ?

इसका जवाब यह है कि भारत को कभी विदेशियों से ईर्ष्या नहीं हुई, क्योंकि यहां राष्ट्रीय एकता की कोई सोच ही नहीं थी। इसलिए राजनीतिक दृष्टि से (और शायद ही किसी और नजरिये से) भारत का अस्तित्व एक देश जैसा था ही नहीं। अगर सही कहा जाय, तो यहां कोई भी विदेशी नहीं था।

यद्यपि प्राचीन काल की तरफ पीछे मुड़कर हम देखें, तो पाते हैं कि कभी एक आक्रामक जाति, कभी दूसरी, कम या ज़्यादा अंतराल पर यहां आती रहीं, लेकिन विदेशी आक्रामकों का बिना किसी बाधा के लगातार, ग्यारहवीं शताब्दी के बाद ही यहां आना शुरू हुआ। विदेशी गुलामी की तरफ भारत तेजी से बढ़ा और राज्य लोगों में देश–भक्ति की भावना जगाने का अपना अधिकार खो बैठा (जिसे कल ही, यानी १५ अगस्त १९४७ को ही वह फिर से वापस पा सका है)। राष्ट्रीयता का बंधन शताब्दियों पहले टूट चुका था तथा स्वदेशी एवं विदेशी के बीच के काफी भेद क्रमशः धीरे–धीरे खत्म हो चुके थे। अंग्रेजों के दृश्य–पटल पर आने के काफी पहले ही राज्य इस स्थिति को पहुंच चुका था, क्योंकि हम यह भी पाते हैं कि मुगलों ने भी बिना किसी प्रकट साधन के विजय प्राप्त की थी। बाबर किसी शक्तिमान राष्ट्र को अपने पीछे लेकर नहीं आया था और न ही किसी ताकतवर राज्य के किसी संगठन पर वह अवलम्बित था।

एकता का अभाव

किसी भी आदमी का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह अपने देश के लिए विदेशियों से लड़े लेकिन एक आदमी के लिए देश का वास्तविक अर्थ क्या है? इस सिद्धांत की व्याख्या करने पर हम पाते हैं कि मनुष्य का लालन–पालन एक समुदाय में होता है, जिसे एक विशाल परिवार के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए वह स्वभावतः वहां की भूमि को अपनी मां जैसा समझने लगता है लेकिन दूसरी तरफ, भारत में यह समुदाय ऐसे (एक रूप) परिवारों से मिलकर नहीं बना है बल्कि दो या दो से ज़्यादा ऐसी जाति, धर्म या भाषा समूहों से मिलकर बना है, जो अगर देश से नहीं, तो एक–दूसरे से घृणा करते रहे थे। हिन्दुओं जैसे मुख्य धार्मिक समूह के अन्दर ही हजारों जातियां थीं, जिनको एक सूत्र में बांधने जैसा कुछ था ही नहीं।

राष्ट्रीयता का संयोजन जिन तत्त्वों से होता है, उनमें से अग्रणी होता है एक सामूहिक धर्म। हिन्दूवाद के रूप में यह तत्त्व यहां विद्यमान था, जिसे यहां की विशाल बहुसंख्यक आबादी मानने वाली थी लेकिन यह इतना शक्तिशाली साबित नहीं हुआ कि इस देश को संयुक्त कर, एक पूर्ण राजनीतिक अविभाज्य शक्ति बना सके। वे एक भीड़ के समान बिना किसी समान भावना एवं हित के व्यक्तिगत पिण्ड की तरह एक–दूसरे से कटे रहे। जाति, उपजाति, परम्परा, एक–दूसरे से भिन्न धार्मिक आस्थाओं, अंधविश्वासों के चलते बंटे होने के कारण जो कुछ सूत्र भी उन्हें एक साथ बांधे रखते थे, वह निहायत ही कमजोर थे। बाहरी दबावों एवं कई शताब्दियों तक एक के बाद एक होते गये अफगान, तुर्क या मुगल आक्रमणों के कारण उत्पन्न हुए अनुकूल वातावरण के बावजूद हिन्दूवाद में देश–भक्ति का समावेश नहीं हुआ। इसने हमलावर, चाहे वह भू–मार्ग से आया हो या समुद्री रास्तों से, के खिलाफ देशवासियों को जगाने और एकजुट करने का प्रयास कभी नहीं किया। यद्यपि मराठों ने मुगल साम्राज्य के ऊपर भयानक प्रहार किये थे लेकिन वे, अगर भारतीय नहीं, तो एक हिन्दू राज्य के तौर पर भी अपने को विकसित करने के बजाए पांच अलग–अलग विभाजित टुकड़ों में बंटे और बहुत आसानी से अंग्रेजों के शिकार बन गये।

यही कारण था कि जब अंग्रेजों के चरण यहां पड़े, तो भारतीय की बात कौन कहे, एक भी हिन्दू भारत की इस भूमि पर मौजूद नहीं था। यहां के सारे निवासियों को एक सूत्र में बांधने वाला कोई धागा ही नहीं था। हमारी वफादारी संकीर्ण थी; और हमारी दृष्टि सीमित। वे जाति, भाषा

समूह या किसी भी तरह धर्म की सीमा से ऊपर उठे ही नहीं। उनकी निष्ठा 'भारत माता' के प्रति कभी नहीं थी। भारत का मतलब उनके लिए सिर्फ भौगोलिक विस्तार भर था।

रॉबर्ट क्लाईव एवं वारेन हेस्टिंग्स के कई समकालीन या उनके प्रतिद्वंद्वी भारतीय अपने निजी जीवन में उनसे कहीं ज़्यादा श्रेष्ठ थे लेकिन उन्होंने अपनी वचनबद्धता को कभी नहीं तोड़ा, नतीजतन उनके अपने ही लोग गुलाम बनते गये, जबकि दूसरी तरफ अंग्रेजों ने अपने वचन का मान एक बार भी नहीं रखा, अगर वह इंग्लैण्ड के हित के खिलाफ जा रहा हो।

ऐसा क्यों हुआ? इसका जवाब पूर्व कथन को दुहराना ही है; क्योंकि समान राष्ट्रीयता या एक सामूहिक मातृभूमि की भावना हमारे पूर्वजों ने अनुप्राणित नहीं की, जबकि इंग्लैण्ड का अस्तित्व उसकी संतानों के लिए जीवंत था—कुछ ऐसा, जिसके लिए वे कुछ भी त्याग देते।

कांग्रेस की भूमिका

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई। हमारे नेताओं ने हमारे राजनीतिक पतन के कारणों की ठीक मीमांसा की। उन्होंने पाया कि सदियों से लाखों—करोड़ों की संख्या में लोग भारत में रहते आये हैं लेकिन एक आदमी भी इस देश के प्रति कभी वफादार नहीं रहा। हम या तो हिन्दू थे या मुसलमान, बंगाली या पंजाबी, ब्राह्मण या राजपूत लेकिन भारतीय कोई भी नहीं। इसलिए वे एक सामूहिक राष्ट्रीयता का विकास करने आगे बढ़े, एक ऐसी वफादारी पैदा करने का संकल्प लिया, जो नस्ल या भाषा, जाति या लिंग से जुड़ी हुई निष्ठा से ऊपर हो—वफादारी उस मातृभूमि के लिए, जो हम सभी के लिए है, जिसका वाजिब हक बनता है। उन्होंने यह सटीक अनुमान लगाया कि एक बार समान राष्ट्रीयता की भावना यहां अस्तित्व में आ गयी, एक बार लोगों में यह समझ पैदा हो गई कि एक—दूसरे पर अपना प्रभुत्व बरकरार रखने के लिए विदेशियों की मदद करना कितनी शर्मनाक बात है, तो गुलामी की जंजीरें जोरदार आवाज के साथ टूटेंगी और बर्तानवी साम्राज्य का देखते—देखते अंत हो जायेगा।

सही पूर्वानुमान से महात्मा गांधी के नेतृत्व में वे अपने सपनों को ठोस आकार देने के लिए आगे बढ़े। कांग्रेस के प्लेटफार्म से बिना जाति, लिंग या भाषा के विभेद के सारे भारतीयों के लिए एक मंच तैयार हो गया, तिरंगा सबका झंडा बना, 'वन्देमातरम्' एवं 'सारे जहां से अच्छा' सामूहिक गाने। महात्मा गांधी एवं उनके विश्वस्त प्रतिनिधि—लोकमान्य तिलक एवं अन्य दूसरे नेता, जो शहीद हो चुके थे—सबके नायक और २६ जनवरी

राष्ट्रीय दिवस। हिन्दी या हिन्दुस्तानी को देश में सबके लिए व्यवहृत प्रचलित भाषा के रूप में स्वीकृति मिलने लगी। इतिहास में उल्लेखित कई दूसरे सामूहिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारक तथा एक समान भूमि पर एक साथ गुजर–बसर करने जैसे तथ्यों पर भी कांग्रेस ने जोर दिया। एक समान, विदेशी नस्ल की सामूहिक गुलामी एवं उसके साथ–साथ समान कानून, शिक्षा एवं प्रशासन, जिसे विदेशी शासन के दौरान थोपा गया, वही अंततः राष्ट्रीय स्तर पर जागरूकता बढ़ाने वाला साबित हुआ। इसका बुनियादी कारण एक ही था–मिश्रित राष्ट्रीयता का विचार।

कांग्रेस की सफलता एवं असफलता

गांधीजी के नेतृत्व में आरम्भ हुए अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों के कारण स्वयंसेवकों का एक ऐसा जत्था तैयार हो गया, जो नये जीवन की आकांक्षा से स्पंदित, एक नयी दृष्टि से अनुप्रेरित एवं अपने गुरु द्वारा सिखाये गये ऊंचे आदर्शों से सराबोर थे। हमारा मानसिक क्षितिज पहली बार विस्तृत हुआ था, जिसके अन्दर समग्र भारत एवं उसकी मानवता का समावेश हो चुका था। कांग्रेस समितियों का देहातों में सर्वत्र जाल फैलाया गया और राष्ट्रीयता के संदेश को देश के सुदूर कोनों तक पहुंचाया गया। शताब्दियों बाद भारत पहली बार एक बंधन में बंधा–कांग्रेस संगठन ने इसे एक ही धागे से एक सूत्र में बांधा। 'भारत माता की जय', 'महात्मा गांधी की जय,' एवं 'इन्कलाब जिंदाबाद' जैसे पवित्र नारों की गूंज से सात लाख गांव प्रतिनिनादित हो उठे। भारत की लोक प्रचलित निष्क्रिय आज्ञाकारिता की प्रवृत्ति का लोप हो चुका था। १९४२ में यह शीर्ष पर पहुंच गया, जब 'भारत छोड़ो' जैसा एक दूसरा नारा उसमें जुड़ा। वे शरारती लड़के, जिन्होंने कांग्रेस के ग्रामीण जुलूसों में भाग लिया था या पिछले बीस वर्षों के दौरान आयोजित कांग्रेस की सभाओं में राष्ट्रीय गान को स्वर दिया था, वे विदेशी युद्ध मशीनरी को तोड़–फोड़ करने वालों में बदल चुके थे या नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की इंडियन नेशनल आर्मी में भर्ती हो गये थे। जो उस समय तक अंग्रेज अधिकारियों के सीधे कमान में थे, वे भी अपनी बारी के इंतजार में थे।

विदेशियों ने देखा कि भारत न सिर्फ जाग चुका है, बल्कि एक समग्र राष्ट्र के रूप में सांस भी ले रहा है, और यह भी कि अब वे उन भारतीय सैनिकों पर भरोसा नहीं कर सकते, जो देखते ही देखते अपने देशवासियों को अपना भाई समझने लगे हैं और अंग्रेजों को विदेशी, जो सिर्फ उन्हें हुक्म देता है भारत पर कब्जा बनाये रखना उनके लिए स्पष्ट तौर पर

असम्भव हो गया और बिना युद्ध किये भारत को जल्दी से छोड़ना उन्होंने तय कर लिया। हमारे नेताओं का सपना सच हो चुका था।

लेकिन इस उपलब्धि में असफलता भी शामिल थी। हम लोग अपने बहुसंख्यक मुस्लिम देशवासियों को यह यकीन दिलाने में असफल रहे कि वे अपनी पहचान को समग्र भारत में जोड़कर देखने की आवश्यकता को समझें। इस हद तक कि देश अपने चिह्न–तिरंगा से बाहर हो गया। ऐसा क्यों हुआ, इसके विस्तार में मैं नहीं जाना चाहता लेकिन इस पर आंसू बहाकर आगे बढ़ूंगा।

मिथ्या प्रचार

आज पूरे भारतीय संघ पर कांग्रेस का वजूद मौजूद है। सभी राज्यों एवं केन्द्र में कांग्रेस सत्ता में है। इन सरकारों के खिलाफ जो भी आलोचना होती है, चाहे वह न्याय–संगत हो या नहीं, उसके बारे में मुझे यहां कुछ नहीं कहना है। मैं कांग्रेस संगठन की बात करूंगा। एक सघन प्रचार यह हो रहा है कि साधारणतया सभी कांग्रेसी स्वार्थी हैं, इनसे जो अपेक्षाएं थीं, उस हिसाब से ये लोग घटिया साबित हुए हैं और वस्तुतः ये लोग भ्रष्टाचारी हैं और अपने स्वार्थ को देश के ऊपर रखते हैं। कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने विशेषकर इस प्रचार को बढ़ावा दिया है, जो गलतफहमी या सही जानकारी के उपलब्ध न होने पर आधारित है। जहां तक मेरी जानकारी है, इस प्रचार का एक भाग सही भी हो सकता है और उसके लिए मैं तर्क दूंगा कि हमारे कुल राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट आई है। जो गड़बड़ियां हुई हैं, उन्हें उचित ठहराने या घटाकर बताने का मेरा कोई इरादा नहीं है। हम लोगों को अपना नैतिक स्तर उठाना है लेकिन इसमें निश्चय ही कुछ समय लगेगा। हमें सिर्फ यह याद रखना है कि कांग्रेसियों ने देश की पुकार पर उस समय ध्यान दिया और कूद पड़े, जब भारत का राजनीतिक आकाश अनिष्ट सूचक बादलों से आच्छादित था, जबकि ये आलोचक विदेशियों की उपस्थिति से बिना विचलित हुए अपार सम्पत्ति संचित करने में लगे थे।

गौरवशाली कीर्तिमान

जो बात मैं घर–घर तक पहुंचाना चाहता हूं, वह यह है कि कांग्रेसियों के खिलाफ जो कुछ भी कहा जाता है, उस सबके बावजूद उनमें से अधिकांश अभी भी उन्हीं आदर्शों से प्रेरित हैं, जिनसे प्रेरणा पाकर वे

अंग्रेजों से जूझे थे। क्या हमारे देशवासी चीन, वर्मा एवं इन्डोनेशिया की स्थिति पर गौर करेंगे और भारत से उनकी तुलना करेंगे? मैं चाहता हूं कि वे यह समझें कि अगर कांग्रेस बहुत ज़्यादा बदनाम कांग्रेस होती, तो भारत में भी आज वही हो रहा होता जो इन देशों में घट रहा है। यह कांग्रेस ही है, जिसने देश को एक सूत्र में थाम रखा है– जो देश एवं दुर्व्यवस्था के बीच खड़ी है। उन्हें यह महसूस करना चाहिए कि हम लोगों को एक–दूसरे का गला पकड़ने से अगर कोई रोके हुए है, तो वे हैं गांवों में मौजूदा कांग्रेसी स्वयंसेवक, न कि सेना या प्रशासनिक तंत्र। ऊपर चर्चित एशियाई देशों में ऐसा कोई संगठन नहीं है, जो उतना ही विस्तृत, उतना ही शक्तिशाली और जो जनता की निष्ठा प्राप्त होने का दावा कर सके और जिसका उतना ही पुराना अतीत हो, जैसा कि भारत में कांग्रेस का है। हमारे नेताओं ने जीवन भर त्याग किया है और कठिन श्रम के पश्चात् वही हमारे बीच आये हैं, हमें उन पर गर्व है और हमें अपने को खुशनसीब समझना चाहिए कि ऐसे चरित्रवान मनुष्य हमारे पथ–प्रदर्शक हैं। इनमें से कोई भी अकेले यह आशा नहीं कर सकता कि वह कांग्रेस के खिलाफ सफल विद्रोह का नेतृत्व कर सकेगा या एकजुट होकर एक विरोधी पार्टी बनाये और सत्ता हड़पने की कोशिश कर सके। बर्मा या इन्डोनेशिया में ऐसा कोई भी संगठन नहीं है, जिसका इतना संयत प्रभाव हो।

चेतावनी के दो शब्द

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत एक ऐसा देश है, जो विखण्डनवादी प्रवृत्तियों से भरा हुआ है। यहां साम्यवादियों जैसी विध्वंसक शक्तियां भी हैं, जो अराजकता फैलाने के लिए निरंतर कार्यरत हैं। यदि कांग्रेस को भारत के राजनीतिक परिदृश्य से आज हटाया गया, तो राज्य रूपी भवन कल ही भहरा कर नीचे गिर पड़ेगा। आलोचक यह भी पायेंगे कि विघटनकारी तत्त्व देश के उस हिस्से या अर्थ–व्यवस्था के उस क्षेत्र में ज़्यादा सक्रिय हैं, जहां भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमजोर है। हमें बापू का आभार मानना चाहिए कि उन्होंने मुक्ति के इस यन्त्र को आग में तपाकर ऐसा बनाया कि आज वह हमारे राजनीति रूपी शरीर को, जो अभी पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है, केन्द्र की ओर ढकेलने वाली शक्तियों के खिलाफ ढाल का काम कर रहा है। विदेशी विचारों से प्रेरित ये शक्तियां फिर अपना सिर उठा रही हैं।

ये घड़ियां संकटपूर्ण हैं। हमारी राष्ट्रीयता अभी सतह से ज़्यादा गहरी

नहीं है। इन खतरों को टल जाने दें, देश–भक्ति का पाठ लोग सही तौर पर ग्रहण कर लें, देश की अर्थ–व्यवस्था को मजबूत कर लें, ताकि निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। संक्षेप में हमारी स्वतंत्रता जड़े जमा ले, उसके बाद एक–दूसरे को नीचा दिखाने के लिए हमारे पास काफी समय होगा। वर्तमान स्थिति को दस साल से ज़्यादा नहीं झेलना है।

१५
गांधी और गांधीवाद

राजनीतिक जीवन की शुरुआत से ही चौधरी चरणसिंह की गांधी और गांधीवाद में अनन्य निष्ठा रही। वह जीवन भर गांधीवादी सिद्धान्तों के अनुगामी रहे। गांधीजी के प्रति उनके चिन्तन का संक्षिप्त परिचय चौधरी साहब के यहां दिये गये रेडियो भाषण से मिलता है, जो ३० जनवरी, १९५१ को आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र से, गांधीजी की तीसरी पुण्य तिथि पर, प्रसारित हुआ था। उस समय चौधरी साहब उत्तर प्रदेश विधान सभा में सभा सचिव थे।

आज से ठीक तीन वर्ष पूर्व महात्मा जी ने अपनी नश्वर देह का त्याग किया।

महात्मा जी ने जब जन्म लिया, उस समय तक सन् १८५७ की याद ताजा थी, बहुत से वीर सैनिक, जिन्होंने उस स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था, जीवित थे। परन्तु पराजय के फलस्वरूप निराशा की काली घटाएं भारत के आकाश में छाई हुई थीं, राष्ट्रीय जीवन को पाला मार गया था और अंग्रेज विजय के मद में चूर, शोषण के नये–नये ढंग निकाल रहे थे तथा हमारी बेड़ियां और कसी जा रही थीं।

भारतवर्ष के इस पतन–काल में २ अक्टूबर, सन् १८६९ की बात है कि मोहनदास नाम के एक बालक ने गुजरात प्रान्त में जन्म लिया। इस बालक ने बड़े होकर जो–जो काम किये, उनका पूरा बखान करने के लिए एक बाल्मीकि अथवा व्यास की लेखनी चाहिए। आज तो मैं उसका कुछ महिमा–गान करके केवल अपनी वाणी पवित्र करना चाहता हूं।

इस बालक ने अनवरत परिश्रम करके भारतवर्ष के करोड़ों मूक जनों के राजनैतिक बन्धन ही नहीं काटे, प्रत्युत संसार भर के पीड़ित तथा सुख व शान्ति के प्यासे प्राणियों के लिए एक अमर संदेश भी दिया।

अब से ३० बरस पहले की बात है, जब कि मेरी पीढ़ी के लोग स्कूल व कालेजों में शिक्षा पा रहे थे, महात्मा जी ने अपने 'नवजीवन' नामक

साप्ताहिक पत्र में लिखा कि "मैं अंग्रेजी राज्य का बैरी हूं, क्योंकि वह शैतान की हुकूमत है परन्तु मैं अपने आपको अंग्रेजों का मित्र मानता हूं।" उनकी यह उक्ति उस समय के लोगों में से बहुत कम की समझ में आई। कम से कम नवयुवकों की अक्ल में नहीं बैठता था कि अंग्रेज और अंग्रेजी हुकूमत में क्या अन्तर है। हम लोग, जो कुछ हमारे देश में हो रहा था, उस सबके कारण, प्रत्येक अंग्रेज को अपना बैरी समझते थे। परन्तु आज भारतवर्ष का प्रत्येक जनसेवक जानता है कि महात्मा जी के उक्त कथन के पीछे जो सिद्धान्त है, अर्थात् मनुष्य और उसके कर्म में अन्तर है तथा हमको किसी मनुष्य से द्वेष नहीं करना चाहिए बल्कि उसके बुरे कर्म से स्वयं बचना चाहिए और उसका छुटकारा भी कराना चाहिए। उसी पर अमल करके समाज में शान्ति कायम हो सकती है।

प्रत्येक अंग्रेज का दिल व दिमाग उसी प्रकार काम करता व सोचता है, जैसे किसी हिन्दुस्तानी का। मानव–स्वभाव में केवल देश, नस्ल व रंग का भेद होने के कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता। हो सकता है कि यदि हमारे पूर्वज किसी दूसरे देश को अपने अधीन कर लेते, तो हम भी वहां के निवासियों के साथ वही बर्ताव करते, जो अंग्रेजों ने हमारे साथ किया। महात्मा जी का अपने इसी तर्क के अनुसार यह भी कहना था कि ज़मींदारी प्रथा खराब है, उसे मिटाना चाहिए परन्तु जमींदार मेरा भाई है, उसे गले लगाना होगा और कहना न होगा कि ठीक इसी सिद्धान्त के अनुकूल, उत्तर प्रदेश के 'ज़मींदारी विनाश एवं भूमि व्यवस्था कानून' के अधीन जमींदार के साथ गांधीजी के अनुयायी बर्ताव कर रहे हैं।

अब यदि हम एक बार गांधी जी की इस धारणा की सच्चाई जान लेते हैं, तो हम अनिवार्य रूप से उनके दूसरे सिद्धान्त पर जाते हैं अर्थात् समाज व मनुष्य जाति का परस्पर बर्ताव प्रेम पर आश्रित हो, न कि घृणा पर। किसी मनुष्य अथवा कौम से हमें यदि उसका पाप, यानी, अज्ञानपूर्ण कर्म छुड़ाना है, जिससे हमको या किसी अन्य को कितनी बड़ी हानि ही क्यों न पहुंच रही हो, तो उससे द्वेष करके या उसके प्रति हिंसा और आघात करके नहीं, अपितु सत्य, प्रेम व अहिंसा पर अवलम्बित साधनों द्वारा ही छुड़ाया जा सकता है। द्वेष और हिंसा–द्वेष व हिंसा को ही जन्म देते हैं। आग पानी से ही बुझाई जा सकेगी न कि आग से और जब घृणा, असत्य व हिंसा का जवाब प्रेम, सत्य व अहिंसा से दिया जाएगा, तो दोनों पक्षों को लाभ पहुंचेगा, दोनों ही धन्य होंगे। न कोई विजेता रह जाएगा, न पराजित। बजाय बैर बढ़ जाने व दिल में कसक रह जाने के, प्रेम का साम्राज्य होगा और दोनों मित्र बन जाएंगे।

साध्य का क्या रूप होगा, यह बहुत कुछ साधन पर निर्भर रहता है। मैजिनी का उद्देश्य अर्थात् इटली की स्वतन्त्रता गैरीबाल्डी द्वारा हिंसा के बल पर संपादित हुई, परन्तु जो घरेलू युद्ध के फलस्वरूप इटली बनी, उसे देखकर मैजिनी कहने पर विवश हुए कि "यह इटली वह नहीं है, जिसका मैं स्वप्न देखा करता था। मैं अपनी प्यारी मातृ–भूमि की शव यात्रा देख रहा हूं।"

इसी प्रकार सन् ४७ की मार–काट के बाद जो पाकिस्तान बना और भारतवर्ष का रूप रह गया, उसे देखकर महात्मा क्षुब्ध थे। आज इंगलिस्तान तथा पाकिस्तान से जो भारतवर्ष के दो प्रकार के सम्बन्ध हैं, उनकी तह में उन साधनों का भेद ही दिखाई दे रहा है, जिनके द्वारा स्वराज्य लिया गया और जिनके द्वारा पाकिस्तान स्थापित किया गया।

हमने अंग्रेजों को गोली से नहीं मारा, यही नहीं, महात्मा जी ने उनको गाली भी नहीं देने दी। फल यह हुआ कि सदियों के बाद उनके फौलादी पंजों से हमारा छुटकारा हुआ, तो भी हमारे सम्बन्ध उनसे मधुर बने हुए हैं। इसके विपरीत मुस्लिम लीग ने हिन्दुओं के प्रति नफरत का राग अलापा और गांधी जैसे मुसलमानों के शुभ–चिन्तक को, जिसने अन्त में अपनी जान ही उनके लिए निछावर कर दी, 'मुसलमानों का दुश्मन नम्बर एक' कहा। इसके बाद जो पाकिस्तान बना, चाहे हिन्दुस्तानी व पाकिस्तानी अब तक एक मुल्क के निवासी व एक–दूसरे के खून के खून और एक–दूसरे की हड्डी की हड्डी से सम्बंध क्यों न रहे हों, उसके व हमारे सम्बन्धों में खिंचाव है।

सन् १९२१ में एक बार महात्मा जी का एक और कथन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिला––"मैं सर तेज बहादुर सप्रू को उतना ही बड़ा और सच्चा देश–भक्त मानता हूं, जितना जवाहरलाल नेहरू को।" एक ओर सप्रू साहब वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य और महकमा–न्याय के इंचार्ज थे और गवर्नमेंट का दमन चक्र जोरों से चल रहा था। दूसरी ओर भारत माता के अन्य हजारों सपूतों के साथ–साथ पं. जवाहरलाल जी अपने सुख व वैभव को लात मार कर जेलखाने में पड़े थे। महात्माजी का सप्रू साहब व नेहरू जी को एक ही कोटि में रख देना फिर हम लोगों की समझ में नहीं आया, बल्कि उससे एक प्रकार का धक्का लगा। परन्तु आज समझ में आ रहा है कि पंचायती राज यदि चलाना है, तो महात्मा के इस सिद्धान्त के बल पर ही चल सकता है, अन्यथा नहीं। जनतंत्र अर्थात् जहां जनता या उसके चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा ही शासन तंत्र चलाया जाता हो, तब ही सफल हो सकता है, जब कि हम अपने प्रतिद्वंद्वी को भी उतना ही ईमानदार मानें, जितना कि हम अपने आपको मानते हैं। मतभेद

होना दूसरी बात है, परन्तु मतभेद रखते हुए भी दो व्यक्ति ईमानदार हो सकते हैं, दोनों देश–भक्त हो सकते हैं। जनतंत्रवाद व अधिनायकवाद में यही मौलिक अन्तर है।

डिक्टेटर लोगों तथा उन राजनैतिक दलों का, जिनका किसी व्यक्ति विशेष या अपने दल की डिक्टेटरशिप में विश्वास होता है, पहला सिद्धान्त है कि "वह व्यक्ति जो मुझसे या हमसे भिन्न विचार रखता है, मूर्ख है या बदमाश है।" (The man who differs from me, is either a fool or a knave) उनकी राय में यह नहीं हो सकता कि जो मनुष्य अपने सिर में मस्तिष्क रखता हो, सच्चाई के साथ आपसे भिन्न राय रख सके। भिन्न राय रखता है, तो बेईमानी से रखता है और बदमाश है। और क्योंकि जब ईमानदारी व सही राय रखने का हमने ठेका ले लिया, तो फिर देश–हित का ठेका ले लेना सहज है। यही नहीं, देश–हित में मतभेद रखने वाले को तलवार के घाट उतार देना अनिवार्य और युक्तिसंगत जान पड़ता है।

महात्मा जी चरखे पर बड़ा बल देते थे। यहां तक कह देते थे कि चरखे से ही सच्चा स्वराज्य प्राप्त होगा। लोगों की समझ में न आता था कि यह फकीर चरखे द्वारा अंग्रेज जैसी शक्तिशाली कौम के मुकाबले में कैसे स्वराज्य दिला देगा, जब कि खेतों की मेड़ों के लिए हम किसान को लाठी इस्तेमाल करते हुए और दूसरे की जान लेते हुए देखते हैं। परन्तु हम भूलते थे–महात्मा वर्तमान व्यवस्था को केवल मिटा ही नहीं रहा था बल्कि साथ–साथ दूसरे, नये समाज की नींव रख रहा था। वह जानता था कि मनुष्य सच्चे अर्थों में तभी सुखी होता है, जबकि अपनी रोटी कमाने के धंधे में किसी के पराधीन न हो तथा मनुष्य अपने रोज़गार में तभी स्वतन्त्र कहा जा सकता है, जबकि वह अपने कार्य, रोज़गार या पैदावार के साधन का स्वयं मालिक हो और किसी दूसरे के हुक्म का बन्दा न हो अर्थात् अपने वक्त और अपनी मरजी का मालिक हो। परन्तु यह दशाएं तभी उपस्थित हो सकती हैं, जबकि आर्थिक इकाई छोटी हो, बड़ी न हो, जिसमें काम करने वालों की संख्या अधिक हो अथवा ऐसी हो, जहां श्रमिक या कारीगर स्वेच्छा से काम कर सकें और उसको अनिवार्य रूप से दूसरे का हुक्म न मानना पड़े। बड़ी आर्थिक इकाई में काम करने वालों की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, उन्हें अपने कारखाने आदि में बनी चीज पर कोई गर्व नहीं हो सकता, वह कठपुतली की तरह काम करते हैं। क्योंकि उन्हें दूसरों की आज्ञा मानने की आदत हो जाती है, उनमें स्वावलम्बन नहीं रहता तथा मैनेजर आदि के हुक्म का पालन करने की आदत हो जाती है। जहां मैनेजरों की संख्या अधिक होगी, चाहे वह फार्म के हों या कारखानों के, वहां हुक्म

देने की, दूसरे की स्वतन्त्रता हड़प करने की अर्थात् अधिनायकवाद की प्रवृत्तियां प्रबल हो जाएंगी।

गांधी जी के लिए चरखा केवल छोटे रोज़गारों का प्रतीक था। वह चाहते थे कि सिवाय उन वस्तुओं के बनाने वाले कारखानों के, जो छोटे पैमाने पर न बन सकती हों, सब चीजें अपने देश में लाखों, बिखरे हुए गांवों के अन्दर कारीगरों की झोंपड़ियों में बनें। ऐसी आर्थिक व्यवस्था में अधिक लोगों को काम मिलेगा अर्थात् कोई बेरोज़गार न रहेगा। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होगा, वह स्वतंत्र रहेगा और इस कारण सुखी भी। महात्मा न बिजली के विरोधी थे, न मशीनों के। केवल ऐसी मशीनें चाहते थे, जो चाहे बिजली से ही चलें, काम को हल्का करें और जिनके द्वारा कोई किसी का शोषण न कर सके।

गांधी जी के उपदेशों को तथा जो उपकार उन्होंने भारत की जनता और मनुष्य मात्र पर किये हैं, उनको गिनाना, जैसा मैंने पहले कहा है, मुझ जैसे व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर है। वह जादूगर थे, उन्होंने हमारे जीवन के जिस अंग पर भी दृष्टि डाली, उसमें क्रान्ति कर दी। उनका जीवन व उनका कार्य आने वाली पीढ़ियों के लिए सदैव प्रकाश स्तम्भ का काम करता रहेगा। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने उनके बताये हुए मार्ग पर चलने की कोशिश की या जो आगे करेंगे और धन्य हैं भारत माता, जिसकी कोख में ऐसा लाल पैदा हआ। उनके श्री चरणों में मेरी लाख बार श्रद्धांजलि।

१६
हमारा सरदार

चौधरी चरणसिंह गांधीजी के बाद सरदार पटेल की कर्म पद्धति और चिन्तनधारा से प्रभावित थे, दरअसल पटेल उनके आदर्श थे। सरदार पटेल के प्रति उनके मनोभाव यहां दिये गये लेख से स्पष्ट होते हैं। चौधरी साहब का यह लेख सरदार पटेल के देहावसान पर, झांसी से प्रकाशित 'बुन्देलखण्ड' साप्ताहिक के, २३ दिसम्बर, १९५० के अंक में प्रकाशित हुआ था।

आज भारतवर्ष लुट गया। आज उसका वह लाल, जिसके बल पर वह निर्बल होते हुए भी अपने को सशक्त समझता था, उससे रूठ गया, आज भारत का लौह पुरुष जिसकी गरज सुनकर देश–द्रोही तथा देश के शत्रु दहला करते थे, विदा हो गया। आज हमारा सरदार सदैव के लिए सो गया।

यह वज्रपात शुक्रवार को प्रातःकाल, ९ बजकर ३७ मिनट पर, बम्बई नगर में हुआ। सरदार बल्लभ भाई पटेल तीन सप्ताह से हृदय रोग से, देहली में बीमार थे और गत मंगलवार को डॉक्टरों की सलाह से जलवायु परिवर्तन के विचार से वायुयान द्वारा बम्बई पहुंचे। बहुत तड़के ३ बजे रोग का प्रबल आक्रमण हुआ और थोड़ी देर बाद ही वे बेहोश हो गए। साढ़े आठ बजे के लगभग कुछ सचेत हुए परन्तु एक घण्टे के अन्दर ही उनके प्राण–पखेरू उड़ गये।

बल्लभ भाई पटेल का जन्म अहमदाबाद जिले के नदियाद ताल्लुका के करमचंद ग्राम में ३१ अक्टूबर सन् १८७५ को एक किसान घराने में हुआ। बल्लभ भाई के पिता झबर भाई पटेल ने सन् १८५७ में भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम संग्राम में भाग लिया था, जिसके कारण वह होल्कर द्वारा बन्दी–गृह में रखे गये। इस प्रकार बल्लभ भाई को देश–प्रेम विरासत में ही मिला था।

सन् १८९७ में आपने नदियाद से हाई स्कूल की परीक्षा पास की।

कालिज शिक्षा के भार वहन की सामर्थ्य न होने के कारण आपने सन् १९०० में मुख्तारी की परीक्षा पास की और गोधरा में मुख्तार हो गये। आपकी प्रैक्टिस खूब चमकी।

आपका विवाह संस्कार १८ वर्ष की आयु में ही हो गया, परन्तु कुछ ही वर्ष बाद आपकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। आपने फिर विवाह नहीं किया। आपके दो सन्तान हैं– दया भाई व कुमारी मणिबेन।

आरम्भ से ही आपकी इच्छा बैरिस्टर बनने की थी। पत्नी–विछोह के बाद कुछ रुपया जमा हो जाने पर विलायत जाकर बैरिस्टर बनने की अभिलाषा फिर जाग उठी। सन् १९१३ में आप इंग्लैंड से बैरिस्टर बनकर लौटे। बड़े भाई के आदेशानुसार आप गृह–भार संभालने लगे और विट्ठल भाई राजनीति में उतर पड़े।

सन् १९१६ में आपका अहमदाबाद के मजदूरों की हड़ताल के सिलसिले में एक जादूगर से साक्षात हुआ, जिसका नाम मोहनदास करमचंद गांधी था। सन् १९१७ में खेड़ा किसान सत्याग्रह में गांधी का जादू पूरी तौर पर असर कर गया। इस सत्याग्रह के नेतृत्व का बहुत कुछ भार महात्मा जी ने बल्लभ भाई के कंधों पर रखा। गुजरात में एक नयी जागृति का श्रीगणेश हुआ और बल्लभ भाई ने संसार को एक दूसरी ही दृष्टि से देखना आरम्भ किया। ऐश्वर्य की सामग्री में अब उनके लिए कोई आकर्षण नहीं रह गया।

सन् १९१९ में आपने रौलेट एक्ट के काले कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह करने का फार्म भर दिया और गुजरात राजनैतिक कान्फ्रेंस में गांधी जी के असहयोग सम्बंधी प्रस्ताव का पुरजोर समर्थन किया। सन् १९२२ में बल्लभ भाई ने बौरसद की जनता के, जिस पर अकारण ही एक ताजीरी टैक्स लाद दिया गया था, सत्याग्रह आन्दोलन का और सन् १९२३ में नागपुर के मजदूर झंडा आन्दोलन का सफल संचालन किया। सन् १९२४ में आप अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन चुने गये। इस पद को आपने सन १९२८ तक सशोभित किया। सन १९२८ में बल्लभ भाई पटेल के जीवन व राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में वह घटना घटी, जिसने आपको भारत का सरदार बना दिया। बन्दोबस्त में बारदोली के किसानों पर बिना समुचित कारणों के ३० प्रतिशत मालगुजारी बढ़ा दी गई। पूज्य बापू ने किसानों को सत्याग्रह का परामर्श दिया और बल्लभ भाई मैदान में कूद पड़े। इस आन्दोलन में आपने अपनी अद्भुत कार्य–क्षमता का परिचय दिया। ४ फरवरी १९२८ को ७९ गांवों के प्रतिनिधियों ने आपको अपना नेता चुना। नेता चुने जाते ही सरदार ने अपने सैनिकों को ललकारा–"सरकार तुम्हें नष्ट–भ्रष्ट करने का कुचक्र रचेगी। तुम्हें धन और परिवार के प्रति मोह

त्यागकर लड़ना होगा, "यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं, सीस उतारे भुई धरे, तब बैठे घर माहिं।"

बल्लभ भाई ने घर–घर अलख जगाई। एक अंग्रेजी समाचार–पत्र 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता को कुछ दिन बाद ही लिखना पड़ा–"बारदोली से अंग्रेजी राज्य उठ चुका है।" बहनों ने युग–युग की सामाजिक शृंखलाओं को छिन्न–भिन्न कर सत्याग्रह में भाग लिया। जब्तियों, गिरफ्तारियों की धूम मच गई, किसानों ने हर प्रकार के अत्याचार सहे और उफ न की। बारदोली के असाधारण संगठन व त्याग को देखकर लोग दंग रह गये। छह महीने के अन्दर ही अंग्रेजी सरकार ने घुटने टेक दिये। बन्दोबस्त की पुनः जांच करने, जब्त की हुई ज़मीन लौटाने तथा कैदियों को छोड़ने की घोषणा की।

गांधी जी आपकी तीक्ष्ण बुद्धि एवं संगठन शक्ति पर मुग्ध हो गये और उन्होंने आपको 'कौम का सरदार' कहकर सम्बोधित किया। उस दिन से बल्लभ भाई पटेल गुजरात के 'बेताज के बादशाह' और भारत वर्ष के 'सरदार' हो गये। सन् १९३१ में कृतज्ञ राष्ट्र ने अपने सेनानी को उस समय देश में जो सबसे बड़ी इज्जत थी, वह बख्शी–सरदार पटेल को इंडियन नेशनल कांग्रेस का सभापति चुन लिया गया।

सन् १९३०–३१, ३२–३४, ४०–४१, व ४२–४५ के आन्दोलनों में सरदार पटेल ही बापू के दाहिने हाथ रहे। अपने अंतिम दिनों तक महात्मा जी अपने विचारों को कार्य में परिणित करने के लिए बराबर सरदार पटेल की कार्य–क्षमता व संगठन–बुद्धि पर भरोसा रखते रहे।

भारतवर्ष महाभारत के काल से छोटे–छोटे टुकड़ों में विभक्त था। अंग्रेज जब विदा हुए, तो ५६२ रजवाड़ों को स्वतंत्र छोड़ गये। सरदार ने अपने कौशल से बात की बात में देश का एकीकरण कर दिया और देश की, अपने अकेले इसी काम से, ऐसी सेवा की, जैसी कि संसार में किसी व्यक्ति ने अपने देश की नहीं की होगी। जब तक भारतवर्ष के आकाश में सूर्य चमकता रहेगा, देश सरदार के इस उपकार को नहीं भूलेगा।

अपने नेता की आज्ञा को शिरोधार्य रखना व अनुशासन में बंधे रहना सरदार के स्वभाव का अंग बन गया था परन्तु जिस कठोरता के साथ वह स्वयं अनुशासन का पालन करते थे, उसी प्रकार वह दूसरों से भी आशा रखते थे। अनुशासन की अवहेलना को उन्होंने कभी नहीं सहा। कांग्रेस पार्लियामेन्ट्री बोर्ड के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने नरीमेन, डॉक्टर खरे व वीर सुभाष जैसे गणमान्य व्यक्तियों को भी अनुशासन भंग का दोषी होने पर क्षमा नहीं किया।

सरदार एक अनुपम साहस के धनी थे। गत पांच वर्ष से यह देश

एक भीषण संकट से गुजर रहा है। ऐसी विकट अवस्थाओं में, जो कि जन–सेवकों को किंकर्तव्य विमूढ़ बना देती हैं, साधारण व्यक्ति निराशा के सागर में डूबने लगता है। ऐसी अंधकारमय स्थिति में भारत की जनता को अपने इस लौह–पुरुष का सहारा था, उन पर उसको गर्व था। सरदार के रहते हुए लोगों का ढाढस बंधा था, "कोई बात बिगड़ेगी, तो सरदार तो मौजूद हैं, संभाल लेंगे।"

आज इस अभागे देश का वह सहारा, निर्बल की वह लकड़ी जाती रही। गत वर्ष अपने जन्म–दिवस पर बोलते हुए इस सिंहपुरुष ने अहमदाबाद में कहा था "मैं इस संसार में कुछ वर्ष और रहने का इच्छुक हूं, यद्यपि महात्मा गांधी, कस्तूरबा और महादेव देसाई के समीप जल्द पहुंचने की उत्कट अभिलाषा मेरे मन में बनी है। मैं अब केवल, जो काम वह अधूरा छोड़ गए हैं, उसे पूरा करने के लिए ही रुका हुआ हूं।"

सरदार! आप बापू के पास जाने के लिए उतावले थे, अवश्य जाइए। हमें रोकने का कोई अधिकार भी नहीं है। आपने मातृभूमि की वह सेवा की, जो बिरले ही कर पाते हैं। भारत के इतिहास–गगन में आपका नाम अमर रहेगा। आज राष्ट्र का प्रत्येक प्राणी आपको श्रद्धांजलि अर्पित करता है और परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह आपकी आत्मा को शांति दे।

१७
तानाशाही को खुली चुनौती

जिस समय देश आपातकाल के अंधेरे में घुट रहा था, अभिव्यक्ति की आजादी पर पूरी तरह अंकुश था, तानाशाही के ऐसे दौर में चौधरी चरणसिंह जब इलाज के लिए दिल्ली की तिहाड़ जेल से पैरोल पर छोड़े गये। चौधरी साहब उस समय उतर प्रदेश में नेता विरोधी दल के पद पर थे। जो घुटन, देश में थी, वही चौधरी साहेब के मन में भी थी, जो देश की आक्रोशपूर्ण अभिवयक्ति के रूप में विधान सभा में फूटी। २३ मई, १९७६ को उत्तर प्रदेश विधान सभा में उन्होंने अभूतपूर्व भाषण दिया, जो इतिहास के पन्नों में सुरक्षित रहेगा। चौधरी साहब का यह भाषण लोकतंत्र के पक्षधर, क्रांतिधर्मा संगठनों ने गुप्त रूप से छपवाकर, चोरी–छिपे, जेलों में बन्द कार्यकर्ताओं तक पहुंचाया तथा जनता में भी वितरित किया; क्योंकि आपात्काल के चलते समाचार पत्रों में इसका प्रकाशन असम्भव था।

इस भाषण से जेलों में बन्द कार्यकर्ताओं को भारी नैतिक बल मिला। जेलों में जहां–जहां यह प्रकाशित भाषण पहुंचा, वहां लोकतंत्र के सेनानियों की प्रतिक्रिया थी कि आज इमरजेंसी का असर आधा रह गया है। चौधरी साहब ने कांग्रेसी शासन की तानाशाही के विरोध में जिस जन–विरोध की चेतावनी दी थी, एक वर्ष पूरा होते–होते वह सच साबित हो गयी।

आज देश की स्थिति यह है कि लाखों आदमी जेल के अन्दर हैं। सन् १९४२ का आन्दोलन गांधीजी के जमाने के आन्दोलनों में गालिबन सबसे ज़्यादा ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाता है, लेकिन उसमें कुल ६० हजार आदमी जेल गये थे। उस समय के होम मिनिस्टर के वक्तव्य के अनुसार, जो उन्होंने केन्द्रीय असेम्बली में दिया था, केवल इतने आदमी जेलों में बन्द कर दिये गये थे। आज श्री ओम मेहता के अनुसार एक लाख तीस हजार आदमी इस बार गिरफ्तार किये गये हैं। आप उसको एक लाख

बीस हजार मान लीजिए या घटाकर एक लाख ही कर दीजिए, लेकिन पहले से कहीं ज़्यादा (अंग्रेजी काल की गुलामी के जमाने से कहीं ज़्यादा) आदमी इस बार जेलों में गये हैं। आप बढ़ी हुई आबादी के हिसाब से निकाल लीजिए, तब शायद आपको तसल्ली हो जाए। यह देश की बदकिस्मती है कि ऐसा हिसाब लगाने वाले यहां बैठे हुए हैं और लाखों आदमी या एक लाख आदमी आजाद देश में जेलों में पड़े हुए हैं।

पहले प्रधानमंत्री जी कम्युनिस्टों की भाषा में जनतंत्र को सोशल डेमोक्रेसी (सामाजिक लोकतंत्र) कहा करती थीं कि संविधान में बड़े भारी संशोधन की ज़रूरत है, लेकिन अब केवल डेमोक्रेसी (लोकतंत्र) कह रही हैं और कह रही हैं कि हम डेमोक्रेसी के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं और संविधान में ज़्यादा संशोधन की ज़रूरत नहीं है। किन कारणों से उनके कथनों में तब्दीली आ गई है, इस पर मैं कुछ नहीं कह सकता हूं, लेकिन इसमें शक नहीं है कि आज डेमोक्रेसी का दम निकला जा रहा है। दूसरी ओर एक लाख से ज़्यादा आदमी जेल में हैं। वे किस तरह जेल में डाले गये हैं, महीनों उनके परिवार को यह नहीं मालूम हो पाया कि वे कहां बन्द किये गये हैं। २६ जून, १९७५ को सवेरे मुझे और मेरे सहयोगियों को गिरफ्तार कर लिया गया। देश के बड़े आदमियों की बात छोड़िये, क्योंकि आज तो शायद प्रधानमंत्री जी बड़ी हैं, चूंकि वह बहुत बड़े पद पर हैं, लेकिन ऐसे आदमी जिन पर देश गर्व कर सकता है, वे गिरफ्तार हुए और उनके घर वालों को यह नहीं बताया गया कि वह कहां कैद किये गये हैं। तीन–चार मर्तबे मैं अंग्रेजों के जमाने में जेल गया हूं और उस जमाने की सारी बातें मुझे याद हैं। कभी अंग्रेजों के जमाने में ऐसा नहीं हुआ। यही नहीं कि दो महीनों तक गिरफ्तार शुदा लोगों को, उनके अजीजों, उनके बच्चों, उनके घर वालों से मुलाकात करने का मौका नहीं दिया गया, बल्कि यह भी नहीं बतलाया गया कि क्या जुर्म उनसे हुआ है।

माननीय जयप्रकाश नारायण जी का, माननीय मोरारजी देसाई का और लोक सभा की डिबेट में एक बार माननीय राजनारायण जी का भी जिक्र आया कि इन्होंने अमुक पाप किया है। मैं रोज पढ़ता रहा कि मेरे पाप का भी जिक्र शायद इसमें आयेगा। नहीं, कम से कम मैंने नहीं पढ़ा। दोस्तों ने पढ़ा होगा, मुझे खुशी होगी जानकर। इतना जरूर मेरा पाप था कि इंदिरा जी से हम लोग इस्तीफा मांग रहे थे, क्योंकि हाईकोर्ट से आप हार गयी थीं, इसलिए इतनी बड़ी प्राइम मिनिस्टर को यह शोभा देता है कि वह इस्तीफा दें। जून माह में दिए हुए मेरे बयान दिल्ली के कुछ अखबारों में प्रकाशित हुए। मैं जानने का बहुत प्रयास करता हूं, तो मैं इन वक्तव्यों को ही अपना जुर्म पाता हूं। खैर, मेरा यह जुर्म हो सकता है

लेकिन सैकड़ों, हजारों ऐसे लोग हैं, जिन बेचारों ने कोई बयान भी नहीं दिया, फिर भी उन्हें जेलों में डाल दिया गया। नजरबन्दी के क्या कारण हैं, गिरफ्तारी के क्या कारण हैं, यह उनको नहीं बताया गया। हाईकोर्ट में कोई चला जाए और जानने की कोशिश करे कि किसी व्यक्ति विशेष के खिलाफ क्या अभियोग है, तो हाईकोर्ट से भी नहीं बताया गया। यही नहीं, मेण्टिनेन्स ऑफ इन्टरनल सिक्योरिटी ऐक्ट में, जिसको 'मीसा' भी कहते हैं, संशोधन कर दिया गया। मुमकिन है संविधान में किया हो, लेकिन मीसा कानून में तो संशोधन जरूर है कि हाईकोर्ट अगर स्वयं चाहे, तब भी उसको यह अख्तियार नहीं कि किसी व्यक्ति के गिरफ्तार होने की वज़ह कारण गवर्नमेंट की नजरों में क्या है, मालूम कर सके। इससे ज़्यादा तानाशाही, स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता इतिहास में कहीं मिलेगी? और फिर मुझको अफसोस होता है कि ऊपर जो दोस्त बैठे हैं, वे लोकतंत्र का दम भरते हैं और आंख मींचकर हाथ उठाते रहते हैं। खैर, इस सिलसिले में और अधिक कहना व्यर्थ है। बात को यहीं छोड़े देता हूं।

दूसरी बात जो हर आदमी को खटकेगी, यह है कि सारे मौलिक अधिकार, जो कि एक नागरिक के होते हैं, सब निलम्बित हैं। मान लो आज मैं पंजाब जाना चाहूं, तो यहां का डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट आदेश दे सकता है कि आप पंजाब नहीं जायेंगे। अब पंजाब जाने का अधिकार या बंगाल जाने का अधिकार या किसी तरह का व्यापार करने का अधिकार, सभा करने का अधिकार, बोलने का अधिकार, जो कि एक व्यक्ति की स्वतंत्रताएं होती हैं, वह सभी ले ली गयी हैं। मैं जानना चाहता हूं कि मुझे पंजाब क्यों नहीं जाने दे रहे हैं? परन्तु कोई बताने की ज़रूरत नहीं है। यही नहीं, पंजाब जाने की बात छोड़िए, अगर किसी व्यक्ति को कोई व्यक्ति शूट कर दे (गोली मार दे) या बदले की खातिर सब इन्स्पेक्टर शूट कर दे और गोली खाने वाला व्यक्ति बच जाए, तो उसको यह हक हासिल नहीं है कि वह कचहरी में जाकर मालूम कर सके या कि उसके परिवार वालों को यह हक हासिल नहीं है कि वे जान सकें कि उस पर गोली क्यों चलायी गयी? और मर जाए, तो उसके परिवार वालों को यह हक हासिल नहीं है कि वे जान सकें कि ऐसा क्यों हुआ? आपके एटॉर्नी जनरल ने हैबियस कार्पियस की बहस के समय सुप्रीम कोर्ट में स्वयं तसलीम किया है। मैं जानता हूं कि इतिहास में ऐसी कोई और मिसाल नहीं है।

अध्यक्ष महोदय ! पुलिस को कितने अधिकार हैं—जो चाहें कर दे, ऐसे हक हैं। सारे अधिकार उनको दे दिए गये हैं। यदि आपको नागरिकता के सारे अधिकार लेने ही थे और व्यक्तिगत आजादी को जब्त करना ही था, तो पावर अपने हाथ में ही रखनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं किया

गया। आप बड़े से बड़ा संगीन मामला होम मिनिस्टर, चीफ मिनिस्टर, प्राइम मिनिस्टर से कह लीजिए, लेकिन कोई सुनवाई (राहत) नहीं है। किसी भी सब इंस्पेक्टर को या पुलिस वाले को सजा नहीं मिलेगी? आपकी गवर्नमेंट उन्हीं के बल पर चल रही है।

जेल में राजनीतिक बन्दियों के साथ जो बर्ताव हुआ है, वह अच्छा नहीं था, बमुकाबिल, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब के, जैसी इत्तिला मेरे कानों तक तिहाड़ जेल में आती थी। मैं समझता हूं कि वह सब कृपा है बहुगुणा जी की। मुझे माफ करेंगे वह। आज उन्हें हाउस में होना चाहिए था। मैं नहीं कह सकता कि वे इसका प्रतिवाद कर सकेंगे या नहीं। सुना है कि बरेली जिले की जिला परिषद की एक मीटिंग में गये हैं। वहां उन्होंने इन राजनीतिक बन्दियों के बारे में कहा, जो उनके मुखालिफ हैं, कि जेल में जो ऐसे लोग पड़े हैं (कम्बख्त और क्या–क्या कहा), उनसे अगर मेरा बस चलता, तो मैं पत्थर तुड़वाता और गंगा और यमुना की रेत छनवाता। हम उनके या आपके दुश्मन हैं, क्योंकि हम आपसे मतभेद रखते हैं। इसका अन्त कहां जाकर होगा? हमारी क्या नीतियां होंगी, इसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। मतभेद होना कोई पाप नहीं है। आपके और हमारे दृष्टिकोण में अन्तर हो सकता है, लेकिन यह क्या कि जो आपसे मतभेद रखते हैं, वह देशभक्त नहीं हो सकते? वे देश के दुश्मनों से मिले हुए हैं। मैं यह कह रहा था कि आपके दृष्टिकोण का असर पुलिस पर और सारे प्रशासन पर पड़ेगा।

रोजाना क्या किस्सा होता था कि जेल से लोग छूटते थे और जेल के फाटक पर गिरफ्तार कर लिये जाते थे और दूसरे या तीसरे दिन मजिस्ट्रेट के सामने मुकदमा पेश हो जाता कि अमुक कोने पर ३० आदमी इकट्ठा थे और कह रहे थे कि गवर्नमेंट निकम्मी है। वह इस तरह फिर गिरफ्तार कर लिये जाते। पुलिस का कहना था कि वे छूटते ही व्याख्यान देते थे। सेशन जज आर्डर करता, तो उनको रिलीज (रिहा) करना पड़ता। फिर बाहर आया, फिर केस बना दिया गया। एक व्यक्ति को पुलिस ने तीन दिन तक हवालात में रखा, चूंकि पुलिस अफसर के यहां शादी थी। फिर वह मजिस्ट्रेट के सामने हाजिर किया गया। मजिस्ट्रेट ने अपनी मजबूरी ज़ाहिर की और सजा का हुक्म सुना दिया। परन्तु मजिस्ट्रेट को कौन कहे? सुप्रीमकोर्ट के जज के साथ क्या बर्ताव नहीं किया गया? वहां जिस तरह के कन्फरमेशन (स्थायीकरण) और प्रोमोशन (पदोन्नति) होते हैं, वह भी मिसाल है।

सन् १९७३ की बात है, एक फैसला गवर्नमेंट के खिलाफ होता है। तीन न्यायाधीश उस फैसले के देने में शामिल थे, उन तीनों को सुपरसीड

कर दिया जाता है। क्या वे नाकाबिल थे, यह नहीं बताया जाता है और एक जूनियर आदमी को चीफ जस्टिस मुकर्रर कर दिया जाता है। मैं ज़्यादा इसके बारे में नहीं कहना चाहता हूं। केवल एक बात कहना चाहता हूं कि जिस तरह सुपरसीड किया जाता है और ऐसे व्यक्ति को ऊपर रखा गया है, जो हर प्रकार से जूनियर था, उसका असर न पड़े, यह मुश्किल है। पंजाब हाईकोर्ट में भी यही हुआ कि एक सीनियर जज को, जिसकी सारा बार, सारे वकील इज्जत करते हैं, सुपरसीड किया गया और नियुक्ति उस जज की की गई, जिसका फैसला गवर्नमेंट के माफिक हुआ करता था। मैं जजों की शान के खिलाफ नहीं कहूंगा, लेकिन फैसला गवर्नमेंट के माफिक होता था। इसलिए उनका प्रमोशन हुआ।

जो जज सरकार के खिलाफ निर्णय लेता है, उसके खिलाफ जुलूस निकाला जाएगा, नारायणदत्त जी की कोठी के सामने उसका पुतला जलाया जाएगा कि सी० आई० ए० (अमेरिका के खुफिया विभाग) से मिला हुआ है। कितने आदमी हैं, जिनमें विरोध करने की हिम्मत हो। ऐसे–ऐसे आरोपों के बाद वे चुप बैठ जायेंगे। न्यायाधीशों की क्या हिम्मत है कि आपकी निगाह न देखकर आपके खिलाफ फैसला दे सकें। लेकिन खुशकिस्मती की बात है कि कुछ लोग अभी बचे हुए हैं। बंगाल हाईकोर्ट, भोपाल हाईकोर्ट, इलाहाबाद हाईकोर्ट, दिल्ली हाईकोर्ट के जो फैसले हुए हैं, उनसे कुछ आशा बंधती है।

रेडियो से सिर्फ गवर्नमेंट का ही प्रोपेगेण्डा होता रहता है, वह गवर्नमेंट की वाणी बन गया है। वास्तव में वह केवल गवर्नमेंट की वाणी नहीं बनाया जा सकता, वह केवल कांग्रेस पार्टी के लिए ही नहीं, बल्कि वह सारी जनता के लिए है। विपक्ष के सभी नेता लोग कहते–कहते थक गए हैं कि रेडियो का एक निगम बना दिया जाए, लेकिन यह नहीं हो पाया है। यह केवल गवर्नमेंट के मात्र प्रचार का साधन बन गया है। क्या यह उपयुक्त है? लोकतंत्र की यह धारणा नहीं है. हां, अधिनायकवादी लोकतंत्र में यह हो सकता है। जितने आरोप गुजरात सरकार पर लगाए गए हैं, वे सब रेडियो पर आये लेकिन वहीं के मुख्यमंत्री श्री बाबू भाई पटेल का कुछ नहीं आया। हितेन्द्र देसाई ने जो आरोप लगाये, वे सभी आये, क्योंकि वह कांग्रेस के लीडर हैं, लेकिन गवर्नमेंट के प्रतिनिधि की हैसियत से मुख्यमंत्री ने जो जवाब दिया, वह नहीं आया।

आचार्य बिनोवा भावे ने कभी कोई बात कही लेकिन जो शब्द रेडियो पर आए, वह उन्होंने नहीं कहे थे, उन्होने इसका खंडन किया। रेडियो ने सरकार के मतलब के शब्दों का खूब प्रोपेगैण्डा किया और कहा कि आचार्य भावे ने कहा है, 'इमरजेंसी अनुशासन पर्व है।' जेल में हमारे एक

साथी ट्रांजिस्टर सुना करते थे। वे बताया करते थे कि एक नौजवान, जिसका नाम संजय गांधी है, उनका प्रोग्राम रेडियो पर आ रहा है। हमारी बहन इन्दिराजी के युवराज सुपुत्र संजय गांधी का रेडियो पर प्रोग्राम आ रहा है। मैं जानना चाहूंगा कि इसका क्या औचित्य है? किस नॉर्म, किस उसूल (सिद्धान्त) से ऐसा किया जाता है? क्या कभी उन्होंने कांग्रेस में रहकर ही कोई जनसेवा का कार्य किया है? अब मैं आपसे पूछता हूं कि इन तथ्यों से आपके अंतःकरण को चोट लगती है या नहीं?

अखबारों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। सन् १९४२ में ६०–७० हजार आदमी गिरफ्तार हुए और उसका असर आज तक हमारे दिमाग पर है कि कितना बड़ा आन्दोलन था। आज दूने आदमी गिरफ्तार हुए, लेकिन लोगों को लगता है कि कोई आन्दोलन ही नहीं है, क्योंकि कोई अखबार कुछ छाप ही नहीं सकता है, छाप नहीं रहा है। अंग्रेजों के जमाने में भी ऐसा सेंसर (प्रतिबन्ध) नहीं था, जैसा आज है।

राजनारायण जी का मामला सर्वोच्च न्यायालय में पेश था। संजय गांधी जाते हैं, सुप्रीमकोर्ट में मामले को सुनने के लिए। इसलिए पुलिस वकीलों का एक जगह से दूसरी जगह जाना रोक देती है, क्योंकि संजय गांधी आये हुए हैं। उनको खतरा हो सकता है। सुप्रीम कोर्ट के बार एसोसिएशन की मीटिंग होती है, पुलिस की निन्दा की जाती है। जस्टिस महोदय के पास उनका एक डेपुटेशन जाता है कि पुलिस किस तरह वकीलों को रोकती है। इसलिए चीफ जस्टिस प्रधान मंत्री को लिखता है। क्या यह एक ऐसी चीज है, जिसमें लोगों को दिलचस्पी नहीं होनी चाहिए। लेकिन यह खबर अखबार में नहीं छपी, क्योंकि सेंसर था। कौन से नॉर्म्स (पैमाने) हैं? यह आपका लौह–पूजन क्या ज़ाहिर करता है? आपके ऐसे रवैये के सम्बन्ध में कुलदीप नैयर का जजमेंट हुआ। एक–दो पेपर में आखिरी पृष्ठ पर अथवा आखिरी कालम में कुछ छपा, लेकिन आमतौर पर नहीं छापा गया।

इसी तरह से प्रेसीडेंसी जेल, कलकत्ता, टूट जाती है। लगभग ६७ नक्सलाइट कैदी दिन के दो बजे जेल तोड़कर आजाद हो जाते हैं। पटना जेल इसी तरह टूट जाती है, लेकिन यह सब अखबारों में नहीं आता। इसी तरह से दिल्ली में तिहाड़ जेल टूट जाती है। राजनीतिक कैदी कोई नहीं निकला गैर राजनीतिक कैदी १०–१२ निकल जाते हैं। एक भी कैदी अगर छूटने की तारीख से पहले जेल से भाग जाता है, तो बड़ी खबर बन जाती है, लेकिन इतनी जेलें टूटीं, उनकी खबर अखबारों में नहीं आयी। कितनी ही ऐसी चीजें हैं, जो जरूरी नहीं थीं, उनकी बाबत तो बतलाया जाता है लेकिन जो जरूरी थीं, उनकी बाबत नहीं बतलाया गया। विपक्ष

के किन लोगों की साजिश गवर्नमेंट को गिराने की है, जिसके लिए आपने सेंसर लगाया? मौलिक अधिकारों में अखबारों की आजादी का अपना एक अलग महत्त्व है। लोकतंत्र के चार अंग माने जाते हैं—न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका और प्रेस। न्यायपालिका के बारे में मैं बता चका हं। कार्यपालिका के बारे में भी बता चुका है। विधायिका का यह हाल है कि ३३६ एम० पी० लोकसभा में आंख मींचकर हाथ उठाते रहते हैं। चौथा है प्रेस, जिसकी बाबत मैं कह ही चुका हूं।

बात यह है, और बड़े अफसोस की बात है, कि हमारी प्रधानमंत्री कभी सच नहीं बोलेंगी—कभी नहीं बोलेंगी। लिख लीजिए, इसका जवाब दे दीजिएगा। जो बयान उन्होंने दिये, उसमें गलत बयानी ही अधिक की गई है। कहती हैं कहां है सेंसर ! नारायणदत्त जी, यहां यू० पी० में सेंसर है या नहीं? हिन्दुस्तान में है या नहीं। गाइड लाइन्स के नाम से आदेश दे दिये गये हैं। इनके खिलाफ अगर प्रेस वाले कुछ करें, तो फौरन कार्यवाही। बिजली कनेक्शन काट दिया जाएगा। अखबार छपना बन्द हो जाएगा और कोई अपील नहीं होगी। यह है आपका हाल। सभी को गाइड लाइन्स ऐसी ही हैं और सुना है कि आपको इस बीच कुछ और गाइड लाइन्स जारी हुई हैं, २२ मार्च को। उसमें किसी के दस्तखत नहीं हैं कि कहां से, किसके हुक्म से जारी हुई हैं। अगर कोई प्रेस वाला न माने और यह कहे कि गाइड लाइन्स पर किसी के दस्तखत नहीं थे, तो सम्भव है, इन्फॉरमेशन (सूचना) डिपार्टमेंट, डी० आई० आर० और हाईकोर्ट से तो बच जाएगा, परन्तु आपके हाथ में इतनी शक्ति है कि उसको रगड़कर सुखा देंगे। आपने प्रेस को क्या बना दिया? आज मैंने सुबह पाइनियर देखा, उसमें कोई न्यूज (खबर) ही नहीं थी। ऐसे ही और पेपर्स (समाचार—पत्र) हैं। ए—टू—जेड (एक से सौ तक) दो ही नाम उसमें हैं, एक हमारी बहनजी हैं और दूसरा हमारा भान्जा है।

अब और एक मजे की बात है। अभी एक फॉरेन न्यूज एजेन्सी (विदेशी समाचार समिति) से इन्टरव्यू हुआ, बहनजी का। उन्होंने कहा कि प्रेस पर सेंसर क्यों लगा रखा है? तो इंदिराजी ने उत्तर दिया कि यहां की गवर्नमेंट के खिलाफ अनर्गल प्रोपेगैण्डा करते थे। वह बड़े—बड़े उद्योगपतियों के अखबार हैं और बड़ी—बड़ी जायदाद वाले हैं, इसलिए वे हमारे खिलाफ हैं, क्योंकि हम गरीबों के हामी हैं। वह प्रेस वाले मालदार आदमी हैं, हम उनके खिलाफ हैं, इसलिए प्रोपेगैण्डा करते हैं। पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूं नारायणदत्त जी, कि प्रोपेगैण्डा करने का सबको हक होता है, सही हो या गलत, अगर वह करना चाहे। कहीं संविधान में लिखा है कि प्रोपेगैण्डा नहीं होगा? क्योंकि यह प्रोपेगैण्डा

उनके खिलाफ होता है, इसलिए वह कहती हैं कि यह लोकतंत्र के खिलाफ है।

नारायणदत्त जी मेरे हमउम्र दोस्त हैं। उनसे कहना चाहूंगा कि मालदार लोग आपके खिलाफ नहीं हैं और आप भी उनके खिलाफ नहीं हैं। अगर उनसे पूछा जाए. तो उनके लिए आपसे बेहतर कोई और गवर्नमेंट नहीं होगी। सन १९४७ में बिड़ला जी की सम्पत्ति ३० करोड़ थी और सन् १९५१ में बढ़कर ६५ करोड़ हो गयी और सन् १९६४ में बढ़कर ४०० करोड़ हो गयी। आज बहनजी के शासन के १० वर्षों के बाद वह १० अरब हो गयी है। यही हाल सबका है। इस तरह के ९५ बड़े—बड़े पूंजीपति घराने हैं। जब से आपका राज्य आया, तब से उनकी सम्पत्ति दुगुनी, चौगुनी और दसगुनी तथा बीसगुनी हो गयी। लेकिन आप दुनिया को यह ज़ाहिर करना चाहते हैं कि आप उनके खिलाफ हैं।

इमरजेन्सी लागू करने के बाद फेक आर्गनाइजेशन (फर्जी संगठन) कायम किये अध्यापकों के या और लोगों के और वे दिल्ली डेपुटेशन ले जाते हैं। उसमें बिड़ला जी भी एक डेपुटेशन ले जाते हैं और प्रधान मंत्री से कहते हैं कि जो इमरजेंसी आपने लागू की है, उसका हम समर्थन करते हैं। फिर भी आप दुनिया को बताना चाहते हैं कि आप उनके खिलाफ हैं और उनके अखबार आपके खिलाफ खबर छापते थे। जो शिकायत हमको होनी चाहिए कि अखबार वाले हमारी खबरें नहीं छापते हैं, वह आप करते हैं, दुनिया को दिखाने के लिए। आपके हाथ में विज्ञापन है, अखबारी कागज का कोटा है, उसे रिलीज करना आपके हाथ में है, बिजली आपके हाथ में है, लायसेंस देना आपके हाथ में है, फैक्ट्री लगाने की इजाजत देना या न देना आपके हाथ में है। फिर क्या ये लोग आपके खिलाफ हो सकते हैं? इसका मतलब है जान—बूझकर झूठ बोला जाता है। ऐसी नंगी और गलतबयानी करना आपकी ही हिम्मत का काम है और आपकी ही यह हिम्मत है कि इस गलतबयानी को सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

जो मूल्य आप कायम करेंगे, उनका नयी पीढ़ी पर असर होगा। पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त जी के मूल्यों का असर हम पर हुआ, वैसे ही आपके मूल्यों का असर नयी पीढ़ी पर होगा। इसी तरह जो इन्दिरा गांधी कहेंगी, जो उनका तरीका होगा, जो शब्द उनके मुंह में होंगे, जो उनका दृष्टिकोण होगा, जिस चश्मे से वे दुनिया को देखेंगी, जिनको कांग्रेस में रहना है, उनको उसी तरीके से सहना होगा, देखना होगा। विपक्ष के एक सदस्य ने पार्लियामेंट में मन्त्री जी से पूछा कि क्यों आप यू० एन० आई० व पी० टी० आई० आदि, जो पुरानी महत्त्वपूर्ण एजेन्सी हैं और जो

धीरे–धीरे अपना हिन्दी विभाग विकसित कर रही हैं, उनको ठोक–पीटकर एक जगह लाना चाहते हैं, तो उस पर सम्बन्धित मंत्री श्री वी०सी० शुक्ल ने कहा कि उन्हें बिलकुल आजादी है, वे बिलकुल स्वेच्छा से मिल रही हैं। इस पर मुझे हिटलर और स्टालिन की याद आती है, जिसने कहा था कि सब स्वेच्छा से अपना जुर्म कबूल कर रहे हैं।

आपकी निगाह सोशल डेमोक्रेसी की तरफ है यानी कम्युनिस्ट मॉडल के जनतंत्र की ओर। आप बराबर कहते आये हैं कि चुनाव करायेंगे। हमने आपके नेताओं के बयान पढ़े हैं, उन्होंने कहा कि चुनाव समय से होंगे। मैं जानना चाहता हूं कि निश्चित समय यानी फरवरी सन् १९७६ में क्यों नहीं हुए? चण्डीगढ़ में तय किया गया कि चुनाव नहीं होंगे। बहन राजेन्द्र कुमारी जी, मुझे अफसोस होता है, सिद्धार्थ शंकर राय ने चुनाव की बाबत कहा कि चुनाव बहुत छोटी चीज है, हमें मुल्क को मजबूत करना है। मैं पूछना चाहता हूं कि मुल्क की मजबूती का चुनाव कराने या न कराने से क्या मतलब? चुनाव नहीं करा रहे हैं, इस विषय में उनके शब्द ये हैं–

"होल्डिंग ऑफ इलेक्शन इज़ माइनर, मोर इम्पॉरटेंट इज दैट वी हैव टू ले फाउण्डेशन फॉर दी कन्ट्रीज प्रोग्रेस।" चुनाव कराना एक छोटी बात है। इससे बड़ी तथा महत्त्वपूर्ण बात है, देश की प्रगति की नींव स्थापित करना। अगर आपकी यह धारणा है कि मुल्क का हित केवल कांग्रेस से ही हो सकता है और आप चुनाव जीत जायेंगे, तो क्या दिक्कत है चुनाव कराने में?

मैं आपको चुनौती देता हूं कि आप कराइये चुनाव। आप जानते हैं कि आप हार जायेंगे। गुजरात में आप हारे थे, यह सूरत तब थी, जब विरोधी दलों ने केवल एक मोर्चा बनाया था। मोर्चे की जगह एक विकल्प–दल होता, तो और भी अच्छे परिणाम होते, फिर भी आपके केवल ४० प्रतिशत वोट पड़े। गुजरात को आप छोड़िए, यदि आपकी पार्टी को जन–समर्थन प्राप्त है, तो सीधी–सी बात है, चुनाव क्यों मुल्तबी किया? क्योंकि आपकी हार निश्चित थी। यह प्रधान मंत्री की शान के खिलाफ है कि वह गलतबयानी करें, परन्तु इन्दिरा जी बराबर गलतबयानी करती रहती हैं।

उपाध्यक्ष महोदय! अब मैं संविधान के बारे में निवेदन करता हूं। जिस प्रकार से वह एमेंड (संशोधित) किया जाता है, वह भी दुनिया में एक मिसाल है। प्रधानमंत्री अपना पिटीशन हार जाती हैं या उनके खिलाफ जो पिटीशन है, उसमें वे हार जाती हैं। अपील करनी पड़ती है, तो देश के कानून को ही अपने इन्टरेस्ट (हित) में बदलवा लेती हैं और वह भी रिट्रौस्पेक्टिव इफेक्ट (पूर्व प्रभावी रीति) से। जो हाईकोर्ट के जजमेंट के शब्द हैं, ठीक वे ही शब्द रिप्रेजेन्टेशन ऑफ पीपुल्स एक्ट (जन प्रतिनिधित्व

कानून) में रखे जाते हैं। १९ दिसम्बर सन् १९७६ को इन्दिरा जी से अखबार वालों ने पूछा कि संसद के चुनाव में आप कहां से खड़ी होंगी? तो कहा कि राय बरेली से। इसी को होल्डिंग आउट कहते हैं अर्थात् पहले से किसी बात का संकेत करना। उसके बाद ७ जनवरी को एक सरकारी ऑफिसर इंदिराजी के चुनाव क्षेत्र में उनके हक में भाषण देता है, जो कानून के अनुसार भ्रष्टाचार है। लेकिन कानून में संशोधन कर दिया गया कि होल्डिंग आउट नामजदगी की तारीख से माना जायेगा।

इन्दिरा जी के खिलाफ हाईकोर्ट ने तीन मुद्दों पर अपना निर्णय दिया था और तीनों ही संविधान और कानून में संशोधन करके रद्द कर दिये गए। किसी देश का प्रधानमंत्री अपने हित में हाईकोर्ट से फैसला खिलाफ हो जाने पर लोक सभा में अपने बहुमत के बल पर कानून में संशोधन करा ले और उसके बल पर चुनाव याचिका जीत जाए, तो संसार में इस प्रकार की कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलेगी। अब सुप्रीम कोर्ट के सामने कोई चारा नहीं था, अगरचे उसमें भी दो राय हो सकती थीं यानी बहुमत के बल पर किसी प्राइम मिनिस्टर के लिए अपने हक में कानून बदलवाना कहां तक संविधान की भावना के अनुकूल है? लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने फैसला सुनाने के दिन जैसा भी कानून था, उसको ध्यान में रखते हुए, इन्दिरा जी की अपील को मंजूर कर लिया, जिसका कि हम लोगों और हर न्यायप्रिय आदमी को अत्यन्त मानसिक कष्ट है। आप भले ही बहस में हमसे जीत जाएं लेकिन सार्वजनिक जीवन में ऐसी मान्यताएं होती हैं, जो हमेशा कायम रहनी चाहिए, जिनसे मुल्क बनते और बिगड़ते हैं। इन्दिरा जी के जजमेंट के सिलसिले में जो कुछ हुआ, वह देश के लिए शर्म की बात है।

इमरजेंसी या आपातकालीन स्थिति की घोषणा करने के लिए देश की स्थिरता का बहाना लिया गया है। न मालूम देश की स्थिरता को कहां और कैसे खतरा हो गया था? ७ नवम्बर को अपराह्न इंदिरा जी अपील जीत चुकी थीं। उस दिन देहली में कांग्रेस पार्टी की एक मीटिंग हुई, जिसके सिलसिले में ८ नवम्बर के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में इस प्रकार खबर छपी—

> "श्रीमती इन्दिरा गांधी के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में पहुंचने के पूर्व ही मीटिंग ने यह प्रस्ताव पारित कर दिया कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपने सर्वसम्मत निर्णय के द्वारा जनता की इच्छा को न्यायोचित सिद्ध कर दिया है और यह भी सिद्ध कर दिया है कि हमारी पवित्र—भूमि में लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का स्थान सर्वप्रमुख है।"

अब देखिये, आगे चलकर बरुआ साहब क्या फरमाते हैं–

> "प्रस्ताव पेश करते हुए श्री बरुआ ने कहा कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्र को अराजकता तथा अव्यवस्था से बचा लिया। भारतीय लोगों ने यह बतला दिया कि वे कुछ गुण्डों के गुलाम नहीं हैं।"

मेरे तथा जयप्रकाश नारायण जैसे गुण्डे! अगर आप हमको गुण्डे कहें और हम आपको बदमाश कहें तब? और आपने हमको कुछ और कहा और हमने लाठी निकाल ली, तब आप गोली निकाल लेंगे? क्या राजनीतिक विरोधियों को 'हुलिगन' कहा जाता है डेमोक्रेसी में कहीं पर भी? दिन–रात आपके प्रेसीडेंट इसी प्रकार का प्रलाप करते हैं। अगर हम गुण्डे हों भी, तब भी आप गुण्डे नहीं कहेंगे। ऐसी ही जनतंत्र की रीति होती है। आप कहिये कि हम गलत काम करते हैं। आपने हमको गुण्डा कहा, लेकिन हमारी तरफ से कोई जवाब नहीं दिया गया। आगे और कहते हैं–

"वे जानते थे कि यदि श्रीमती गांधी शीर्षस्थ पद से हटीं, तो केन्द्र कमजोर हो जायेगा। देश का शासन ठगों और पिंडारियों के हाथों में चला जायेगा।"

मीसा बनाया था अपराधियों के लिए, जो वाकई तस्करी करते हों, आश्वासन दिया गया था कि लोक सभा में राजनीतिक नेताओं के खिलाफ मीसा इस्तेमाल नहीं होगा। माननीय देसाई साहब ने जब अनशन किया था, उस समय एक मांग उनकी यह भी थी। उस समय इन्दिरा जी ने उनको लिखा था कि मीसा को राजनीतिक कार्यकर्ताओं के खिलाफ इस्तेमाल नहीं करेंगे परन्तु आपने हमको फिर भी मीसा में बन्द कर दिया। क्या आप बतायेंगे क्यों? आप सदन में बयान देते हैं, प्राइम मिनिस्टिर वायदा करती हैं, मोरार जी देसाई को पत्र लिखती हैं। मैं जानना चाहता हूं आपने इन आश्वासनों की अप्रतिष्ठा क्यों की?

चाहे कोई प्राइम मिनिस्टर दो साल रहे, चाहे दस साल रहे, हमें ऐसी परम्परा नहीं कायम करनी है कि हिन्दुस्तान में आने वाली पीढ़ियां प्राइम मिनिस्टर के वचनों में यकीन न करें। यकीन के ऊपर सारी सोसायटी चलती है। प्राइम मिनिस्टर के वचनों पर मुल्क चलता है, मुल्क उठता है, लड़ाई लड़ता है, संधि करता है, नुकसान उठाता है और लाभ उठाता है।

अध्यक्ष महोदय! फिर न मालूम कितनी बार संशोधन हुए मीसा में, न मालूम कितनी बार अध्यादेश निकले। दूसरे मुल्कों में इस तरह की कोई परम्परा नहीं है और बात–बात पर वहां आर्डिनेंस नहीं निकालते। यहां तक कि सन् १९३५ के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के अन्तर्गत भी आर्डिनेंस जैसी बात नहीं थी लेकिन आपने 'रिप्रेजेन्टेशन ऑफ पीपुल्स

एक्ट' में संशोधन कर लिया कि आपके चुनाव के खिलाफ कोई अदालत में नहीं जा सकेगा भविष्य में। मैं जानना चाहता हं, क्यों? यह कौन–सा जनतंत्र है? जनतंत्र के अन्दर तो सब लोग बराबर होते हैं। जनतंत्र का मतलब यह नहीं है कि प्राइम मिनिस्टर के खिलाफ कोई सुप्रीम कोर्ट में नहीं जा सकता।

शासक दल ने चुनाव याचिकाओं के सम्बंध में कानून बदल दिया। प्राइम मिनिस्टर, प्रेसीडेंट, वाइस प्रेसीडेंट, स्पीकर भी उसमें शामिल हैं। इनके विरुद्ध, चाहे वे लोग चुनाव में कितनी ही बेईमानी क्यों न करें, विरोधी उम्मीदवार अदालत में न जा सकेगा। यह क्या बात हुई? जैसे मुगलों के जमाने के उमराव होते थे, रईस होते थे, कोई तीस हजारी, कोई पचास हजारी होता था, ऐसे ही इदिरा जी ने कहा कि 'ये लोग उमरा हैं। प्रेसीडेंट, वाइस प्रेसीडेंट, स्पीकर और मैं। इनके विरुद्ध इलेक्शन पिटीशन जो होगा, वह अदालत में नहीं जायेगा।' क्यों नहीं जायेगा अदालत में? एक अलग से आर्गनाइजेशन (संस्था) बनेगा, वगैरह वगैरह, क्यों? आप सब इसको डेमोक्रेसी क्यों कहते हैं? इन पर कोई सिविल केस नहीं चलेगा। कोई क्रिमिनल केस प्राइम मिनिस्टर पर चलेगा नहीं, न आज, न कल। प्राइम मिनिस्टर न रहें, तब भी नहीं चलेगा। मैं जानना चाहता हूं कि क्यों? मैं कहता हूं कि प्राइम मिनिस्टर एक आदमी के साथ ज्यादती करता है, गुस्से में आकर शूट कर देता है। अगर मैं सामने जाऊं, तो मार ही डालेंगी।

ठंडे दिमाग से सोचना चाहिए कि हमारे देश में क्या हो रहा है? यह देश किसी के बाप–दादों का नहीं है, किसी के परिवार का नहीं है। हमारा सबका है, ६० करोड़ लोगों का है। यह जो हो रहा है, आप सबको क्यों नहीं अखरता है? इन्डिविजुअल फ्रीडम (व्यक्तिगत स्वतंत्रता) के लिए गांधी जी ने कितना कहा है। लेकिन आप लोग आवाज ही नहीं उठा सकते हैं। क्या चीज आड़े आ रही है?

इन्दिरा जी से कोई नहीं पूछ सकता है, चाहे वह किसी का कत्ल ही कर दें, चाहे वह अपील में बेईमानी करके जीत जाएं। अब अदालत में पिटीशन लेकर कोई नहीं जायेगा, क्योंकि कामयाब होने का प्रश्न ही नहीं रह गया है। लेकिन मान लो कि अन्तःकरण से पीड़ित अर्थात् अति ईमानदार एक ट्रिब्यूनल बने, वह इस नतीजे पर पहुंचे कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने और पुलिस ऑफिसरों ने इन्दिरा जी को जिताया है, तो इसका सीधा–सा इलाज है, उन अफसरान से चुनाव से पहले की तारीख डाल कर इस्तीफा ले लें, और मंजूर इलेक्शन के बाद हो। इस प्रकार मान लें, उन्होंने चुनाव में बेईमानी का काम किया, जो कानून आज है,

उसके अनुसार वह काम इल्लीगल (गैरकानूनी) है, परन्तु उस अफसर से कह देंगी कि हम तुमको डायरेक्टर या एम्बेसेडर (राजदूत) फलां देश का बनाकर भेज देंगे। यह डेमोक्रेसी है? आप लोग कभी सोचेंगे कि नहीं? गांव का आदमी तो जानता ही नहीं है। बुद्धिजीवी जानते हैं या अन्य कुछ शहर वाले। वह यह कहती हैं कि शहर वालों की मैं परवाह नहीं करती हूं। मुझे तो गांव वाले और गरीब चाहिए। लेकिन मैं उसके लिए भी तैयार हूं। चाहें तो केवल गांव वालों से ही इलेक्शन करवा लें। बड़ी आई हैं वह गरीब और गांव वालों को जानने वाली। जवाहर लाल नेहरू तक तो उनको जानते नहीं थे। मैं पूछना चाहता हूं क्या वह गांव की झोपड़ी में रही हैं? या उनकी कठिनाइयों को क्या वह जानती हैं? गांव वालों का तो केवल प्रोपेगैण्डा है। मैं तो चौलेंज करता हूं, पहले गांव वालों में ही इलेक्शन करवा लें।

चुनाव के सिलसिले में इन्दिरा गांधी जी देश के साथ एक और मजाक कर रही हैं। कहती हैं कि चुनाव अवश्यमेव जीत जायेंगी, परन्तु चुनाव से देश का हित बड़ा है, इसलिए अभी चुनाव कराने की ज़रूरत नहीं है। यह एक लाल–बुझक्कड़ वाली बात हो गयी। चुनाव से देशहित का क्या टकराव है? चुनाव में जब आप जीत जायेंगी, क्योंकि जीतना तो आपको है ही, तो देश की सेवा और अधिक इतमीनान के साथ कर सकेंगी। फिर चुनाव और देश–हित में क्या जिद है? असल बात यह है कि वह जानती हैं कि बिना भारी बेईमानी किए कांग्रेस आज नहीं जीत सकती। बेईमानी की तरकीब निकालने के लिए इन्दिरा जी ने खुफिया विभाग में कोई सेल अर्थात् विशेषज्ञों की कमेटी बिठा रखी होगी कि बेईमानी करने के ऐसे रास्ते व तरकीबें ढूंढें, जिससे कांग्रेस की भारी जीत हो और विरोधियों को पता भी न लगे, और लगे तो चुनाव के नतीजे निकलने के बाद!

वर्तमान स्थिति का वास्तविक कारण क्या है? मैं उसको भी जानता हूं और वह है जून सन् १९७५ का हाईकोर्ट का निर्णय उनके खिलाफ हो जाना और कांग्रेस का गुजरात में उस तारीख को हार जाना। बस यही कारण हुआ हमारे जेल जाने का? जिस स्वराज्य को लाने के लिए हमने और हमारे नेताओं ने पुरुषार्थ किया था, उस सब पर पानी फिर गया।

हमको स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि कानून हम कभी तोड़ेंगे। कोई हमको अब बतला भी नहीं सकेगा कि कौन–सा कानून तोड़ा, जिसके कारण हमको जेल में डाल दिया गया। आज तक तो किसी ने बताया नहीं है।

मैं यह कहता हूं कि हमारा प्राइम मिनिस्टर ऐसा होना चाहिए था और

आगे ऐसा होना चाहिए कि फैसला होते ही इस्तीफा दे दे। इसमें शान भी होती है। कोई मनुष्य तो अनिवार्य नहीं है देश के लिए, लेकिन बहन जी के स्वयं बयान क्या निकले कि हाईकोर्ट का उनके विरुद्ध फैसला किसी व्यक्ति का प्रश्न नहीं है, देश का प्रश्न है। क्यों नहीं है व्यक्ति का प्रश्न? डाकू को सजा हो जाए और वह गांव पंचायत से प्रस्ताव पास करा ले कि वह डाकू नहीं है, बल्कि हमारा प्रधान भी है, इसलिए यह सारे गांव का मामला है, सजा उसको नहीं मिलनी चाहिए। जब प्राइम मिनिस्टर ही कानून नहीं मानेगा, तो गांव का सभापति या कोई और क्यों मानेगा? जरा देखिए, मैं कहता हूं कि जरा देखिए हिम्मत। नीयत ही खराब। हंसते हैं आप लोग। कुछ लोग मुस्कुराते हैं। मैं जानना चाहता हूं जब आपके दल का अध्यक्ष कहता है कि "इन्दिरा इज इण्डिया (इन्दिरा ही भारत है), इण्डिया इज इन्दिरा" (भारत ही इन्दिरा है), तो शर्म आनी चाहिए आपको। जो और लोकतान्त्रिक देश हैं, वहां कभी ऐसा नहीं कहते, लेकिन वाह रे आपकी हिम्मत ! यह आपकी कमजोरी है, आपकी गलती है। आपने इसके विरुद्ध आवाज उठायी है? नहीं उठानी चाहिए थी यह आवाज? आज आपको २५ प्रतिशत से ज़्यादा जनता का समर्थन नहीं है। मान लीजिए ३३ सही, ४२ सही, लेकिन १०० फीसदी राय मिल जाए, तो भी इन्दिरा जी को देश की बराबरी पर नहीं रखा जा सकता। लज्जा नहीं आती यह कहते हुए? वह शख्स (श्री बरुआ) जो दूसरों को ठग कहता है, अपने स्वार्थ के लिए कहता फिरता है "इन्दिरा इज इण्डिया एण्ड इण्डिया इज इन्दिरा," परन्तु पूरी कांग्रेस पार्टी उनका समर्थन करती है। आप महसूस नहीं करते हैं कि देश के साथ आप कितना बड़ा द्रोह व घात कर रहे हैं। लीजिए, उससे ज़्यादा अफसोस और शर्म की बात किसी इण्डियन पैट्रीऑट (देशभक्त) के लिए और नहीं हो सकती। आपकी इस कायरता के कारण ही देश में इमरजेंसी की घोषणा की गयी।

हम पर चार्ज क्या है? इस देश की इंटीग्रिटी को थ्रेटेन कर रहे थे, अर्थात देश की एकता को जोखिम में डाल रहे थे? इमरजेंसी (आपात्कालीन स्थिति) एक मजाक बन गयी है। न किसी को बोलने दिया जाएगा, न चलने दिया जाएगा। संविधान के अनुच्छेद ३५२ में इमरजेंसी इस तरह बयान की गयी हैं–

"अगर राष्ट्रपति सन्तुष्ट है कि हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तान के किसी भाग की एकता जोखिम में है, किसी युद्ध से, आक्रमण से या आन्तरिक शांति भंग से और कहीं पर अव्यवस्था पैदा हो गई है, तब वह इमरजेंसी (आपात–स्थिति) घोषित कर सकता है।"

अब मैं यह जानना चाहता हूं कि ८–९ महीने हो गये। क्या औचित्य

है आपके पास यह कहने का कि देश की एकता को खतरा है? क्या हम पंजाब को लेकर पाकिस्तान में मिलाने की कोशिश कर रहे हैं? क्या हम बंगाल को बंगला देश के साथ मिलाना चाहते हैं? यह और क्या है? क्या यू० पी० के हिस्से गोरखपुर या बहराइच को नेपाल में शामिल करने की कोशिश कर रहे हैं? क्या है? राष्ट्रपति कैसे और क्यों सन्तुष्ट हो गये कि देश की एकता को खतरा है। यह चैलेंज नहीं हो सकता है, सुप्रीम कोर्ट में भी नहीं। बस उन्हीं की संतुष्टि है, यह कहना पर्याप्त है। प्रेसीडेंट तो हमारा (इंदिरा जी का) बनवाया हुआ है। वह कुछ कह नहीं सकता है।

२५ जून १९७५ को यू० पी० निवास के एक कमरे में, जहां मैं ठहरा हुआ था, मेरी कमर में चणका था और सियाटिका नर्व से बायें पैर में तकलीफ होती थी। वहां कुछ दोस्त व बुजुर्ग इकट्ठा हुए और एक रिजोल्यूशन (प्रस्ताव) पास किया, जिसे मैं पढ़कर सुनाये देता हूं। मेहरबानी करके बतायें कि इसमें कहां डिस्टरबेंसेज (अशान्ति), इण्टरनल सिक्योरिटी (आन्तरिक सुरक्षा) तथा इन्टीग्रिटी (एकता) के खतरे का सवाल हैः

"संगठन कांग्रेस, जनसंघ, भालोद तथा सोपा की राष्ट्रीय कार्य–समितियां आज प्रातः एक सप्ताह के उस देशव्यापी आंदोलन के कार्यक्रम को अन्तिम रूप देने हेतु इकट्ठा हुईं, जिससे जनता का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट हो सके कि श्रीमती गांधी ने चुनाव–याचिका में हारने तथा तत्सम्बंधी इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा उस निर्णय के बिना शर्त–स्थगन आदेश न मिलने के बावजूद त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया।" उच्चतम न्यायालय के निर्णय के फलस्वरूप हमको इस्तीफा मांगना चाहिए था या नहीं, इस सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं परन्तु इसमें दो मत नहीं हो सकते कि हमको डिमांस्ट्रेशन (प्रदर्शन) करने का हक था, इस्तीफा मांगने का हक था, ऐजीटेशन (आन्दोलन) करने का हक था। हां वायलेंस (हिंसा) करने का हक नहीं था। यह हमारा प्रस्ताव था। आगे चलकर उसमें यह भी था कि प्रदेश की राजधानी के अलावा तहसील–स्तर पर भी प्रदर्शन होगा कि इन्दिरा जी को इस्तीफा देना चाहिए। यही हमारा कसूर है। बतलाइए, इसमें देश की एकता को कहां खतरा है? सच्चाई यह है कि पहले से सारा मामला तैयार था। आज की तैयारी नहीं थी. पहले से थी। एक बार इमरजेंसी की घोषणा कर दी जाए, तो हमेशा के लिए डिक्टेटरशिप हो जाएगी। डिक्टेटरशिप नहीं होगी, एक परिवार का शासन स्थापित करने का मौका मिल जाएगा।

अतः २६ तारीख को सवेरे सारे देश में इमरजेंसी की घोषणा कर दी गयी और उसके लिए आरोप क्या–क्या लगाये गये हैं, जरा उन पर

विचार कीजिए।

जयप्रकाश नारायण जी पर सबसे बड़ा आरोप है कि उन्होंने पुलिस व सेना के लोगों से कहा है कि वह सरकार के आदेश पर अपने देश के लोगों पर गोली चलाने से इंकार कर दें। मेरा ख्याल है कि ऐसा कहने का उनको हक हासिल है। जो उन्होंने कहा वह आपको और हमको भी कहने का हक हासिल है। सेना और पुलिस से हम कह सकते हैं कि यदि ऐसा कोई आर्डर उनको दिया जाए, जो कानून और देश–हित के खिलाफ हो, संविधान के खिलाफ हो, तो वे उस पर अमल करने से इंकार कर सकते हैं। उसे उनको नहीं मानना है। किसी सैनिक या पुलिस मैन की यह दलील नहीं मानी जाएगी कि उसके ऑफिसर ने उसको ऐसा हुक्म दिया था। आर्मी ऐक्ट (सेना कानून) में इस आशय का सेक्शन (धारा) मौजूद है। ताजी घटना आपको याद होगी माई–लाई की? वियतनाम में माई–लाई एक जगह है। अमेरिका के मिलिटरी पर्सोनल (सेना के लोगों) ने कुछ बेगुनाह गांव वालों को गोली का शिकार बना दिया। काफी बड़ी तादाद में लोगों की हत्या कर दी गयी। इस पर अमेरिका में शोर मचा कि यह तो बुरा हुआ। मुकदमा चला। सैनिकों ने अपनी सफाई में कहा कि इसके लिए उनके अधिकारियों के आदेश थे। वहां कोर्ट ने निर्णय दिया कि ऐसा कोई आदेश न्यायोचित नहीं हो सकता। यह सरासर जुर्म है। जो अफसर ऐसा ऑर्डर देता है, वह आपको नहीं मानना चाहिए। अगर आपने माना है, तो सजा भुगतो। मैं जानना चाहता हूं कि कौन बहुत बड़ी बात हो गयी थी, अगर जे० पी० ने यह कह दिया था? हमारे आर्मी ऐक्ट (फौजी कानून) में भी इस तरह का प्रावधान है। अर्थात् कोई अधिकारी कानून के खिलाफ आदेश देता है, तो वे उसके लिए बाध्य नहीं हैं और उस पर अमल करने से इंकार कर सकते हैं।

अब लीजिए मोरारजी देसाई का मामला। आपका कहना है कि वह मिनिस्टर रह चुके हैं और लोक सभा की कार्यवाही नहीं चलने देंगे। उन्होंने निःसंदेह यह कहा था कि मैं सत्याग्रह करूंगा। किस मौके पर कहा था, किस बात पर कहा था–इस बात पर कहा था कि एल० एन० मिश्र के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप थे। सारा विरोध पक्ष कह रहा था कि न्यायिक जांच कराओ। आप नहीं माने। इसके पहले और मंत्रियों के विरुद्ध भी सवाल उठे। प्रधानमंत्री ने तब भी नहीं माना। इस पर विपक्ष की तरफ से एक प्रस्ताव आया कि सदन की ही एक कमेटी बैठ जाए, लेकिन उसे भी नामंजूर कर दिया गया। बहुत मुश्किल से यह तय हुआ कि सी० बी० आई० की इन्क्वायरी (जांच) करा ली जाये और यह भी तय हुआ कि सी० बी० आई० जो रिपोर्ट देगी, वह सदन के पटल पर

रखी जाएगी। उसके बाद सदन स्थगित हो गया। अगली बार जिस दिन हाउस को बैठना था, ठीक उसी दिन १० बजे कोर्ट में दावा दायर कर दिया गया, उन लाइसेंसदारों के खिलाफ गवर्नमेंट की तरफ से। जब हाउस बैठा तो अपोजीशन ने कहा कि सुना है सी० बी० आई० की रिपोर्ट आ गयी है, उसे हाउस की मेज पर रखिए। तो उसका जवाब मिलता है कि वह मामला न्यायालय के विचाराधीन है। सवाल उठता है कि आपने उसे विचाराधीन क्यों कर दिया? इससे अधिक बेईमानी की बात क्या हो सकती है? आपने तो वादा किया था। आपको मिनिस्टर होने का मौका मिलेगा, तो क्या ऐसे ही करोगे? अगर ऐसा करोगे तो आपको मुबारक। मेरी तो हिम्मत नहीं है। मामूली शालीनताओं को, मामूली मान्यताओं को भी आप नहीं देखेंगे, तो कौन देखेगा? इस पर मोरारजी ने कहा कि हम हाउस को नहीं चलने देंगे और उन्होंने ठीक कहा।

विपक्ष का विश्वास है कि आज देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के मूल में राजनीतिक लोग हैं। इसलिए उनकी मांग थी कि भ्रष्ट राजनीतिक लोगों के खिलाफ कार्यवाही करो। प्रशासन अपने आप ठीक हो जाएगा। न्यायाधीशों से जांच कराओ। जवाब मिलता है कि हमने देख लिया है, एल० एन० मिश्र के खिलाफ कुछ नहीं है। बंसीलाल के खिलाफ कुछ नहीं है। मोटी–सी बात है कि अगर उनके खिलाफ कुछ नहीं है, तो जज द्वारा इन्क्वायरी कराने में क्या हानि थी? क्या यह ईमानदारी है?

किसी विशेष संवाददाता ने इन्दिरा जी से पूछा कि लोग आपके साथियों के खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप लगाते हैं, तो उन्होंने कहा कि हमारा कोई मंत्री भ्रष्ट नहीं है। क्या इससे अधिक असत्य दुनिया में कोई और हो सकता है? हालत यह है कि किसी जगह के लिए अगर आपके दो उम्मीदवार हैं, एक कम भ्रष्ट है और दूसरा अधिक, तो मुकाबले में ईमानदार या कम भ्रष्ट के, उसको लिया जाएगा, जो भ्रष्ट है या अधिक भ्रष्ट है। क्योंकि वे जानती हैं वह तीन–पांच नहीं करेगा। हम कहते हैं कि आप इन्क्वायरी क्यों नहीं कराते हैं? फिर आपकी हिम्मत की एक बात कहता हूं। आप एल० एन० मिश्र को शहीद बनाना चाहते हैं, क्यों? इसलिए न कि आप लोग उनके और अपने पापों को छिपाना चाहते हैं।

आपने विरोध–पक्ष पर एक आरोप लगाया है––हिंसा करने का। तो वह कहां है? कहीं पर आज तक ईंटें फेंकी गयी हों, वह बताएं। हिंसा साबित न कर सके, तो आप कहते हैं, हिंसा के लिए तैयारी हो रही थी। कहीं कोई अन्य प्रकार का केस हुआ हो, तो उस सिलसिले का केस चलातीं। सारे मुल्क में इमरजेंसी लगाने की क्या आवश्यकता थी और हम लोगों को जेल में बन्द कर दिया, बिना किसी प्रकार की तहकीकात

किये। आपको प्रेसीडेंट मिल गया दस्तखत करने वाला। मैं केवल इन्दिरा जी को भी दोष नहीं देता। वे ३३६ मेम्बर पालियामेंट में जो आंख बन्द करके हाथ उठाते हैं, उनका दोष इन्दिरा जी से कम नहीं है। दो लाख व्यक्तियों का एक एम० एल० ए० प्रतिनिधित्व करता है और दस लाख का एम० पी० प्रतिनिधित्व करता है। मैं फिर कहता हूं कि वायलेंस करने जा रहे हैं, तो उसका सबूत आज तक क्यों नहीं दिया? हमें दिखा देते यह सबूत अलहदा बुलाकर या कोर्ट में दिखा देते। परन्तु आज तक नहीं दिखाया गया।

मैं लोगों से हिंसा करने के लिए कहूं, यह मुमकिन नहीं है और चाहूं तो कर भी नहीं सकता हूं। लेकिन आप समझते हैं कि स्टीम इकट्ठी होती रहे बायलर में और कहीं कुछ नहीं होगा। होगा, अवश्य होगा, एक विस्फोट होगा, एण्ड दी कंट्री विल बी डूम्ड इन फ्लेम्स (और देश जल जायेगा)। मैं आपके हित में कह रहा हूं, अपने हित में और देश के हित में यह बातें कह रहा हूं। आप किसी को ऐसा मौका न दें। हो सकता है कि कहीं कोई नौजवान या कोई पार्टी ऐसी हो, जो बहुत दिनों तक इस प्रकार का दमन बर्दाश्त नहीं कर पायेगी कि आप उनकी आजादी सदा के लिए छीन कर रख लें। इमरजेंसी किसी मुल्क में आई है, तो वह एक महीने से ज़्यादा नहीं रही है और अपने यहां १७–१८ महीने तक चलने की उम्मीद है, जैसा कि सुनते हैं कि प्रधानमंत्री जी ने आचार्य जी को जवाब दिया है कि यह नवम्बर–दिसम्बर तक रहने की उम्मीद है। आप एक बार पावर में आ गए, तो आप सदैव देश के मालिक और सर्वेसर्वा नहीं बन गये। आप ही सब कुछ नहीं हैं कि आप सबको मनचाहे ढंग से मिटाकर रख दें। गांधी जी ने अहिंसा का सहारा लिया, लेकिन कायरता के कारण नहीं, अगर उनकी बात आती, तो भी हिंसा हो सकती है। उन्होंने कहा था कि अहिंसा के असफल हो जाने पर मैं लोगों से कहूंगा कि तलवारें उठाएं स्वराज के लिए। मैं उनकी इस बात को उचित मानता हूं। यदि यह गैरकानूनी है, तो मैं इसको पुनः कहने को तैयार हूं और अपने अपराध के विरुद्ध कार्यवाही की मांग करूंगा।

मेरी पार्टी के लोग मुझसे नाराज थे तब, जब मैं कहता था कि सत्याग्रह के लिए किसी डेमोक्रेसी (लोकतंत्र) में स्थान नहीं है। मैं कांग्रेस में था, तब भी मेरा ऐसा ही विचार था कि सत्याग्रह एक विद्रोह है। सत्याग्रह की राय गांधी जी ने इसलिए दी थी कि हमारे पास हथियार नहीं थे। आजकल हर मुल्क की गवर्नमेंट शस्त्रों से सुसज्जित है, इसलिए हिंसा की गुंजाइश नहीं है। डेमोक्रेसी आई, यह डेमोक्रेसी ठीक तरह से चलती है, तो सत्याग्रह की किसी को ज़रूरत नहीं। यही हमारा चुनाव

घोषणा पत्र कहता था, यही उसमें लिखा हुआ है, यही हमने माना है। हिंसा की बात किस सन्दर्भ में कही है, यह आप सोचें। इलेक्शन में आप ईमानदारी न करें, हिम्मत के साथ बेईमानी करें, उसकी शिकायत की जाए, तो जवाब मिले कि इलेक्शन पिटीशन में जाओ, जहां निर्णय पांच साल में होता है। हिम्मत होती, तो तहकीकात कराते। गांव में घुस नहीं पाते थे और दो सौ पन्द्रह की मिजोरिटी (बहुमत) ले आये कुछ अफसरों की कृपा से, तो दूसरे आदमी क्या करें? यदि आप येन–केन–प्रकारेण सत्ता में रहना ही चाहते हैं, चाहे बेईमानी करके हो, चाहे करोड़ों रुपये इस्तेमाल करके हो, चाहे गवर्नमेंट के साधनों का इस्तेमाल करके हो या फिर कम्बल और धोती बांटकर हो या फिर कुछ न हो तो इमरजेंसी घोषित करके हो, तो मैं कहता हूं कि विपक्ष को हक हासिल है कि वह येन–केन–प्रकारेण, जिस तरह से हो, आपको सत्ता से निकाल बाहर करे। यह मैं जान–बूझकर कहता हूँ।

औद्योगिक उत्पादन के बारे में कहा जाता है कि यह इमरजेंसी से पहले जमाने में बहुत कम हो गया था, अब बढ़ गया है। बहुत खूब, आपकी नाकाबलियत से जो गड़बड़ियां पैदा हुई हैं, उसके लिए भी क्या हमारी जिम्मेदारी है? आई० एन० टी० यू० सी० शायद श्रमिकों का सबसे बड़ा संगठन है। एक दूसरा संगठन है आई० टी० यू ० सी०, जो आपके दोस्त सी० पी० आई० के हाथ में है। अगर हड़ताल हुई होगी, तो आपके दोस्तों ने करायी होगी।

आपके २० प्वाइन्ट्स (सूत्र) हैं, उनमें कहा गया है कि विद्यालयों एवं छात्रावासों में विपक्ष वाले अनुशासनहीनता फैलाते हैं। मुमकिन है कि कुछ लोग फैलाते हों, लेकिन कांग्रेस वाले भी कम नहीं हैं। हमने सन् १९७० में निश्चय किया था कि कम्पलसरी स्टूडेन्ट्स यूनियन (अनिवार्य छात्र संघ) होना उचित नहीं है। नतीजा यह हुआ कि–हालांकि कांग्रेस वालों ने और विपक्ष वालों ने भी लड़कों को भड़काया, लेकिन न कोई गोली चली, न कहीं पर हिंसा हुई, मुमकिन है दस बीस लड़के गिरफ्तार हुए हों–उस वर्ष सबसे अधिक पढ़ाई हुई। जिस तरह की पढ़ाई हुई और विद्यालयों में शान्ति रही, उसके बारे में मेरे पास अनेक पत्र आये, जिनमें कहा गया था कि इतनी पढ़ाई विगत २० वर्षों में भी नहीं हुई। आपके लीडर त्रिपाठी जी आये, ५ तारीख को पावर (शासन) में और आते ही उन्होंने वह आर्डिनेंस (अध्यादेश) वापस ले लिया और फिर अनिवार्य यूनियंस बनीं, नतीजा क्या हुआ, यूनिवर्सिटी जली, आज तक कहीं इतना बड़ा काण्ड नहीं हआ लेकिन फिर भी जो व्यक्ति इसके लिए जिम्मेदार था, (श्री त्रिपाठी) उनकी तरक्की हो गयी। तो मैं जानना चाहता हूं कि अगर यहां पर लड़कों के

झगड़े हए हैं, तो कौन है इसका जिम्मेदार? जब गवर्नमेंट की तरफ से कोशिश हुई कि यूनियंस न हों, तो आपकी ओर से कोशिश हुई कि हों। जब मैं जेल (दिल्ली में) में था, तो वहां पर एक पुलिस अधिकारी थे (एस० एच० ओ०)। उन्होंने मुझे बताया कि जब कभी बस जलाने में या यूनिवर्सिटी कैम्पस में बदमाशी करने की वजह से लड़कों को गिरफ्तार किया गया, तो हमेशा कांग्रेस के लीडरों की ओर से कहा गया कि उनके ऊपर केस न चलाओ, शिकायत दर्ज कर लो और कुछ दिन बाद उन्हें छोड़ दो, लेकिन अनुशासनहीनता कराने का दोष दिया जाता है हमको।

एक तर्क हमारे विरुद्ध यह भी दिया गया है कि हम लोग प्रधानमंत्री के पद की बदनामी करते थे। कहा गया है कि हम उनकी शान नहीं बढ़ने दे रहे थे। हम तो चाहते हैं कि उनकी शान बढ़े, लेकिन डेमोक्रेसी में हमेशा यह होता है कि अपने काम से ही अपनी शान बढ़ती है। क्या हमने विल्सन साहब की शान बढ़ा दी है। उन्होंने अपने आप कहा कि मैं आठ साल तक प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मंत्री) रह चुका हूं, अब और अधिक समय तक प्राइम मिनिस्टर नहीं रहना चाहता। लेकिन हमारी बहन जी ने टेलीविजन पर इन्टरव्यू देते हुए कहा कि अभी तो मेरा काम बाकी है, क्योंकि गवर्नमेंट का काम बाकी है। देश है, सरकार है, हमेशा समस्याएं बनी रहेंगी। लिहाजा हमेशा ही देश को इंदिरा चाहिए। मैं पूछना चाहता हूं कि किसी के कहने से मेरी शान नहीं घटेगी, मेरे दुष्कर्मों से ही घटेगी। आप मुल्क को किधर ले जा रही हैं? आप चाहते हैं कि देश में एक दलीय शासन हो और सिवाय कांग्रेस के कोई दूसरी पार्टी न रहे?

अभी तमिलनाडु में क्या हुआ? मार्च के महीने में वहां की विधान सभा की अवधि खत्म होने वाली थी, लेकिन आपकी सरकार ने केवल डेढ़ महीने पूर्व वहां की प्रांतीय सरकार और असेम्बली को बर्खास्त करके अपने कब्जे में वहां का शासन ले लिया। मैं जानता हूं कि क्यों ले लिया? वे तो कहते थे कि आप दोनों चुनाव—लोक सभा और विधान सभा के, साथ—साथ कराएं और अगर पार्लियामेंट का नहीं कराते हैं, तो विधान सभा को भी मुल्तवी करा दें। फिर भी एक—दो महीने पूर्व ही बर्खास्त करके शासन को अपने हाथ में ले लिया। कहा गया कि उनके खिलाफ आरोप थे, सन् १९७२ से। लेकिन सुनने में आया है कि वहां के गवर्नर ने अपने हर सम्बोधन में उनकी तारीफ की है। उधर कर्नाटक को आप देखें, वहां की कांग्रेस पार्टी ने प्रस्ताव पास किया, अपनी ही गवर्नमेंट के खिलाफ।

जो गलती पायी गयी है, अकुशलता पायी गयी है, वह केवल दो सरकारों में पायी गयी है, एक गुजरात और दूसरी तमिलनाडु में। न यू० पी० में, न पंजाब में, न हरियाणा में, न बिहार में। तो इसका मतलब

क्या निकला? यह कि आपकी इच्छा है कि देश में एक दलीय शासन हो। लिहाजा दूसरी पार्टी के लोगों को लालच देकर फुसलाकर पार्टी में शामिल कर लिया जाए। बराबर प्रोपेगैण्डा किया गया कि गुजरात की सरकार गिरेगी और आखिर में गिरा ही दी। जनवरी में पार्लियामेंट का इजलास शुरू होने से दो या तीन दिन पहले सचिवालय के सामने इंदिरा जी ने विपक्ष को ध्वस्त करने, उनको मिटा देने का आह्वान किया। मैं जानना चाहता हूं कि दुनिया के किसी मुल्क में डेमोक्रेटिक लीडर्स (लोकतांत्रिक नेता) यह दृष्टिकोण अपनाते हैं या कहते हैं कि विपक्ष को समाप्त ही कर देना है?

पांच जनवरी के अखबार निकाल लीजिए। हमारे पास इस वक्त नहीं है। मैंने पढ़ा हुआ है एक बार नहीं दो बार कहा, किसी इन्डिपेन्डेंट (निर्दलीय) मेम्बर ने श्रीमती जी से यह पूछ ही लिया कि आप विपक्ष वालों से बात क्यों नहीं करतीं? उन्होंने (इन्दिरा जी ने) कहा कि मैं कभी इनसे बात नहीं करूंगी। यह रवैया है प्राइम मिनिस्टर का। फिर जब अगले रोज लोगों ने कहा कि आपका इस तरह से कहना मुनासिब नहीं है, तो उन्होंने फरमाया कि आई एम प्रिपेयर्ड टू होल्ड ए डायलॉग प्रोवाइडेड दि अपोजीशन क्रियेट्स प्रापर ऐटमॉसफियर फॉर ए डायलॉग एण्ड डज नॉट ऑफर एनी ऑब्सट्रक्शन टू गवर्नमेंट्स वर्किंग (मैं बात करने के लिए तैयार हूं, बशर्ते विपक्ष ऐसी बातचीत के लिए उचित वातावरण तैयार करे और सरकार की कार्य प्रणाली में बाधा न डाले)। उस पर एच० एम० पटेल, जो जनता फ्रंट (मोर्चे) के चेयरमैन हैं और एन० जी० गोरे साहब, उन्होंने फौरन इन्दिरा जी को पत्र लिखा। उन्होंने कहा कि आज आपने यह कहा है कि आप बात करने को तैयार हैं। अब आपसे जानना चाहते हैं कि इसके लिए हम उचित वातावरण किस प्रकार पैदा कर सकते हैं? जहां तक आपने यह कहा कि हम लोग बाधा डालते रहते हैं प्रशासन में, सो उसकी मिसाल हम जानना चाहते हैं। हम केवल विपक्षी दल के कर्तव्यों को पूरा करते हैं। आपकी जिन नीतियों से देश को नुकसान पहुंच रहा है, उनकी हम आलोचना करते हैं और करते रहेंगे। लेकिन हिंसा हमने कहां की है, क्या बाधा डाली है? आज तक इस पत्र का जवाब नहीं आया है।

यही नहीं, जयप्रकाश जी ने एक पत्र लिखा। एन० जी० गोरे साहब ने उनसे कहा, तो उन्होंने इतना मुलायम लिख दिया कि बहुत ज़्यादा। अगर मैं होता, तो उनको लिखने न देता। इस पत्र की प्राप्ति की सूचना तक भी नहीं भेजी गयी। यह नक्शा है ! यही नहीं, जिस आचार्य के नाम का फायदा उठा रही थीं कि वह इमरजेंसी को अनुशासन–पर्व कहते हैं। बसों पर, रेलों पर, दुकानों पर यह पोस्टर लगवा दिये पर बाबा तो पोलिटिकल

नहीं हैं—संन्यासी हैं। निन्दा होती है अपोजीशन की। जब बाबा यह कहते हैं कि हमने यह नहीं कहा था, तो जितने पोस्टर लगे हुए थे दिल्ली की बसों पर और दुकानों पर, वह मिटाये गये। इस तरह आपने खूब फायदा उठाया उनके नाम का। लेकिन जब आचार्यों की कान्फ्रेंस करते हैं और वह गैर—राजनीतिक लोग, जिनमें एक्स चीफ जस्टिस हाईकोर्ट और सुप्रीमकोर्ट के भी हैं, रिटायर्ड वाइस चांसलर्स, जर्नलिस्ट और लिट्रेच्योर, पत्रकार और साहित्यकार हैं और किसी का कोई राजनीतिक जुड़ाव नहीं है, उन सबने जो रिजोल्यूशन (प्रस्ताव) पास करके भेजा, आपने पढ़ा होगा, हर मामले या बात में, जो विपक्ष ने कही हैं, उन सब में उन्होंने विपक्ष का समर्थन किया। सर्वसम्मत प्रस्ताव सबके मश्विरे से पारित हो गया। उन्होंने उसमें यह कहा कि आप जल्दी इस मसले को सुधारें, ताकि कोई अप्रिय घटनाएं घटित न हों, जिसका मतलब है, ताकि हिंसा न हो जाए। क्योंकि हर तरीके से किसी कौम को, किसी देश को दबाया जाता है, तो हिंसा होती है। (व्यवधान)। अच्छा महोदय, आचार्य लोगों के यूनेनिमस रिजोल्यूशन (सर्वसम्मत प्रस्ताव) को उनके पास भेजा जाता है और श्रीमन्नारायण जी जाते हैं, जो गवर्नर रह चुके हैं। प्लानिंग कमीशन के मेम्बर भी रह चुके हैं और काठमाण्डू में राजदूत रह चुके हैं। दस दिन तक वक्त मांगते हैं। टेलीफोन आप खुद नहीं उठाती हैं, हमेशा आदमी जवाब देता है कि बाद में आपको फोन पर समय दिया जाएगा। दस रोज इन्तजार करके लौट गए।

अब इन्दिरा जी का बीस—सूत्री प्रोग्राम लीजिए। यह कांग्रेस का प्रोग्राम नहीं है, गवर्नमेंट का प्रोग्राम नहीं है, हर जगह यही पढ़ने को मिलता है कि इन्दिरा जी के प्रोग्राम को पूरा करके उनके हाथ मजबूत करो। अगर आपको उनके हाथ मजबूत करना ही था, तो लिखते कि कांग्रेस के हाथ मजबूत करो। अगर आप कहीं डेवलपमेंट ब्लॉक (विकास क्षेत्र) में जाइये, जहां कोई छोटी सड़क बनी, या ट्यूबवेल है, तो वहां यही लिखा मिलेगा कि इन्दिरा जी के बीस—सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत बनाया गया है।

इन्दिरा जी के बीस—सूत्रीय कार्यक्रम के सिलसिले में तथा उनकी हकूमत के दस साल पूरे होने पर एक उत्सव मनाया गया। किसी भी लोकतांत्रिक देश में ऐसा हआ? डिवेलरा सोलह वर्ष तक आयरलैंड के प्रधानमंत्री रहे। ग्लैडस्टन भी दस साल तक लीडर रहे, लेकिन कहीं भी इस तरह का कोई उत्सव नहीं हुआ। नौजवान धर्मवीर जी या कौन हैं, वे नाराज न हों, वे इस बात को सोचें। अगर प्राइम मिनिस्टर के अपने निजी तौर से या पार्टी की तरफ से वह दिन मनाया जाता, तो इसमें कोई

हर्ज नहीं था। लेकिन आपने सार्वजनिक उद्योगों को, गवर्नमेंट को और प्राइम मिनिस्टर को एक बना दिया, क्यों? आखिर आप किधर जा रहे हैं?

यह कोई डेमोक्रेसी नहीं है। राजा की बरसी मनायी जाती है, रानियों की बरसी मनायी जाती है कि उन्होंने दस साल तक राज्य किया था। किसी भी डेमोक्रेटिक कन्ट्री में आज तक यह सुनने को नहीं मिला है कि इस तरह से कोई दिन मनाया गया हो। आपने स्टेट और पार्टी को एक बना दिया इन्दिरा जी के साथ। इसको आप सोचें। जेल में मुझे पढ़ने को मिला–मिल्क प्राइस कट ऑन दि ऑकेजन ऑफ प्राइम मिनिस्टर इन्दिरा गांधी'ज बर्थडे (प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी के जन्म दिन के शुभ–अवसर पर दूध के मूल्यों में कमी)। इसका मतलब यह हुआ कि किसी राजा के लड़का पैदा हो गया, तो इसलिए छुट्टी रहेगी।

अब यहां प्रेसीडेंट (राष्ट्रपति) की भी कोई इज्जत आपने नहीं छोड़ी है। प्रेसीडेंट ऐसा बनायेंगे, जो अत्यन्त विवादास्पद आदमी हो। बड़े–बड़े पदों पर ऐसे आदमी होने चाहिए, जो विवाद से ऊपर हों या जिनके विरुद्ध व्यक्तिगत कोई बात न कह सके या कम कह सके। लेकिन नहीं, ऐसे को बनाएंगे जो अपकी मुट्ठी या जेब में हो। चाहे किसी कमीशन की रिपोर्ट ही उसके खिलाफ क्यों न रखी हो और चाहे जैसे कागज पर उससे दस्तखत करा लेंगे। दुनिया में किसी राज्य के अध्यक्ष के जरिये ऐसी इमरजेंसी स्वीकृत नहीं हो सकती थी, जो हमारे यहां हुई। इसके पहले पार्लियामेंट से एक विधेयक नामंजूर हुआ। उसी समय एक अध्यादेश भेज दिया जाता है हवाई जहाज से, प्रेसीडेंट के पास, जो दिल्ली से बाहर थे और तुरन्त उस पर मोहर लग जाती है राष्ट्रपति की। इस तरह जो प्रतिष्ठा प्रेसीडेंट के पद की है, वह आप स्वयं गिराते हैं।

संविधान सभा में जब संविधान के अनुच्छेद ३५७ पर, जिसमें किसी प्रदेश के शासन को अपने हाथ में लेने और विधान सभा तथा मन्त्रि–परिषद को बर्खास्त करने का प्रावधान है, बहस हो रही थी, तो डॉक्टर अम्बेडकर ने कहा था–

> "यदि ये प्राविधान कभी प्रयोग में आते हैं, तो मुझको आशा है कि राष्ट्रपति, जो इन अधिकारों का धारक है, किसी प्रदेश के शासन को निलम्बित करने के पहले पर्याप्त सावधानी बरतेगा।" परन्तु व्यवहार में ऐसी कोई सावधानी बरती नहीं जा रही है। तमिलनाडु की गवर्नमेंट ने कहा था कि वह विधान–सभा का चुनाव लोक सभा के साथ कराना चाहते हैं। लोक सभा का चुनाव अगर मुल्तवी होता है, तो विधान सभा का भी होना चाहिए, परन्तु श्रीमती गांधी को यह मंजूर नहीं था और प्रदेश की गवर्नमेंट को आनन–फानन में बर्खास्त कर दिया।

इसी प्रकार इमरजेंसी की बात है। संसार भर में कदाचित इमरजेंसी का प्रावधान केवल ब्रिटेन में है, सो भी किसी युद्ध के दौरान। युद्ध का अन्त हुआ और उसके एक या दो–तीन महीने के अन्दर आपातकालीन स्थिति स्वयं ही समाप्त हो जाती है। इसके सम्बन्ध में डॉक्टर अम्बेडकर ने कहा था–

"आपात स्थिति का प्रावधान व्यवहार में नहीं के बराबर होगा।"

परन्तु आज अपने देश में इमरजेंसी को लगे हुए नौ महीने हो गये।

इलेक्शन कमीशन का भी यही हाल है। दो–दो साल तक किसी क्षेत्र में इलेक्शन नहीं करवायेगा। जिला बिजनौर में डेढ़ साल से नहीं हुआ लेकिन जहां चाहेंगे, वहां दो महीने में करवा देंगे। सॉलीसिटर एण्ड एटार्नी जनरल भी इसी तरह है, जो चाहें परामर्श ले लें, चाहे चीनी के कारखानों के राष्ट्रीयकरण की बात हो या और कोई बात हो। वाइस चांसलर से भी यही उम्मीद करते हैं। मुख्यमन्त्री आपके (विधायकों द्वारा) द्वारा बनाये या हटाये नहीं जाते। चीफ मिनिस्टर बनाये या बिगाड़े जाते हैं दिल्ली में।

हमारे माननीय बहुगुणा जी गये दिल्ली में। एक दिन विधान सभा में मुझसे कह रहे थे कि हमने आपका इन्तजाम कर दिया कि आप वहीं (विरोध में) बैठे रहेंगे। कोई हर्ज नहीं। जो पद्धति है, वैसी है, उसमें अगर हम बैठे रहेंगे, तो कोई हर्ज नहीं। अगले दिन मलिक साहब (भारतीय लोकदल के विधायक) ने उत्तर दिया कि "बहुगुणा जी आप नौकर हैं, जिस दिन मालिक चाहेगा, निकाल देगा।" उनके साथ हमदर्दी है। नहीं था प्राइम मिनिस्टर को अधिकार कि दबाव डालकर उनसे इस्तीफा ले लें। नहीं है अधिकार कि पोलिटिकल पार्टी को कठपुतली की तरह चलायें। हरियाणा में बनारसी दास हो गये और यहां नारायण दत्त तिवारी हो गये चीफ मिनिस्टर। तो आप नामजद किये गये हैं. जिस तरह सूबेदार हुआ करते थे। नेशनल हेराल्ड अखबार को हम सभी जानते हैं। कांग्रेस का ही कायम किया हुआ है। कांग्रेस वालों ने जिलों से पैसा इकट्ठा करके उसको बनाया। उसमें (मास्ट के ऊपर) अब तक शीर्षक था "फ्रीडम इज इन पेरिल, डिफेन्ड इट विद ऑल योर माइट" अर्थात "आजादी खतरे में है, इसकी शक्ति भर रक्षा करो" आज यह शीर्षक नहीं रह गया है।

यह कह रहा हूं। आपके लीडर ने इन शब्दों को निकलवा दिया। क्यों निकलवा दिया, आज क्या मौका था इसको निकलवाने का! कारण यह था कि पढे–लिखे लोग यह अर्थ न लगा लें कि "ओइंग टू दिस इमरजेंसी, फ्रीडम इज इन पेरिल, डिफेन्ड इट विद ऑल योर माइट।" (आपात स्थिति के कारण आजादी खतरे में है, इसकी शक्ति भर रक्षा

करो।) जो दिमाग–परिवर्तन की कोशिश की जा रही है, इस शीर्षक को हटवाना उसी का अंग है।

दो दिन तक अगर कोई अखबार श्रीमती जी का फोटो नहीं निकालेगा, तो उसका इलेक्ट्रिक कनेक्शन कट हो जायेगा। 'ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट' मशहूर अखबार है। उसने एक तस्वीर महात्मा जी की निकाली। वह महात्मा जी के नोआखाली की यात्रा की तस्वीर है। वह सेंसर हो गई। सेंसर–बोर्ड ने उसको निकाल दिया, इसलिए कि इट इज लाइकली टू बी मिसइण्टरप्रेटेड (इसका अनुचित अर्थ लिया जा सकता है); अर्थात् अब गांधी जी का अपने देश में कोई स्थान नहीं रह गया है और अपनी लकुटिया लेकर अब विदेश जा रहे हैं।

मैं अब मुख्यमन्त्री जी पर चार्ज लगाता हूं। क्यों चीफ मिनिस्टर संजय गांधी का स्वागत करने जा रहे हैं? संजय गांधी हमारी बहन जी के लड़के हैं। २५–३० वर्ष की उम्र होगी। मैंने फोटो देखा, उससे वह ऐसे लगते हैं। मालूम नहीं कैसे वह एकदम आसमान में पहुंच गए। इतना ऊपर पहुंच गए जैसे कि प्रधानमंत्री के बाद वही दूसरे नेता हों। कितनी खबरें उनके बारे में निकलती हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। क्यों? यह सच्ची डेमोक्रेसी है कि प्रेस पर इतना जबर्दस्त नियंत्रण हो। क्या प्रेस खुश होकर ये खबरें देता है? ऐसा नहीं है, उसे छापना पड़ता है, ऑर्डर उसे दिया जाता है। संजय हो गए यूथ–कांग्रेस के नेता। यूथ–कांग्रेस की मेम्बरशिप का कोई बाकायदा रजिस्टर नहीं होगा। रोज यह व्याख्यान देते फिरते हैं। वरिष्ठ कांग्रेसमैनों को डांटते फिरते हैं। यू० पी० के विधायकों को चण्डीगढ़ में कांग्रेस मीटिंग में बुरी तरह डांटा कि क्यों फिरते हो इधर–उधर, गांवों में जाकर काम करो। गांव के बड़े एक्सपर्ट (विशेषज्ञ) हो गये हैं रातोंरात। सबको उपदेश देते फिरते हैं, भले ही खुद गांव में कभी न गए हों। जो आदमी मिलता है, उससे कहा जाता है कि गांव जाइये––गांव जाइये और वह फटकार भी लगाते हैं कि बातें कम, काम ज़्यादा करो। यू० पी० वालों से कहा कि मिनिस्ट्री बनती रहेगी, गांव में जाकर काम करो। उस वक्त तक नारायणदत्त तिवारी की नियुक्ति नहीं हुई थी, स्वतंत्र भारत में दूसरे पृष्ठ पर खबर छपी। मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी द्वारा संजय गांधी के आगमन पर तथा स्वागत के बारे में यह खबर छपी थी। संजय जी आ रहे हैं और २८ तारीख को फलां–फलां प्रोग्राम होगा। मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी ने यह वक्तव्य दिया, जबकि यह काम चीफ मिनिस्टर का नहीं है। आप किसी से कह देते अथवा किसी कांग्रेसमैन से कहला देते।

लेकिन हमारे यू० पी० का चीफ मिनिस्टर एक नौजवान के लिए, जिसकी कोई कानूनी या सरकारी हैसियत नहीं है, उसका विज्ञापन भोंपू

बजाता फिरे कि वह आ रहा है, तो कहां तक उचित है? क्या मतलब है इसका? २५–३० वर्ष का आदमी बजट पर व्याख्यान दे, जो कि इतनी गुप्त चीज है। जवान और बूढ़े सभी कांग्रेस मैनों को उपदेश दे, बल्कि मैंने यहां तक सुना है कि प्रधानमंत्री जी बड़े–बड़े कांग्रेसियों से, जो उनसे मिलने जाता है, कह देती हैं कि पहले संजय गांधी से बात कर लो। चीफ मिनिस्टरों तक से यह कहा जाता है। आप लोगों को कोई गैरत हो, तो डूब मरना चाहिए। मुझे मालूम हुआ कि मिनिस्टर नारे के ऊपर नारे लगाते रहते हैं। यह भी मैंने सुना है कि यह नारा लगाया जाता है, "आज की नेता इंदिरा गांधी, युवकों का नेता संजय गांधी और कल का नेता राहुल गांधी।" मैंने यह भी सुना है कि गवर्नमेंट की ओर से एक ऑर्डर दिया गया है, वह यह कि २७ तारीख को जब संजय गांधी आ रहे हैं, तो उस दिन हवाई अड्डे से गवर्नमेंट हाउस तक स्कूल के बच्चों और उनकी अध्यापिकाओं की १५ कि० मी० की लाईन उनके स्वागत के लिए बनायी जायेगी और बच्चे खड़े कर दिये जायेंगे। क्यों, आपने ऑर्डर क्यों दिया और अफसरों ने दिया है, तो उनसे पूछिये कि क्यों दिया? क्या सीखेंगे बच्चे संजय साहब से? मैं नहीं कहना चाहता। संजय से तिवारी जी, आप क्या सीखेंगे? मीलों तक बच्चों को खड़ा किया जाए, वे क्या सीखेंगे उनसे? बच्चों को उस व्यक्ति के स्वागत के लिए खड़ा किया जाता है, जिनसे कुछ सीख मिले। ट्रांस्पोर्ट अफसर को हुक्म हुआ कि वह ५–५ हजार आदमियों को लाये। आर० टी० ओ० को ऑर्डर हुआ कि पैसे का इन्तजाम उन्हें करना है। इन्तजाम करके वे देंगे। बहुगुणा जी ने भी यही रिवाज चलाया था, बादशाह अकबर जैसा। आपने भी दिल्ली से आने पर वैसे ही कोशिश की और अब संजय का जुलूस आ रहा है। आर० टी० ओ० पांच–पांच हजार रुपया और आदमी लायेंगे। मैं पूछना चाहता हूं, क्यों सब गवर्नमेंट की तरफ से खर्च होगा?

एक बात और, आप कहते हैं कि मीसा में तस्करों के खिलाफ सख्त कार्यवाही हो रही है, तो यह इंदिरा जी ने कौन–सी नयी बात कर दी, जिसका आप ढोल पीट रहे हैं। यह कानून पहले से बना हुआ था। सन् १९७१ में कौल कमीशन ने तस्करों के बारे में रिपोर्ट दी थी कि बहुत जोरों से यह अपराध बढ़ रहा है, तो उस वक्त क्यों नहीं कार्यवाही की गयी? लेकिन उस वक्त इलेक्शन होने वाले थे, तस्करों से रुपया लेना था, इसलिए कुछ नहीं किया गया और जब देखा कि जनता की नाराजगी बढ़ रही है, तो आपने यह कानून बनाया। यह बीस प्वाइंट प्रोग्राम क्या हो गया है, कोई जैसे नयी गीता लिख दी हो, तो क्या इन सब बातों के लिए इमरजेंसी की ज़रूरत थी? अखबारों में निकलता है कि जब से

इमरजेंसी लागू हुई, तब से रेलों में बिना टिकट यात्रा कम हो गयी है। टिकट लेकर पहले लोग नहीं चलते थे और जब से इमरजेंसी लागू हुई, लेने लगे हैं। तो साहब! जैसे पहले से कुछ सम्वत् चलते आये हैं, वैसे ही आप भी अब २६ जून से इंदिरा सम्वत् चलाइए। बिना टिकट यात्रा के सम्बंध में एक खबर सुनिये–

पी० टी० आई०, २ अगस्त–आपातस्थिति की घोषणा के बाद से पश्चिम रेलवे रतलाम डिवीजन में सात हजार से अधिक व्यक्ति बिना टिकट यात्रा के जुर्म में गिरफ्तार किए गए हैं।

रतलाम डिवीजन में सात हजार व्यक्ति बिना टिकट यात्रा करते हुए पकड़े गये, तो पहले क्यों नहीं पकड़े जाते थे? क्या कोई कानून नहीं था? इसी तरह से टैक्स कलेक्शन (कर–वसूली) के बारे में है, २ अगस्त की खबर है–

केन्द्र के वित्त राज्यमंत्री श्री प्रणव मुखर्जी ने आज कहा कि गत चालीस दिनों में करों की जितनी वसूली हुई है, वह अभूतपूर्व उल्लास का विषय है।

बम्बई टेलीविजन के एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि "आपातस्थिति के दौरान आबकारी की आमदनी और प्रत्यक्ष कर तथा अन्य करों की वसूली में पर्याप्त उन्नति हुई है। इस आपात स्थिति ने हमें पीड़ित करने वाले आलस्य को समाप्त कर दिया है।"

यह है आपका प्रोपेगैण्डा। इससे किसी आफीसर की कुशलता नहीं बढ़ेगी, इससे बिना टिकट यात्रा नहीं रुकेगी। यह तो जैसा आपका चरित्र होगा, वैसा ही काम कर्मचारी करेगा। इस इमरजेंसी से आप कुछ लोगों को जेल भेज देंगे। मानो हमने अर्थात विरोध पक्ष ने, आदेश दिया था कि बिना टिकट वालों को न पकडो. हमने कहा था स्मगलिंग चलने दो, हमने कहा था कि अमुक क्षेत्र में आगे न बढ़ना, हमने कहा था कि लड़कों को लूटने दो, चाकू–छुरे चलाने दो और उन्हें नकल करने दो? लोगों को गुमराह करने के लिए, देखो–कितना फायदा हुआ है, इन कांग्रेस के विरोधियों को बन्द करने से, इसलिए इनको जेल में रहने दो, जेल में इनका रहना ठीक है, यह सब प्रचार हो रहा है।

एक बात और। डी० आई० आर० में कुछ एम० एल० ए० बन्द हैं, उनको विधान परिषद व राज्य सभा के चुनावों में वोट देने का अधिकार होना चाहिए। जो पत्र इलेक्शन कमीशन के यहां से आया है, उसमें केवल 'निरुद्ध' शब्द लिखा हुआ है। मेरी समझ में नहीं आता कि जो लोग डी० आई० आर० में बन्द हैं, उनको राइट आफ वोट क्यों नहीं है?

एक बात और है, जिसको कहकर खत्म करता हूं। पं० नेहरू सन्

१९३६ में यहां आए। सन् १९३६ में कांग्रेस हुई थी, तो उस वक्त उन्होंने जो बात कही थी, वह इस मौके के लिए बहुत उपयुक्त है, क्योंकि पंडित नेहरू इत्तिफाक से हमारी प्रधानमंत्री के पिताजी थे। वह अनेक बार कह चुकी हैं कि "हमारे पिता जी तो साधु थे, राजनीतिज्ञ तो मैं हूँ" और यह भी कहती हैं कि "पॉलिटिक्स नोज नो मॉरेलिटी" (राजनीति में कोई नैतिकता नहीं होती)। अच्छा देखिए, पं० नेहरू ने क्या कहा? उस सिलसिले में उनका व्याख्यान है, ऑल इण्डिया कांग्रेस सेशन में–

> "साथियो ! मनोविज्ञान में दिलचस्पी होने के कारण मैंने नैतिक और बौद्धिक पतन की प्रक्रिया को गौर से देखा है और पहले से अधिक महसूस किया है कि किस प्रकार निरंकुश सता किसी को भ्रष्ट करती है, पतित करती है और असभ्य बनाती है।"

वे आगे कहते हैं–

> "जो सरकार फौजदारी कानून और उसी प्रकार के अन्य कानूनों पर निर्भर करती है, प्रेस तथा साहित्य का दमन करती है, बिना मुकदमा चलाये लोगों को जेल में बन्द रखती है तथा इसी प्रकार की अन्य कार्यवाहियां करती है, जैसी कि आज भारतवर्ष में हो रही हैं, तो ऐसी सरकार को सत्ता में रहने का लेशमात्र भी अधिकार नहीं रह जाता है।"

यह उस समय समाचार–पत्रों में प्रकाशित हुआ था, किन्तु तत्कालीन प्रशासन ने किसी व्यक्ति या समाचार–पत्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की किन्तु आज मेरी बात को प्रकाशित करने की किसी समाचार पत्र की हिम्मत नहीं है। मैंने एक किताब लिखी इसी बीच में, पहले से लिख रहा था। अब मैं उसको प्रकाशित कराने की सोच रहा हूं। परन्तु मुझे मालूम हुआ है कि किताबों पर भी सेंसर है। तो पंडित जी कहते हैं कि जो सरकार प्रेस को दबाती है, जो अनेक संगठनों पर पाबन्दी लगाती है, अर्थात् जैसा यहां हो गया है, जो जेलखाने में आदमियों को बिना मुकदमा चलाये हुए रखती है, इस प्रकार की बहुत–सी बातें, जो इस समय भारत में हो रही हैं, हजारों बातें ऐसी हो रही हैं, जो इनको नहीं मालूम हैं और न किसी को मालूम हैं, ऐसी सरकार को कोई हक नहीं है एक मिनट भी सता में बने रहने का।

यह पंडित जी ने सन् १९३६ में कहा था। आज के हालात में यह ठीक उतरता है। इतना मैं अपने दोस्तों से और कहूंगा कि अपना दिल टटोलें, देश की बात सोचें।

१८
नई सरकार के उद्देश्य

आपातकाल के बाद भारत में जन क्रांति के फलस्वरूप १९७७ में पहली बार गैर कांग्रेसी सरकार—जनता सरकार, बजूद में आई। उन्हीं दिनों चौधरी चरणसिंह ने एक २७ सूत्री मसविदा तैयार किया था, जिसका शीर्षक था—'नई सरकार के उद्देश्य'। चौधरी साहब ने इस मसविदे में स्पष्ट किया था कि नई सरकार—यानी जनता सरकार—देशवासियों के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए कौन से कदम उठायेगी तथा लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को किस तरह बहाल करेगी। उक्त मसविदा यहाँ प्रस्तुत है—

१. नयी सरकार ने ऐसे हालात में सत्ता सम्भाली है कि जब देश राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मोर्चों पर अभूतपूर्व संकट से गुजर रहा है। आम आदमी राजनीतिक व्यवस्था में तेजी से विश्वास खोता जा रहा है, जो १९७५ से भारी दवाब की स्थिति में रही है। सरकार का पहला काम लोकतंत्र के प्रति जनता के खोए विश्वास को पुनः स्थापित करना है, विशेषकर इसकी उस योग्यता में, जिसके जरिये तात्कालिक और ज्वलन्त समस्याओं पर काबू पाया जा सकता है।

२. सरकार को श्रम साध्य प्रयास से लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद को सही अर्थों में स्थापित करते हुए, इस देश की ६५ करोड़ जनता के भाग्य को बदलने के लिए तेजी से प्रयास करना होगा।

३. नागरिकों की स्वतंत्रता और स्वत्वाधिकारों की सुरक्षा तथा न्यायपालिका की आजादी को सुरक्षित करना एवम उसे प्रोत्साहित करने का दायित्व सरकार का होगा।

४. हर चीज से ऊपर उठते हुए सरकार स्वच्छ और ऐसे सक्षम प्रशासन की बहाली सुनिश्चित करेगी, जिस प्रशासन में जन—कार्यों के दायित्व

से जुडे जनसेवक न केवल ईमानदार और निष्पक्ष ही होंगे बल्कि पर्याप्त कुशलता और श्रमपूर्वक अपने कर्तव्य को अंजाम देंगे—एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था, जिसमें विलम्ब, बर्बादी और भ्रष्टाचार को कोई जगह नहीं होगी। अधिकारियों को आत्म विश्वास का ऐसा वातावरण प्रदान किया जायेगा, जिसमें उनके द्वारा लिये गये सदाशयी निर्णयों के लिए, उनका पूर्ण बचाव किया जाएगा (यहां लेखक का आशय राजनीतिक हस्तक्षेप से है)।

५. इसी तरह यह सरकार महसूस करती है कि भ्रष्टाचार ऊपर से शुरू होता है और नीचे की ओर फैलता है। ऐसी स्थिति में सारे समाज को भ्रष्ट करता है। जब तक हमारे देश के जनजीवन में ऊपर के स्तर पर व्यक्तिगत रूप से नैतिकता न हो, तब तक प्रशासन में से भ्रष्टाचार को नहीं मिटाया जा सकता, न सारभूत रूप से कम ही किया जा सकता है। यद्यपि तात्कालिक तौर पर इसका हल खुद जनता के हाथ में है, जिसे अपने नेताओं को चुनने का अधिकार है, इसके बावूजद सरकार इस बुराई को समूल नष्ट करने के लिए सभी कदम उठायेगी, जो सारे समाज को क्षय कर रही है।

६. बड़ी संख्या में देश की जनता में व्याप्त असुरक्षा और अलगाव की भावना को दूर करने के मामले को सरकार उच्च प्राथमिकता देगी। हम सभी धार्मिक अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों और विभिन्न भाषा—भाषी समूहों को इस बात के प्रति आश्वस्त करना चाहते हैं कि हम उनके हितों की सुरक्षा, कल्याण में वृद्धि और राष्ट्र को मजबूत बनाने की, पूर्ण इच्छा—शक्ति से निर्देशित होंगे।

७. सभी पिछड़े वर्गों, कमजोर तबकों, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को पूर्ण सुरक्षा के प्रति आश्वस्त किया जायेगा और विकास हेतु उन्हें अधिकाधिक मदद दी जाएगी, ताकि समाज में वे अपनी सही भूमिका निबाह सकें।

८. सरकार सभी अल्पसंख्यकों को आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक, सभी तरह के, विकास के अधिकाधिक अवसर देने के प्रति आश्वस्त करेगी।

९. मुद्रास्फीति, जो बहुत बड़ी बुराई है, का सामना देश कर रहा है और यह सरकार इस पर तुरन्त नियंत्रण पाने के लिए सभी आवश्यक कदम उठायेगी। जमाखोरों, मुनाफाखोरों, तस्करों और काला बाजारियों, साथ ही टैक्स—चोरों के खिलाफ सख्त कार्यवाही की जाएगी।

१०. यद्यपि भारत प्राकृतिक सम्पदा से सम्पन्न देश है और यहां महान

संस्कृति, रीति–रिवाज, कार्य–कुशल तथा घोर परिश्रमी लोग हैं, इसके बावजूद यहां लगातार बनी रहने वाली सामाजिक और आर्थिक समस्याएं हैं। यह सरकार की प्राथमिकता और कर्तव्य होगा कि वह इस देश के सभी वर्गों की सेवा करे तथा देश को नैतिक व आर्थिक रूप से शक्तिशाली बनाने का हर सम्भव उपाय करे और लोगों के जीवन–स्तर में सुधार करे।

११. व्यापक रूप से फैली गरीबी का उन्मूलन करना होगा और प्रत्येक नागरिक को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को उपलब्ध कराना होगा। यह सरकार एहसास करती है कि मूल्यों और स्वप्नों के लिए, जनता द्वारा अपने बजूद के लिए किए जा रहे, विखंडित संघर्ष से ज़्यादा उपहासास्पद और कुछ नहीं है। आज ५० प्रतिशत से ज़्यादा लोग गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जी रहे हैं, यहां तक कि उन्हें ज़रूरत भर भोजन भी नहीं मिलता। एक भूखे बच्चे की आंखों में निराशा के भावों को देखने से ज़्यादा मर्मभेदी और कुछ नहीं हो सकता। हमारे लिए इससे अधिक और कुछ देशभक्ति पूर्ण उद्देश्य नहीं हो सकता कि हम यह सुनिश्चित करें कि कोई बच्चा भूखा नहीं सोयेगा, किसी परिवार को अगले दिन की रोटी जुटाने के प्रति अनिश्चितता की स्थिति नहीं होगी और किसी भी नागरिक का भविष्य और क्षमताएं कुपोषण से प्रभावित नहीं होंगी।

१२. बेरोज़गारी बढ़ोत्तरी पर है। इससे ज़्यादा चिंताजनक कुछ नहीं होगा कि सुशिक्षित और रोज़गार की चाह रखने वाला नौजवान खुद को बेकारी की स्थिति में पाये। हमें उन सभी के लिए रोज़गार तलाशना होगा। वास्तव में, रोज़गार एक प्रमुख औजार होना चाहिए, जिसके जरिये गरीबी का उन्मूलन करना होगा। इसीलिए, इस सरकार के कार्यक्रमों और नीतियों के तहत 'रोज़गार के विस्तार' को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाएगी।

१३. जनसंख्या नियंत्रण हेतु परिवार नियोजन तथा कल्याण एवं जन स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता दी जाएगी। कार्यक्रम को मजबत बनाने के लिए प्रति एक हजार ग्रामीण जनसंख्या पर एक जन–स्वास्थ्य सेवक को नियुक्त किया जाएगा।

१४. कृषि भारत का मूल उद्योग है। इसके विकास हेतु मानव श्रम, भूमि एवं प्राकृतिक स्रोतों के अधिकाधिक उपयोग के अवसर उपलब्ध कराते हुए, इसे पूर्ण प्रमुखता दी जाएगी। सरकार सुनिश्चित करेगी कि कृषकों को उनकी मेहनत का उचित प्रतिफल मिले। अकेले कृषि वचतें ही (हमारी जनता के सामाजिक और आर्थिक सोच में तीव्रगामी

बदलाव के संयोजन के साथ) गैर–कृषि व्यवसायों और सेवाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त करेंगी, जिसके बिना जनता के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना सम्भव नहीं होगा।

१५. यह सरकार ज़मींदारी के शिकंजे को, देश में यह आज भी जहां कहीं मौजूद है, पूर्ण क्षमता से तोड़ने को सन्नद्ध है। ज़मीन के प्रत्येक जोतदार को, मौजूदा कानूनों के तहत, स्थायी हक दिया जाएगा और राज्य के सीधे सम्पर्क में लाया जाएगा। किसी बिचौलिये या जमींदार को काश्तकार से खुदकाश्त के लिए ज़मीन पर पुनः कब्जा करने की अनुमति नहीं दी जाएगी और न ही किसान को अपनी ज़मीन पट्टे पर देने की अनुमति होगी, जब तक कि वह सशस्त्र सेवाओं का सदस्य न हो, मानसिक विकृति से पीड़ित न हो या कृषि कर्म के लिए शारीरिक रूप से अपंग न हो।

सिद्धांत के तौर पर तथा न्यायिक तौर पर भी, किसी भी देश में ज़मीनों पर कब्जा या वितरण इस सिद्धांत के तहत होना चाहिए कि किसी भी एक व्यक्ति को, उतने रकबे से अधिक ज़मीन न दी जाए, जो हमारी कृषि तकनीक के तहत, एक औसत आदमी या श्रमिक की प्रबंधन क्षमता से ज़्यादा हो और न ही किसी को इतने रकबे से कम ज़मीन दी जाए, जिससे प्राप्त प्रति एकड़ उपज, उस पर लगाये गये श्रम से कम हो। मौजदा भूमि कब्जों पर हदबंदी को उपरोक्त दो सीमाओं के बीच लागू करना, हमारे मानव श्रम और भूमि–स्रोतों के प्रभावी उपयोग की दृष्टि से आवश्यक शर्त है। इस सन्दर्भ में १९७२ से प्रभावी कानून दोषपूर्ण एवं न समाप्त होने वाले विवादों को जन्म देने वाला सिद्ध हुआ है, न ही राज्य सरकारों की मशीनरी इसे लागू करने को बहुत इच्छुक दिखी है।

अतः यह सरकार सम्बन्धित राज्य सरकारों में इसके प्रति जागृति पैदा करने का पूर्ण प्रयास करेगी कि गरीब किसानों को इसका लाभ पहुंच सके, जहां कहीं भूमि जोतों या भूमि हदबंदी से सम्बन्धित कानून दोषयुक्त हैं, उनके दोषों को यथाशीघ्र दूर किया जाये।

१६. बीते वर्षों में आय तथा सम्पत्तिगत बिषमताएं बढ़ी हैं। हमारे शहरों और गांवों के बीच आर्थिक दरार और सांस्कृतिक खाई बढ़ी है। इस खतरनाक रवैये को रोकना होगा। यह सरकार कुछ निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत शहरों के विस्तार को रोकने हेतु प्रारम्भिक कदम उठाएगी।

१७. ग्रामीण जनता को अधिकाधिक सुख–साधन और बेहतर जीवन–सुविधाएं मुहैया कराकर, उसके आत्म–सम्मान को पुनः स्थापित किया जाएगा।

जहां तक सम्भव होगा, ग्रामीण क्षेत्रों में गैर कृषि उद्यमों को स्थापित करने के लिए प्रत्येक प्रयास किया जायेगा। किन्तु प्राथमिक ध्यान कुटीर उद्योगों और हस्तशिल्प को पुनर्जीवित और पोषित करने पर दिया जाएगा, जो कि अकेले ही हमारे गांवों में व्याप्त बेरोज़गारी तथा अर्द्ध–बेरोज़गारी की स्थिति के उन्मूलन का रास्ता तैयार कर सकते हैं। सरकार कृषि मजदूरों को उचित मजदूरी सुनिश्चित करने के लिए सभी आवश्यक कदम उठायेगी।

१८. यह सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक सोद्देश्यात्मक कार्यक्रमों, जैसे–'काम के लिए अनाज' तथा 'रोज़गार गारंटी योजना' के जरिये सामाजिक योगदान को पैदा करने के प्रयास करेगी।

१९. यह सरकार एक ऐसी आत्म–निर्भर औद्योगिक व्यवस्था के निर्माण हेतु प्रयासरत रहेगी, जो कि अधिकाधिक रोज़गार की उपलब्धता को सुनिश्चित करेगी, साथ ही समाज के विभिन्न वर्गों में विकास के फलों के समान और न्याय पूर्ण वितरण की व्यवस्था करेगी।

२०. यह सरकार मौजूदा आर्थिक स्थितियों को संकट से उबारेगी और विकासमान अर्थ–व्यवस्था की ज़रूरतों को पूरा करने की दृष्टि से जन–परिवहन व्यवस्था, विद्युत, कोयला, स्टील, सीमेन्ट आदि की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी।

२१. देश के आर्थिक विकास में श्रमिक वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सरकार देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु श्रमिक वर्ग से सम्वाद स्थापित करेगी।

२२. हमारी नैसर्गिक सोच के मुताबिक यदि देश की अर्थ–व्यवस्था को मजबूत बनाना है, तो उद्योगों और कृषि, दोनों में, छोटी आर्थिक इकाइयों की स्थापना से मुंह नहीं चुराना होगा। यह ऐसी इकाइयां हैं, जो कि ज़मीन की प्रति इकाई और स्थिर पूंजी–निवेश के पीछे अधिकाधिक उत्पादन और रोज़गार पैदा करती हैं और आर्थिक एवं सम्पत्तिगत विषमताओं को दूर कर, लोकतांत्रिक वातावरण का निर्माण करती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सरकार सैद्धांतिक तौर पर बड़े उद्योगों की भूमिका के बारे में कोई अलगाववादी भावना रखती है। जहां कहीं जरूरी है, सार्वजनिक क्षेत्र में प्राथमिक और भारी उद्योगों की स्थापना जारी रहेगी, विशेष मामलों में मौजूदा निजी उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण किया जाएगा, जहां राष्ट्रीय–हित में ऐसा करना जरूरी होगा।

२३. यह सरकार चुनावी कानूनों में भी ऐसे परिवर्तन करेगी, जो राजनैतिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए जरूरी होंगे।

२४. सरकार प्रत्येक बच्चे के लिए प्राथमिक और रचनात्मक शिक्षा सुनिश्चित करने को प्राथमिकता देगी तथा शिक्षा–प्रणाली में ऐसे बदलाव लायेगी, जो हमारे विकासशील समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे।

२५. समृद्ध विरासत के समानुरूप, भारत उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे संघर्षों को समर्थन देगा। भारत, राष्ट्रीय हितों को सामने रखते हुए, गुट–निरपेक्षता की विदेश नीति का अनुसरण जारी रखेगा।

२६. प्रत्येक भाषा को विकास के पूर्ण अवसर दिए जाएंगे। समाज के किसी भी वर्ग पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भाषा थोपी नहीं जाएगी। पूर्ववर्ती प्रधानमंत्रियों द्वारा लोक सभा में दिए गए इस आश्वासन को पूरा मान दिया जाएगा, जिसके मुताबिक अंग्रेजी केन्द्र में सहायक राजभाषा के रूप में जारी रहेगी, जब तक कि गैर–हिन्दी भाषी राज्य ऐसा चाहेंगे।

२७. उन नीतियों और कार्यक्रमों के बारे में, जो देश को विज्ञान और टेक्नोलॉजी–नाभिकीय ऊर्जा सहित–के क्षेत्र में आत्म–निर्भरता के रास्ते पर ले जाएंगे, प्रमुखता के साथ पहलकदमी ली जाएगी। सरकार वैज्ञानिक प्रतिभाओं का, अपनी ऊर्जा को राष्ट्र–निर्माण को समर्पित करने हेतु, आह्वान करती है।

१९
सविनय अवज्ञा की घड़ी

दिल्ली से लगभग ५० किलोमीटर दूर है बागपत का चौपला। १८ जून, १९८० को माया त्यागी, अपने पति ईश्वर त्यागी और उसके दो मित्रों के साथ, अपनी भतीजी की शादी में शामिल होने जा रही थी। बागपत चौपले पर वहां की पुलिस ने जब माया त्यागी से अशिष्टता की, तो उसके पति ने इसका विरोध किया। इस विरोध के नतीजे में पुलिस ने ईश्वर तथा उसके दोनों मित्रों को वहीं गोलियों से भून दिया था और माया के साथ जो कुछ हुआ, वह एक जिन्दा मौत थी।

चौधरी चरणसिंह के आह्वान पर इस नृशंस कांड के विरोध में उनकी पार्टी, लोकदल, ने सारे देश में सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था। गांधीवाद के अनुयायी चौधरी चरणसिंह के अनुसार, "जब 'राज्य' ही अपराध कर्म को संरक्षण देने पर आमादा हो जाये, तो सविनय अवज्ञा का रास्ता ही अख्तियार करना पड़ता है।" और इसी संदर्भ में उन्होंने एक लेख लिखा 'नागरिक अवज्ञा का समय' (टाइम फार सिविल डिसऑबिडिएंस)।

हाल ही में २३ जनवरी, १९८८, को माया त्यागी कांड पर, बुलन्दशहर के अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश विष्णु दत्त दुबे का फैसला, जहां पुलिस के चरित्र और उसे बचाने की सरकारी साजिश का पर्दाफाश कर देता है, वहीं इस बात का मूल्यांकन भी करता है कि चौधरी साहब का यह लेख और उसके प्रकाश में किया गया आन्दोलन कितना सही था।

१८ जून, १९८० को बागपत में हुए जघन्य कांड के चलते, जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन लोकदल ने शुरू किया है, उसके तात्कालिक एवं दूरगामी उद्देश्य हैं। इसलिए मैं सोचता हूं कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन या सत्याग्रह के महत्त्व को थोड़ा और स्पष्ट करने की ज़रूरत है।

बताया जाता है कि इधर हाल के कुछ वर्षों से पुलिस की मिलीभगत

या मौन सहमति के कारण जघन्य अपराध लगातार बढ़े हैं रू विधान सभाओं एवं दूसरे मंचों से इसके खिलाफ जबरदस्त आवाज उठाये जाने के बावजूद सरकारें, चाहे वह राज्यों की हों या केन्द्रीय, इस मुद्दे पर कमोबेश असम्बद्ध रही हैं। ऐसा लगता है कि असैनिक अफसरशाही या राजनीतिक नेतृत्व को इसकी कोई चिन्ता नहीं कि क्या हो रहा है।

ऐसे लोगों, जिनका किसी प्रकार के मूल्यों में न्यूनतम विश्वास है या जिनमें विवेक की मात्रा कम है, को नागरिक या पुलिस सेवाओं में महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठाने की सावधानी से तैयार की गयी जो नीति है, शायद उसी कारण राजकीय तंत्र के सक्रिय समर्थन से किया जाने वाला अपराध अचानक तेजी से बढ़ा है। जहां तक, खासकर बिहार एवं उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है, इसके बारे में कोई शंका नहीं कि वहां सत्तारूढ़ पार्टी एवं नागरिक तथा पुलिस अफसरशाही के बीच एक ऐसा गठजोड़ हो चुका है, जिसके कारण एक लूट—खसोट की व्यवस्था सामने आ चुकी है। लेकिन सम्पूर्ण कारक यही नहीं हैं, बल्कि अगर हम लोग देश की वर्तमान सामाजिक स्थितियों का अति सरलीकरण करेंगे, तो इससे राष्ट्रीय हित को धक्का पहुंचेगा।

२३ जून १९८० के 'इंडियन एक्सप्रेस' में अरुण शौरी का 'क्राइम, क्रिमिनल्स एण्ड स्टेट' शीर्षक से जो लेख छपा है, वह वास्तविकता के बहुत करीब है। अपराध, जैसा वे कहते हैं, एक बड़े उद्योग का रूप ले चुका है और वह पहले की तरह सिर्फ घुड़कियां दिखाने वाला नहीं रहा। राज्य की भूमिका न सिर्फ अपराध में अक्सर सहयोग एवं मौन सहमति देने तक सीमित है, बल्कि यह अपराध की शुरुआत भी करता है। अपराध अब जहीन एवं व्यवहार कुशल बन चुका है। लठैत सारे राजनीतिक दलों के लिए उपलब्ध हैं, अगर वे लठैतों का उपयोग करना चाहते हैं, तो उनको भाड़े पर लेने के लिए आवश्यक स्रोत हैं।

यह सब अचानक नहीं हुआ है। कम से कम पिछले दो दशक से भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अपराध एक निर्णायक कारक बना हुआ है। विधिवत एवं अत्यंत सावधानी के साथ राजनीतिक एवं बौद्धिक वर्ग की अन्तरात्मा को क्षयग्रस्त बनाकर, पिछले दशक में जिस तरह राजनीतिक शैली में मात्रात्मक परिवर्तन लाया गया, उससे इस प्रक्रिया की गति बढ़ी है। लेकिन पिछले तीन दशक या उसके पहले से ही भारत के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकास की जो प्रकृति रही है, उसके अनिवार्य परिणाम के तौर पर यह स्थिति आनी ही थी, जो आज हम भारत में पाते हैं।

गौर करने की बात यह है कि राज्य की प्रवृत्ति की व्याख्या करने वाले

जितने भी शास्त्रीय सिद्धांत हैं, उनमें से किसी में भी 'माफिया राज' की अवश्यंभाविता पर विचार नहीं हुआ है, विकास के उस तरीके का ख्याल करते हुए, जिसका आरम्भ आजादी के बाद भारत में हुआ।

न सिर्फ 'राज्यवाद' या 'परमिट–लाइसेंस–कोटा राज' का जैसा सजीव वर्णन राजाजी ने किया था, बल्कि विकास का महानगरीय झुकाव, सत्ता का केन्द्रीय करण. आडम्बर, भव्य प्रदर्शन, पश्चिम की अंधी नकल, उपभोग का आधनिकी करण, संवर्द्धनशील नौकरशाही और दूसरी ऐसी बहुत–सी नीतियां, जिन्हें विकास के नाम पर बढ़ाया गया, उससे धीरे–धीरे उपभोगकर्ताओं, बिचौलियों, कालाधन के संचालकों, लठैतों वगैरह के एक अकर्मण्य वर्ग का राज्य पर कब्जा हो गया। आज भारत में जो कुछ भी हो रहा है, वह 'माफिया राज' की तरफ तेजी से बढ़ता संकट ही है।

यही, एक तरीके से, बागपत या हाल में बम्बई के निर्दोष नागरिकों पर ढाये गये जुल्म जैसी घटनाओं का महत्त्व है।

आज राज्य अपराध का सबसे बड़ा संरक्षक है। राज्य की नीतियों को सूक्ष्म तरीके से हेरफेर कर, करोड़ों रुपया अपराधी गिरोहों के लिए उपलब्ध कराया जाता है।

हम लोग इस प्रपंच को असहाय होकर देखते नहीं रह सकते। हमें लोगों को एक शांतिपूर्ण संघर्ष में, वैसे ही शामिल करना होगा, जैसे गांधीजी ने विदेशी शासकों के खिलाफ नेतृत्व करते समय किया था। इस मौजूदा स्थिति में हमें क्या करना चाहिए, इसका सूत्र गांधी जी के निम्नलिखित उदाहरण से मिलता हैः "बुराई के साथ असहयोग उतना ही बड़ा कर्तव्य है, जितना ईश्वर के साथ सहयोग...ज़्यादातर लोग प्रतिरोध के परिणामों को भुगतने के बजाए आततायी की इच्छा के सामने आत्म–समर्पण कर देते हैं। इस तरह आतंक ही आततायी के साज–सामान का एक भाग बन जाता है...एक नागरिक प्रतिरोधी निरंकुश सत्ता के लिए खतरनाक होता है, क्योंकि जिन मुद्दों को लेकर वह सत्ता का विरोध करता है, उसी पर लोकमत तैयार कर, अंततः सत्ता को अपदस्थ कराता है। इसीलिए सविनय अवज्ञा एक पवित्र कर्तव्य बन जाता है, जब राज्य कानून–विहीन हो चुका है या दूसरे शब्दों में कहें तो वह भ्रष्ट हो चुका है। ऐसे राज्य से जो नागरिक सौदा करता है, वह राज्य के भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था का सहभागी बन जाता है। पूर्ण सविनय अवज्ञा शांतिपूर्ण क्रांति की स्थिति है...और यह सशस्त्रं क्रांति से ज़्यादा खतरनाक होती है, क्योंकि इसे दबाया नहीं जा सकता, अगर सत्याग्रही चरम कठिनाइयों को भुगतने के लिए तैयार हों...जब अर्जियां दे–देकर कानून बनाने वाले की गलतियों की तरफ ध्यान दिलाने में आप असफल हो चुके हैं, और आप

आत्म–समर्पण करना नहीं चाहते, तो आपके पास एक ही उपाय बच जाता है कि अपनी व्यक्तिगत पीड़ा से उसे पीछे हटने के लिए मजबूर कर दें या नी कानून तोड़कर जुर्माना भरने को तैयार रहें...अहिंसा अपनी प्रकृति के अनुसार सत्ता छीनती नहीं है, न ही उसका यह लक्ष्य हो सकता है लेकिन अहिंसा इससे कहीं ज़्यादा काम कर सकती है––यह सरकारी तंत्र पर कब्जा किये बगैर इस पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित कर, सत्ता का पथ–प्रदर्शन कर सकती है। इसका यही सौन्दर्य है।"

मेरे ख्याल में, भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, भ्रष्ट नौकरशाहों, भ्रष्ट पुलिसकर्मियों एवं भ्रष्ट व्यापारियों, जो सत्ता पर कब्जा करने को आमादा हैं, के गठजोड़ से हुए नैतिक पतन से कुछ पोषित मूल्यों की रक्षा करने का समय आ गया है। यह सत्याग्रह प्रभावकारी हो, इसके लिए ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को इसमें शामिल करना होगा और इसके साथ ही राज्य, अभी जैसा है और जैसा इसके हो जाने का खतरा है, की प्रकृति के बारे में जानकारी का खूब प्रचार होना चाहिए। हम लोग जिस तरह का समाज भारत में बनाना चाहते हैं, गांधी जी के आदर्शों पर आधारित, उसके बारे में पूरी स्पष्टता होनी चाहिए।

बागपत एक बुरा संकेत है आने वाले खतरों का और लोकदल न सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में भी इसका मुकाबला करने को तैयार हैय मूल्यों, प्रवृत्तियों, त्याग एवं लोक–नैतिकता के खजाने को लेकर, जिसे राष्ट्रपिता ने हमें धरोहर के तौर पर सौंप दिया है।

२०

पंजाब समस्या एक निर्भीक चिंतन

पंजाब समस्या का मूल क्या है, उसके लिए कौन लोग जिम्मेदार हैं तथा सरकार की रीतियों–नीतियों के चलते इसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे–इन मुद्दों पर २६ अप्रैल, १९८३ को चौधरी चरणसिंह ने लोक सभा में, काम रोको प्रस्ताव पर बोलते हुए पंजाब समस्या का जो विशद विश्लेषण किया, उसमें उनकी दूरदर्शिता, स्पष्टवादिता एवं साहसिकता ज़ाहिर होती है।

आज जिस प्रस्ताव पर हम चर्चा कर रहे हैं, यह एक ऐतिहासिक मसला कहा जा सकता है। इससे देश के भविष्य का सवाल जुड़ा हुआ है। यह कोई मामूली बात नहीं है। इसका प्रभाव कोई मामूली पड़ने वाला नहीं है। देश के भविष्य के लिए यह बहुत बड़ी बात है।

खालिस्तान की मांग या सिखिस्तान या सिख स्टेट, कुछ भी कहिये, यह काफी समय से चली आ रही है। हिन्दुओं ने हिन्दुस्तान ले लिया, मुसलमानों ने पाकिस्तान ले लिया और हमारी मांग खालिस्तान के लिए है। इन्हीं अल्फाजों में नहीं, तो दूसरे अल्फाजों में, यह आवाज पहले से उठती रही है। सरदार पटेल के सामने मास्टर तारासिंह जी ने करीब–करीब यही बात कही थी। अल्फाजों में फर्क हो सकता है। सरदार पटेल ने उनको बुलाया और उनसे कहा कि यह मुमकिन नहीं है। यह आपके लिए और देश के किसी नागरिक के लिए मुनासिब नहीं है। उन्होंने जो कहा, मास्टर तारासिंह उसको समझ गये। जो कुछ वे कह रहे थे, उसको वे राजसत्ता के बल पर करने के लिए तैयार भी थे। मास्टर साहब जिस प्रबल भाषा में आवाज उठा रहे थे, उसको उन्होंने बंद किया और देश शांति से चलने लगा। देश भर में किसी व्यक्ति के ज़हन में यह बात नहीं रही कि हमारे सिख भाई हम से अलग होने की बात सोच रहे हैं।

उसके बाद बहुत अरसे तक पं० गोविन्द बल्लभ पंत यू० पी० के चीफ मिनिस्टर रहे, वे होम मिनिस्टर थे। १२ जून, १९६० को पंजाबी सूबा या

पंजाबी स्टेट या जो कुछ भी कहा जाये, इस मांग को लेकर हमारे सिख भाइयों ने एक जुलूस निकालना चाहा। वह जुलूस शीशगंज से रकाबगंज गुरुद्वारे तक निकालना चाहते थे। पंडितजी ने कहा कि यह बात गलत होगी, क्योंकि यह मांग भी गलत है। लिहाजा वह जुलूस शीशगंज से निकलकर रकाबगंज गुरुद्वारे तक नहीं आ पाया और जो लोग जुलूस में थे, वे तितर–बितर हो गये। देश में कोई अवांछनीय घटना नहीं हुई और यथा–पूर्व शांति से देश चलता रहा। इसके बाद सबसे पहले १० जून, १९६८ को दिल्ली में सिख होम लैंड की आवाज उठती है। बाकायदा मेरे पास एक प्रेस रिपोर्ट है और जो बात आज तफसील से कही जा रही है, करीब करीब वही मांग थी। इस पर गवर्नमेंट ने कुछ किया या नहीं, यह मुझको नहीं मालूम। लेकिन, बाजाब्ता यह आवाज उठी।

मैं यह अर्ज कर देना चाहता हूं कि इससे पहले सन् १९६६ में पंजाब और हरियाणा के दो टुकड़े हो गये। रोहतक में प्रैक्टिस करने वाले एक प्रमुख वकील थे, उन्होंने मुझको एक चिट्ठी में यह लिखा कि हरियाण ा एक छोटा सूबा रह जायेगा और पंजाब भी छोटा सूबा होगा। लेकिन मुगलों के जमाने से दिल्ली सूबा एक था। मेरठ और आगरा डिवीजन तथा हरियाणा का इलाका, यह सब एक ही सूबा था। अंग्रेजों के जमाने में एक सिविलियन ऑफिसर कॉर्बेट ने यह स्कीम रखी थी।

सन् १९२८ में हिन्दू–मुस्लिम एकता का सवाल उठा। उस समय पं० मोतीलाल नेहरु हमारी कांग्रेस के अध्यक्ष थे। मुस्लिम भाई अल्पमत में थे लेकिन उनको तरजीह दी जाती थी। हमारे सिख भाइयों ने कहा कि पंजाब में हमको प्रमुखता मिलनी चाहिए, जैसे मुस्लिम अल्पसंख्यकों को और सूबों में मिलती है। मुसलमानों का यह जवाब था कि हमारी कुल ५२–५३ प्रतिशत आबादी है, इसलिए हमें पंजाब में प्रमुखता मिलनी चाहिए। दलील दोनों की ठीक थीं। इस मसले को हल करने के लिए ब्रिटिश सिविलियन ने एक योजना रखी थी, जिसमें राउण्ड टेबल कॉन्फ्रेंस पर विचार हुआ। जहां तक मुझे याद है, महात्मा गांधी और जिन्ना साहब ने उसको माना। लेकिन डॉ० गोकुल चन्द नारंग ने, जो हिन्दू महासभा के लीडर थे, स्वीकार नहीं किया। योजना यह थी कि हिन्दी–भाषी क्षेत्र पंजाब में घग्गर नदी तक है। वह कभी पंजाब का अंग नहीं था लेकिन सन् ५७ में शामिल कर दिया गया। वह क्षेत्र, मेरठ और आगरा डिवीजन का क्षेत्र तथा दिल्ली सूबे का क्षेत्र १८०३ में लार्ड लेक की विजय के बाद अंग्रेजों के हाथ में आया। उसे हरियाणा, पंजाब में जोड़ दिया और मेरठ तथा आगरा डिवीजन लखनऊ में शामिल कर दिये गये।

एक साहब ने मुझे चिट्ठी लिखी, उनका नाम मेरे पास मौजूद है।

उन्होंने कहा कि आप यू० पी० से आवाज उठाइये। यू० पी० से आवाज पहले उठ चुकी थी। मैंने उस आवाज में पहले कभी हिस्सा नहीं लिया था कि यू० पी० का पुनर्गठन होना चाहिए। मैंने उसमें सक्रिय हिस्सा नहीं लिया, क्योंकि पंडित जी इस चीज को नहीं चाहते थे। जब जनता पार्टी बनी, तो मेरी राय थी कि बिहार, मध्य प्रदेश और यू० पी० का पुनर्गठन होना चाहिए। हमारे उस वक्त के जो प्रधान मंत्री थे, वह उसके लिए शुरू में राजी नहीं हुए, बाद में राजी हो गये।

विभाजन गलत

मुझसे कहा गया कि उधर से यह आवाज उठाएं कि मेरठ, आगरा डिवीजन हरियाणा के साथ मिलाकर दिल्ली सूबा हो जाये। तो उस वक्त जो चिट्ठी मैंने लिखी, वह सुनाता हूं। मेरी राय यह थी कि पंजाब का बंटवारा होना गलती हुई। यह नहीं होना चाहिए था, क्योंकि इसके नतीजे आगे जाकर गलत निकलने वाले हैं। मैंने उनको लिखा, यह चिट्ठी नवम्बर २४, १९६५ की है–

> "प्रिय चौधरी साहब, आपका १८ नवम्बर का पत्र प्राप्त हुआ। बहुत बहुत धन्यवाद। मेरा स्पष्ट रूप से कहना है कि मैं नहीं समझता कि एक पंजाबी भाषी राज्य का गठन देश के हित में होगा। इसके दूरगामी परिणाम होंगे।"

अब उसके प्रभाव हमारे सामने हैं। यह मैं बता रहा हूं कि १९६६ में बंटवारा हुआ और दो साल बाद खालिस्तान की आवाज उठनी शुरू हो गई। मेरे पास बाकायदा प्रस्ताव की प्रति मौजूद है, १९६८ की। १९७६ में आनन्दपुर साहब में उस प्रस्ताव को फिर दोहराया गया और साफ बात कही गई। जो उसका शुरू में अर्थ लगाया गया, वह कहते हैं हमारा मतलब यह नहीं था कि सिख राज्य अलग बने, सिख देश या खालिस्तान बने। लेकिन जो अल्फाज़ उसमें इस्तेमाल किये हैं, उससे अगर यह अर्थ निकाला जाये कि सिख समुदाय एक सिख राष्ट्र होगा और वह एक अलग देश या हिस्सा चाहते हैं, मुल्क से अलग होना चाहते हैं, तो गलत न होगा, क्योंकि प्रस्ताव के अल्फाज़ यह हैं–

> "शिरोमणि अकाली दल के बुनियादी आधार तत्त्व"
>
> (अ) अभिधारणाः
>
> "शिरोमणि अकाली दल सिख राष्ट्र की आशाओं और आकांक्षाओं को

> मूर्त रूप देने के लिए है और इस प्रकार पूर्ण रूप से इसका प्रति निधित्व करने का अधिकारी है।"

सिख कम्युनिटी नहीं, सिख राष्ट्र, फिर अगले पृष्ठ २० पर वह कहते हैं–

> "राजनीतिक लक्ष्यः
>
> निःसंदेह पंथ का राजनीतिक लक्ष्य सिख इतिहास के पृष्ठों में दसवें गुरु के धर्मादेशों को प्रतिष्ठापित करना और खालसा पंथ का जो मूलभूत लक्ष्य है, वह है खालसा का पुनः उत्कर्ष।"

अब 'प्रीएमीनेंस आफ दि खालसा' का मतलब आम भाषा में यही हुआ कि और लोगों से ज़्यादा अधिकार खालसा पंथ के सदस्यों को होंगे। प्रीएमीनेंस खालसा पंथ की होगी, और लोगों की नहीं। १९७३ में यह प्रस्ताव पास हुआ। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी दरअसल धार्मिक मामलों को तय करने के लिए कायम हुई। ननकाना साहब में जो उस वक्त मैनेजर थे, वह मिसमैनेजमेंट कर रहे थे, जिसके लिए सत्याग्रह हुआ, केवल धार्मिक और सांस्कृतिक मामले में। जहां तक मेरा अन्दाजा है, उनका उद्देश्य सीमित था। धीरे–धीरे उसने राजनीतिक रूप धारण किया और हमारी गलती की वजह से, हमारे नेताओं की गलती की वजह से, आज हम वर्तमान स्थिति में पहुंच गये हैं। अब सब पर यह बात ज़ाहिर हो गई है।

पंजाब के सिलसिले में बात करने के लिए अक्तूबर के आखिरी हफ्ते में इन्दिरा जी ने मुझको बुलाया। मेरी उनकी कोई ४०–४५ मिनट तक बातचीत हुई। मैंने बहुत साफगोई से उनसे बातें की। मैंने इन्दिरा जी से कहा कि (मैं चाहता था कि वह यहां होतीं, लेकिन वह यहां नहीं हैं) जो कुछ हुआ है, यह आपकी गलती के कारण हुआ है। साम्प्रदायिक, जातिगत, भाषाई भेदभाव, यह सब कांग्रेस नेतृत्व, जो कि शुरू से ही शासन में है, की गलत नीतियों के कारण है। उन्होंने एक पैटर्न सेट कर दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि सारे राजनैतिक दलों ने भी वही नीति अपनानी शुरू कर दी, जो आपने अपनायी। सबको वोट की फिक्र थी। वोट मिल जाये किसी सूरत में, किसी भी शर्त पर और हम सत्ता में आ जाएं। पूरी सत्ता में न आ पाएं, तो कुछ में आ जाएं। लेकिन जिस ढंग से हो, वोट मांगे जाएं, जिस तरीके से हो, लोगों से अपील की जाये, चाहे उसके नतीजों के तौर पर देश के टुकड़े क्यों न हो जाएं, मसलन धर्म की बात, साम्प्रदायिकता की बात।

धार्मिक संगठन और राजनीति

पंडित जी कहा करते थे और हम सब लोग कहा करते थे कि साम्प्रदायिकता, जातिवाद और भाषावाद, ये तीनों कारण हैं बिखराव के। लेकिन हमने क्या किया साम्प्रदायिकता के बारे में?

मैंने इन्दिरा जी से यह कहा कि होना यह चाहिए था कि जब देश का बंटवारा हो गया, जिसके लिए न मालूम कितने लोगों ने तकलीफ उठाई, जो हम स्वप्न देखते थे, जो हमारी सांस्कृतिक विरासत थी, जिस पर हमें गर्व था, जिस देश के दो टुकड़े हो गये, तो १६ अगस्त को पण्डित नेहरू को यह अध्यादेश जारी करना चाहिए था कि हर धर्म के लोगों को अपने धर्म के प्रचार के लिए, अपनी संस्कृति को बढ़ाने के लिए, शैक्षिक संस्थान खोलने के लिए छूट होगी, संगठन बनाने का अधिकार होगा लेकिन जिस संगठन की सदस्यता किसी सम्प्रदाय या एक धर्मावलम्बी लोगों तक सीमित होगी, उसे राजनीति में दखल नहीं देने दिया जायेगा। मुस्लिम लीग ने बंटवारा कराया। लेकिन मुस्लिम लीग ही नहीं, चाहे अकाली दल हो, हिन्दू महासभा हो या हिन्दुओं का कोई और संगठन हो या ईसाइयों का हो, एक ही धर्म के मानने वाले लोगों तक जिसकी सदस्यता महदूद होगी, उसे सभी स्वतन्त्रताएं होंगी, सिवाय इसके कि वह राजनीतिक क्षेत्र में काम नहीं कर सके, यह करना चाहिए था, लेकिन नहीं हुआ।

देश आजाद हुआ और पांच महीने बाद एक धर्मान्ध हिन्दू ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। उसके दो महीने बाद ३ मई, १९४८ को अपनी विधायी हैसियत में संविधान सभा ने एक प्रस्ताव पास किया। उसे हैसियत थी संविधान बनाने की और जो संसद के अधिकार होते हैं, विधान बनाने की। उसी पर अगर अमल कर लिया जाता, तो आज देश की दुर्गति न होती।

तीन मई को यह प्रस्ताव पारित किया गया–

> "चूंकि लोकतंत्र को उचित रूप से चलाने और राष्ट्रीय एकता में वृद्धि, भाईचारे के लिए यह अत्यावश्यक है कि साम्प्रदायिकता को भारतीय जन–जीवन से समाप्त कर दिया जाये। संविधान सभा का विचार है कि किसी भी ऐसे साम्प्रदायिक संगठन को, जो कि अपने संविधान द्वारा या अधिकारियों या विभागों द्वारा किये गये कार्यों, निहित सूझ बूझ से, अपने संगठन में किसी भी व्यक्ति को धर्म, प्रजाति तथा जाति या इनमें से किसी भी आधार पर सदस्यता से अलग रखता हो, समाज की धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक मूलभूत

आवश्यकताओं को छोड़कर, किसी भी क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति नहीं है तथा इसको रोकने के लिए वैधानिक और प्रशासनिक कदम उठाये जाने चाहिए।"

संविधान सभा ने यह प्रस्ताव पास किया था। मैंने इन्दिरा जी से कहा कि बहनजी, अगर खुद पण्डित जी ने यह काम नहीं किया, तो आपको ही करना चाहिए। मुझे तारीख तो याद नहीं है, मैंने अखबारों में पढ़ा था, इसी सदन में जब यह पूछा गया कि मुस्लिम लीग, जो दक्षिण में काम कर रही है, उसको क्यों बर्दाश्त किया जा रहा है, तो पण्डित जी ने यह जवाब दिया था कि वह साम्प्रदायिक नहीं है, यह दूसरी ही मुस्लिम लीग है। खैर, मैंने इन्दिरा जी से कहा कि आप १९५९ में कांग्रेस अध्यक्ष बनीं और १९६० में पं० नेहरू प्रधानमन्त्री थे। आप दोनों की रजामंदी से यह हुआ होगा—यह नहीं हो सकता कि आपने विरोध किया हो और वे चाहते हों या आप चाहती हों और उन्होंने विरोध किया हो, फिर भी यह हो गया हो। आपने मुस्लिम लीग से मिलकर केरल में मिली—जुली सरकार बना ली।

१९५९ में रबात में मुस्लिम देशों और मुस्लिम बहुल देशों की कॉन्फ्रेंस हुई। भारत सरकार ने श्री फखरुद्दीन अली अहमद को, जो कि उस वक्त औद्योगिक विकास मंत्री थे, अपना प्रतिनिधि बनाकर वहां भेजा। जो उनकी तैयारी समिति थी, उसने कहा कि आप हकदार नहीं हैं, क्योंकि इण्डिया न तो मुस्लिम राष्ट्र है और न ही मुस्लिम बहुल राष्ट्र है। टर्की ने कहा था कि हम मुस्लिम राष्ट्र जरूर हैं लेकिन हम धर्म निरपेक्ष राष्ट्र हैं। उन्होंने अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा। इंडोनेशिया ने भी अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा और यह कहा कि हम धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करते हैं, इसलिए वहां पर जाना ठीक नहीं समझते हैं। यह तो दो मुस्लिम देशों का रवैया था लेकिन हमारे राजनीतिक नेता का यह रवैया था कि हमारा प्रतिनिधि वहां पर जाकर बैठे। जब पाकिस्तान ने एतराज किया, तो उनको मीटिंग छोड़नी पड़ी और हिन्दुस्तान की नाक एक तरह से सारी दुनिया के सामने कट गई। इसके बारे में उस वक्त बहुत सारे राष्ट्रवादी मुसलमानों ने भी एतराज किया था। मेरे पास उनके नाम मौजूद हैं। छागला साहब ने तो बहुत सख्त बयान दिया था कि वहां पर हमारा नुमाइन्दा क्यों भेजा गया। लेकिन इन्दिरा जी की मर्जी से वह वहां पर गये। इरादा इसके पीछे यह था कि मुस्लिम वोट्स को हासिल किया जाये। मौजूदा प्रधानमंत्री ने ऐसा किया। हमारी तरफ से तो ऐसे कदम उठने चाहिए, जिससे लोग भूल जाएं कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान है।

लीग से गठबंधन क्यों?

१९७० में केरल में कांग्रेस (आई) मुस्लिम लीग के साथ चुनाव लड़ने का फैसला करती है। प्रेस कॉन्फ्रेंस होती है, उसमें लोग ऐतराज करते हैं कि आपकी पार्टी तो धर्मनिरपेक्ष है, आपने मुस्लिम लीग के साथ चुनाव लड़ने का फैसला क्यों किया? कहा जाता है कि हमने उनके साथ चुनाव नहीं लड़ा, लेकिन हमारे और इनके प्रोग्राम एक हैं, इसलिए उनके साथ सरकार बना रहे हैं। इसका क्या मतलब है? हमारे इनके प्रोग्राम एक हैं—यह क्या दलील है?

उसके बाद जनवरी या फरवरी १९७१ में बम्बई कारपोरेशन में कांग्रेस (आई) मुस्लिम लीग के साथ मिलकर चुनाव लड़ती है। केरल के मामले को इनकी नेता यह कहकर फर्क करती हैं कि हमने चुनाव साथ नहीं लड़ा, यह चुनकर आ गये, हमारा इनका दृष्टिकोण एक है, प्रोग्राम एक है, इसलिए मिलकर सरकार बनाने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन पांच—छः महीने के बाद ही वह दलील खत्म हो जाती है और कांग्रेस (आई) मुस्लिम लीग के साथ मिलकर चुनाव लड़ती है। यह इन का रवैया रहा है, जिसकी वजह से हिंदुस्तान में आज जो हो रहा है, यह सब उसी का नतीजा है।

मुस्लिम मजलिस भी एक साम्प्रदायिक पार्टी थी। मेरी पार्टी और कुछ दूसरी पार्टियों ने मिलकर चुनाव लड़ा—यह बात ठीक है। ऐसा नहीं होता, तो ज़्यादा ठीक होता, मैं इस बात को स्वीकार करता हूं। लेकिन नकल हमने आपके (कांग्रेस) लीडर की की। उसमें मेरी पार्टी थी और चार—पांच पार्टियां थीं, सबने मिलकर चुनाव लड़ा। मैं पहले ही इस बात को कह चुका हूं—शासक दल सबसे बड़ी पार्टी है, जिसका नेतृत्व सबसे पुराना है, उसने सबसे पहले ऐसा नमूना पेश किया। दूसरे राजनीतिक दलों ने भी उसी तरीके पर कोशिश की, जो मैं समझता हूं कि गलती की है। लिहाजा इस पर खुश होने का कोई मौका नहीं है। नमूना शासक दल ने स्थापित किया और करीब—करीब सभी विपक्षी दलों ने उस पर अमल किया। इसलिए बजाय इसके कि कांग्रेस (आई) यह स्वीकार करे कि गलती की है, उसके कुछ सांसद कहते हैं कि हमने भी गलती की है। हम जो कह चुके हैं—जो बड़े भाई ने गलती की, वही गलती हमने भी की।

जातिवादः जिम्मेदार कौन?

अब जाति की बात को लीजिये। मैंने पंडित जवाहरलाल नेहरू का नाम

नहीं लिया, लेकिन यह बात सच है कि पंडित जी भी कश्मीरी पंडितों की कॉन्फ्रेंस में जाया करते थे। वे एक बार नहीं, अनेक बार उनकी कॉन्फ्रेंस में सम्मिलित हुए हैं। मैंने अपनी किताब में इसका हवाला दिया है, आप चाहें तो मैं उसको सुना देता हूं। समय कम है, इसलिए नहीं पढूंगा, लेकिन एक बार मैंने इन्दिरा जी के सामने भी कहा था कि ऐसे बहुत से सम्मानित कांग्रेसजन हैं, जिनका मैं बहुत आदर करता हूं, वे इस तरह की कास्ट–कॉन्फ्रेंस में हिस्सा लेते हैं। एक बार पी.सी.सी. की एक्जीक्यूटिव में यह सवाल उठाया कि क्या एक्जीक्यूटिव के सदस्य को कास्ट कॉन्फ्रेंस में जाना चाहिए? कुछ मुखालफत के बाद यह तय हुआ कि नहीं जाना चाहिए। लेकिन मेरे एक बुजुर्ग नेता थे, जिनकी मेरे मन में सबसे ज़्यादा इज्जत थी–मैंने कहा,–'बाबूजी, आप खत्री समाज की कॉन्फ्रेंस में कानपुर गए थे।' मैं टण्डन जी की तरफ इशारा कर रहा हूं। मैं कोई ऐसी बात नहीं कह रहा हूं, जो असंगत हो। मैं कह रहा हूं कि हमारे राजनीतिक नेतृत्व ने शुरू में गलती की है और उसकी ज़्यादा जिम्मेदारी शासक दल की है, जिसमें हमारे करीब–करीब सारे नेता शामिल थे। दूसरे लोगों ने भी नकल की, यह मैं शुरू में ही कह चुका हूं। पंजाब की जो बात है, वहां तो आग लगी हुई है।

अब इन्दिरा जी जोर दे रही हैं, मेरे पास उनकी स्पीचें हैं, रोज उनकी स्पीच हो रही है कि यूनिटी की ज़रूरत है, साम्प्रदायिकता बढ़ रही है, जातिवाद बढ़ रहा है। मैं जानना चाहता हूं कि साम्प्रदायिकता को बढ़ाया है, तो किसने बढ़ाया है? सबसे ज़्यादा इन्होंने बढ़ाया है। जातिवाद भी इन्होंने ही बढ़ाया है। अगर आप कहते हैं कि मैंने बढ़ाया है, तो कोई यह बात बतला नहीं सकता कि मैं कभी जाति कॉन्फ्रेंस में गया हूं। शुरू से ही, जबसे मैंने होश संभाला, मैंने कहा है कि जाति को मैं हिन्दुस्तान के पतन का सबसे बड़ा कारण समझता हूं, जिसकी वजह से देश बर्बाद हुआ है। पंडित नेहरू को यह मालूम होना चाहिए था कि अंदरूनी कमियों की वजह से देश गुलाम हुआ, जिसमें एक बड़ा कारण जातिवाद भी था। मैं कभी जाट सभा में नहीं गया और न किसी तरीके से इस चीज को बढ़ाया है। आप अपने (इंका मंत्रियों के) डिपार्टमेंट में जाकर देखिये, जो मैंने काम किया है। कभी जाति के बारे में किसी को कोई शिकायत नहीं हुई। जाति में मेरा विश्वास नहीं है।

मैं यह कह रहा था कि आजकल इन्दिरा जी बहुत कुछ कह रही हैं कि विभाजक तत्त्व देश में मजबूत हो रहे हैं और यह हो रहा है, वह हो रहा है। बिल्कुल ठीक है, लेकिन मैं अर्ज करना चाहता हूं कि इन विभाजक तत्त्वों को किसने मजबूत किया है? सारे देश में जहां भी कांग्रेस

(आई) की गवर्नमेंट है, चाहे आप कैबिनेट का गठन देख लीजिए, ऑल इण्डिया का देख लें और यू० पी० के अन्दर प्रशासन को देख लें कि किस तरह से वहां पर नियुक्तियां होती हैं, किस तरह से वहां पर प्रोन्नतियां होती हैं। मैं इसकी तफसील में नहीं जाना चाहता। मेरे कहने का मतलब यह है कि साम्प्रदायिकता को कांग्रेसी नेताओं ने बढ़ाया है और जातिवाद को कांग्रेसमैन लाये हैं।

राष्ट्रभाषा की समस्या

जहां तक भाषावाद की बात है, हिन्दी को पूह–पूह करके खत्म कर दिया और कहा 'नो नो, वी आर वन नेशन।' ३१ वर्ष पहले १९५३ में इन्होंने कहा था कि हिन्दी को किसी पर लादा नहीं जायेगा लेकिन हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनना है। माना, हिन्दी को लादना नहीं है और संविधान में लादने की कोई बात भी नहीं है। सिवाय तमिलनाडु के प्रतिनिधियों के सारे देश के प्रतिनिधियों ने इस बात को माना था कि हिन्दी रखनी है। हिन्दी नहीं रखनी है, चलिए हिन्दी न सही। तो जिन दोस्तों ने एतराज किया है, उनको बुलाकर पूछा जाये कि किस भाषा को रखना है। संस्कृत रख लीजिए और कुछ लोगों का जो यह ख्याल है कि यह बहुत कठिन भाषा है, तो ऐसी बात नहीं है। ४–६ महीने में उसे आसानी से सीखा जा सकता है और मेरा कहना तो यह है कि अगर मुल्क को एक राष्ट्र रहना है, तो एक भाषा होनी चाहिए, एक जुबान होनी चाहिए।

अभी आपका एक प्रतिनिधि मंडल चीन गया था। वहां सब अंग्रेजी में बोले। चीन के लोगों ने पूछताछ की कि आपकी कोई भाषा नहीं है। जो लोग वहां गये थे, किसी के पास कोई जवाब नहीं था। इस बात का मजाक हुआ और बराबर मजाक उड़ता रहा है। यह स्थिति नेतृत्व की गलती की वजह से हुई है।

अब सवाल यह है कि आज जो कुछ हो रहा है, इसके पीछे भी राजनीति है। मुझे ऐसे राजनीतिज्ञों के नाम लेने पड़ रहे हैं, जिनका कि मैं नहीं लेना चाहता था। क्योंकि, सदन में जब इस चीज पर गौर हो रहा है, तो मुझे नाम लेना पड़ेगा और उनका नाम लेना पड़ेगा, जो हिन्दुस्तान के राजनीतिक ढांचे के सबसे बड़े पद पर आसीन हैं। १९७७ तक पंजाब में कांग्रेस–हुकमत थी। उसके बाद १९७७ में जब सब जगह दूसरी सरकार आयी, तो पंजाब में श्री प्रकाशसिंह बादल की सरकार आ गयी। उस वक्त यह कोशिश की गई कि अकाली दल के खिलाफ कोई भी शिगूफा खड़ा किया जाये और कोई कार्यवाही करने की बात शुरू की गयी। उसकी

तफसील में मैं नहीं जाऊंगा। मेरे पास लेख है। आप उसे पढ़ करके मुझसे बात कर लेना, अगर आप सचाई जानना चाहते हों तो उसे पढ़ना।

यह 'सण्डे' (मैगजीन) है–२५ अप्रैल से १ मई तक की और यह कलकत्ता से निकलती है। यह आनन्द बाज़ार पत्रिका का पब्लिकेशन है। उसके जो वाक्य हैं, उन्हें मैं पढ़ देता हूं–

> "इस प्रकार दल खालसा, उग्रवादी सिखों का संगठन, जो कि एक अलग खालिस्तान की वकालत कर रहा है और पिछले सितम्बर में जो इण्डियन एयर लाइंस के बोइंग ७३७ का अपहरण कर पाकिस्तान ले जाने के पीछे था, केन्द्रीय गृह मंत्री ज्ञानी जैलसिंह से संरक्षण पाता है।"

यह गवाही उसकी है, जो कि अपहरण करने वाले लोगों का लीडर था। वे लोग गिरफ्तार हो गये। पुलिस के सामने उस (अपराधी) ने स्वीकार किया और कहा कि हमारे १७ बहुत बड़े–बड़े सक्रिय हमदर्द हैं, १७ आफीसर्स हैं जिनमें लीडिंग पब्लिक लाईफ के लोग हैं। वह उनके नाम बताता है। इस लेख में उन लोगों के नाम लिखे हुए हैं जो कि ज्ञानी जैलसिंह के दोस्त हैं, उनके अजीज हैं, उनके नियुक्त किये हुए हैं।

(जिस समय चौधरी साहब इस सन्दर्भ में बोल रहे थे, उस समय संसदीय कार्य, खेल और आवास मन्त्री श्री बूटासिंह ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा कि वह संसदीय नियमों के अनुसार राष्ट्रपति महोदय के नाम का उल्लेख नहीं कर सकते। इस पर चौधरी साहब ने स्पष्ट किया कि वह श्री ज्ञानी जैलसिंह के नाम का उल्लेख भारत के राष्ट्रपति के रूप में नहीं बल्कि तत्कालीन गृहमन्त्री के रूप में कर रहे हैं।

सांसद श्री आर० एल० भाटिया तथा श्री बूटा सिंह ने कहा कि यह कोई सबूत नहीं है तथा यह गृहमन्त्री के खिलाफ साजिश भी हो सकती है। इस पर चौधरी साहब ने कहा कि तत्कालीन गृहमन्त्री को उसी समय इस सन्दर्भ में स्पष्टीकरण देना चाहिए था, इसका खंडन करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।)

खालिस्तान की मांग के पीछे बाहरी हाथ होने की बात भी की जाती है। एक–दो देशों के नाम भी लिये गये हैं। कुछ मुल्क हमारे देश को टुकड़े–टुकड़े देखना चाहते हैं। अगर बदकिस्मती से देश बंटा, तो यह इस देश के नेतृत्व की गलतियों के कारण होगा। वैसे देश बंटेगा नहीं। आज हम देख रहे हैं कि यू.एस.ए. का क्या रवैया है, कनेडियंस का क्या रवैया है। ब्रिटिश हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस लेविंगटन ने जिस तरीके का फैसला दिया है, उससे बाहर के देशों के स्वार्थों का पता लगता है।

भिंडरांवाला: हीरो किसने बनाया?

क्या गुरुद्वारों में प्रार्थना के लिए या किसी धार्मिक स्थान पर, कोई अपराधी या पुलिस जिस पर शक करती हो कि उसने अपराध किया है, ऐसा कोई आदमी, जा सकता है? इस सिलसिले में मैंने इन्दिरा जी को पत्र लिखा है। मैंने उसमें यह भी लिखा है कि संत भिंडरांवाला पर लाला जगतनारायण के कत्ल का आरोप था। आरोप गलत होगा, लेकिन पुलिस ने उनको गिरफ्तार नहीं किया। उल्टे रेडियो पर घोषणा की कि उनका वारंट जारी हुआ है। रेडियो पर यह बात घोषित की जाती है। इसके बाद संत भिंडरांवाला यह कहते हैं कि फलां जगह, फलां वक्त और फलां तारीख को मैं अपने आपको पेश करूंगा। लाख–दो लाख लोग इकट्ठे हए और सरकार चुपचाप देखती रही। उस वक्त भी मैंने इन्दिराजी को लिखा था कि इस तरह से उसका सिर ऊंचा हो जाता है। क्यों हुआ ऐसा? यह किसकी गलती है? यह गलती भारत सरकार की है। उस गलती को बताने का हक हमको होना चाहिए, क्योंकि हम भी इस मुल्क के रहने वाले हैं।

यही नहीं, मुख्यमंत्री दरबारा सिंह पत्र लिखते हैं ज्ञानी जैलसिंह जी को कि दो सौ आदमियों के साथ भिंडरांवाला बिना लायसेंस के हथियारों के साथ दिल्ली आ रहे हैं। वे तीन हफ्ते यहां पर रहते हैं। बिना लायसेंस के हथियारों को बस की छत पर रखकर राउण्ड लेते हैं। मैंने इंदिरा जी को लिखा कि इतने राजनीतिक महत्त्व की बात आपकी इत्तिला में न हो, यह नहीं हो सकता। बाकायदा अखबारों में खबरें छपती हैं, लेकिन कोई गिरफ्तारी नहीं होती। इससे यह नतीजा निकालें कि वह कानून से ऊपर हैं, वह कानून की गिरफ्त से भी बाहर हैं। इससे दूसरे लोगों पर क्या असर पड़ेगा?

आज तक १०० आदमियों का खून हो चुका है। १०१वीं हत्या पुलिस के डी० आई० जी० की हुई। १०२वीं हत्या आज पटियाला में या किसी अन्य जगह पर हुई है। वहां पर इससे जो तनाव हो रहा है, उससे ज़ाहिर है कि वह राजनीतिक हत्या है। एक आदमी पर भी मुकदमा नहीं चल रहा है। मुझे लगता यह है कि सरदार दरबारा सिंह कानून और व्यवस्था लागू करने के मामले में कुछ करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। वे यहां से हुक्म लेते हैं। मैंने इन्दिराजी को लिख दिया है कि आपने संत भिंडरांवाला को हीरो बनाया है। गुरु नानक निवास के क्या मायने हैं? ठीक है, वह मंदिर है। क्या दुनिया के किसी मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर में अपराधी चला जाय, तो उसको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता?

इतना बड़ा पुलिस अफसर मारा गया और पुलिस कहती है कि गोली

यहां से आई है, गोली वहां से आई है। इस मामले की तहकीकात पुलिस नहीं कर सकती। क्यों नहीं कर सकती? मैंने इन्दिरा जी को पत्र लिखा है और उन्होंने २५ मार्च को जवाब दिया है–

> "साम्प्रदायिक तत्त्वों से कड़ाई से निपटने की अपनी इच्छा की सदाशयता को हमें सिद्ध नहीं करना है।"

अपने लिए साम्प्रदायिक तत्त्वों के खिलाफ कुछ भी कह लीजिए लेकिन आपने ठीक तरह से डील नहीं किया है।

> "समाज विरोधी तत्त्वों को गुरुद्वारों में शरण देने के बारे में हमें निश्चित रूप से चिन्ता है। लेकिन गुरुद्वारों में पुलिस भेजने के आपके सुझाव की गम्भीर प्रतिक्रिया होगी।"

अगर आप देश पर शासन नहीं कर सकती हैं, तो आपको इस्तीफा दे देना चाहिए। आप सबसे बड़े अपराधी को गिरफ्तार नहीं कर सकते हैं? क्यों? जो हत्या, जुल्म और डकैती करता है, स्टैन गन लेकर चलता है और मैं तो भिंडरांवाले के बारे में कहूंगा कि १०–२० आदमी उसके साथ चलते हैं। वहां सैकड़ों आदमी मौजूद हैं। पुलिस अन्दर नहीं जा सकती, क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया खराब होगी। यह कोई व्याख्यान देने वाली जगह नहीं है, यह धर्म–स्थान है, जहां गुरु ग्रंथ साहब या पुराण का पाठ किया जा सकता है। कहीं जब यह आभास दिया जायेगा कि अमुक जाति और अमुक किस्म के लोग कानून के ऊपर हैं, तब कैसे काम चलेगा?

एक बात यह है कि यूनिवर्सिटी में कोई आदमी या पुलिस नहीं जा सकती है, जब तक वाइस चांसलर की इजाजत न हो। मैं जब होम मिनिस्टर हुआ तो मैंने सबसे पहले यह आर्डर किया कि 'उत्तर प्रदेश का प्रत्येक इंच भाग पुलिस कार्य क्षेत्र में है। उन्हें वाइस चांसलर की इजाजत की ज़रूरत नहीं है।' तब एक कुत्ता भी नहीं भौंका, क्योंकि उन्हें यह मालूम था कि मैं अपनी बात पर फिर से विचार करने वाला व्यक्ति नहीं था। अब सवाल यह है कि इस मामले से कैसे निपटा जाये? जब तक कानून लागू नहीं किया जायेगा, तब तक यह बात बढ़ती ही रहेगी। लिहाजा कानून को लागू करना चाहिए, तब जाकर काम चलेगा। शिकायतों को शिकायत हल करने के तरीके से ही दूर किया जायेगा।

हिन्दू–सिख एक हैं

मैंने एक बार प्रेस कॉन्फ्रेंस में और इन्दिरा जी से अलग से भी कहा कि

सिख और हिंदू दो नहीं हैं–ये एक हैं। हिंदू का शरीर और रक्त सिख का है और सिख का रक्त और हड्डियां हिन्दू की हैं। गुरु लोगों ने, मेरे इतिहास के ज्ञान के हिसाब से, हिन्दुओं की खातिर कुर्बानी दी। अंग्रेजों के जमाने में जुल्म हो रहे थे, तो उन्होंने नेतृत्व दिया। अब जो सूरत पैदा हो गई है, उसको छोड़ दीजिये। लेकिन मेरे ख्याल में सिखों से ज़्यादा हिन्दू गुरुद्वारे में पूजा करने के लिए जाते थे।

अल्पसंख्यक आयोग हमारे यहां जनता पार्टी के शासन में कायम हो गया था। मैं उस समय वर्किंग कमेटी में मौजूद नहीं था। मैं उसी समय आया, लेकिन कुछ समझ नहीं पाया। मैंने मोरारजी भाई से कहा, वे भी देर से आये थे, मैंने कैबिनेट से तय करा लिया कि अल्पमत आयोग से समस्याएं खड़ी हो जायेंगी। मेरे सामने सवाल उठा था कि सिखों को अल्पसंख्यक माना जाय या नहीं। मैंने कहा कि मैं नहीं मानूंगा। मैं कोई गलत बात नहीं कर रहा हूं। बहुत खुलकर और सीधी बात कह रहा हूं। प्रकाश सिंह बादल और जगदेव सिंह तलवंडी से मेरे कुछ व्यक्तिगत ताल्लुकात भी हैं, क्योंकि प्रकाश सिंह बादल और मैं एक ही जेल में रहे थे। मैंने कहा, यह बताइये कि अल्पमत की परिभाषा क्या है? किसी गुरु ने कहा है कि आप हिन्दू नहीं हैं? गुरु ग्रंथ साहब में कहीं लिखा है? बल्कि आखिरी गुरु गोविन्द सिंह ने देवी की पूजा की, उन्होंने मंत्र लिखे हैं, श्लोक लिखे हैं, गीत गाये हैं, किसी ने कभी कहा कि हिन्दू नहीं हैं? हिन्दू फिर क्यों जाते हैं गुरु ग्रंथ साहब के पाठ में और क्यों मत्था टेकते हैं गुरुद्वारे में?

जहां तक दर्शन का सम्बन्ध है, जो आधार–दर्शन है–आत्मा का रूप बदलना, कर्म का सिद्धांत, उसको मैं मानता हूं। हर मजहब में थोड़ा–थोड़ा फर्क होता है। मैं इत्तफाक से आर्य समाजी हूं। मूर्ति–पूजा में विश्वास नहीं करता हूं, अवतार, जाति–प्रथा और श्राद्ध में विश्वास नहीं करता हूं, तो क्या यह दावा कर सकता हूं कि हम भी अल्पमत हैं? मुसलमानों में भी अलग फिरके हैं। तो इस तरह मैं सिखों को अल्पमत मानने के लिए तैयार नहीं हूं। उनके पास इसका कोई जवाब नहीं था और वह चले गये। उसके बाद उन्होंने कोई लैटर नाराजगी का नहीं भेजा, कोई बयान नहीं दिया, कोई नाखुशी ज़ाहिर नहीं की तथा समय से समझौता कर लिया और अल्पसंख्यक आयोग ने काम करना शुरू कर दिया।

धीरे–धीरे लोगों की महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ाइये, गलत चीजें करके लोगों को गलत रास्ते पर ले जाइये, वोट जरूर मिल जायेंगे, जो वोट का इरादा है कि हिन्दू को डराया जाय और हिन्दू डरा हुआ है, मैं जानता हूं, हिन्दू मेरे पास आये हैं और मुझसे कहा चलने के लिए। मैंने कहा नहीं, यह

ठीक नहीं है, तुम लोग अपने को संगठित करो और गुरुओं का जहां तक ताल्लुक है, गुरुद्वारा या गुरु ग्रन्थ का जहां तक ताल्लुक है, कभी कोई ऐसी बात न कहो, जो किसी को कड़वी लगे या बुरी लगे। और अगर नरम दल, जिसके नेता प्रकाश सिंह बादल हैं, यह हिम्मत करके आगे बढ़ते, तो यह नौबत न आती, जो आज आ रही है। लिहाजा यह मामूली बात नहीं है। अगर खालिस्तान बन जाता है, तो कल को और स्तान बनेगा। नार्थ–ईस्ट इण्डिया के अन्दर, मुझे डर है, २–३ साल के अन्दर क्रिश्चियन राज्य की मांग उठने वाली है। हम लोग धर्म, जाति, भाषा सब में बंट गये हैं और हमारे नेता, जिनमें वास्तव में बड़प्पन था, जो हमारी असली बड़ी लीडरशिप थी, जिसने देश को आजाद कराया था, उसकी गलती रही। जितनी पार्टियां हैं करीब–करीब सबने बही रास्ता अपनाया।

२१

भाषायी राज्यों का गठन

भाषायी आधार पर राज्यों का गठन राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उचित नहीं था, क्योंकि इससे लोगों में एक उप–राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई है। चौधरी चरणसिंह के अनुसार यदि उप–राष्ट्रीयता की भावना एक बार जड़ जमा लेती है, तो देश के टूटने का खतरा बढ़ जाता है।

महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच बेलगांव का मसला चौधरी साहब के उपरोक्त विचारों की पुष्टि करता है।

भाषायी आधार पर राज्यों के गठन और उससे उपजी समस्याओं के सन्दर्भ में लिखे इस लेख में चौधरी साहब का यह भी कहना है कि भाषायी राज्यों के गठन को स्वीकृति देने के साथ ही राष्ट्र भाषा के मसले को लगातार उलझाये रखकर, पं० नेहरू और कांग्रेस सरकार ने, समस्या को और भी दुरूह बना दिया।

हमारे सांस्कृतिक उत्तराधिकार से जुड़ी हुई अनेक गड़बड़ियों में से एक क्षेत्रीयता की समस्या भी है,जो आजादी के बाद बहुधा भाषा से जुड़कर सामने आयी है। राजनैतिक इकाई के तौर पर यह विकास को अवरुद्ध करती है एवं बतौर आर्थिक इकाई उस उत्साह एवं भावना को मोड़ देती है, जिसका उपभोग सकारात्मक कार्यों में हो सकता था। हालांकि पूरी कौम की कुछ सामान्य बुनियादी प्रवृतियां या कमजोरियां हमारी सामूहिक अंतः चेतना में बेशक बरकरार हैं और भारतीयता की अपरिभाषित भावना पूरे देश के लोगों को एक सूत्र में बांधती है लेकिन मिश्रित, उदारवादी प्रजातांत्रिक समाज में सामाजिक सम्बन्ध कमजोर पड़ने लगे हैं और उनके स्रोत सूखने लगे हैं।

राजनीतिक सत्ता पहली बार वास्तविकता बनी है और हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक तत्त्व को तथा हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था को प्रोत्साहित करती है, कभी अकेले–कभी दूसरों के साथ मिलकर, ताकि वे देश की राजनैतिक व्यवस्था में एक प्रभावशाली भागीदारी कर सकें। उत्तर एवं

दक्षिण के बीच वैमनस्य इस तरह के टकरावों में सबसे ज़्यादा स्पष्ट है। इस तरह घृणा एवं विरोध हमें विरासत में मिले हैं लेकिन बिना किसी शक के पिछले साढ़े तीन दशकों में कटुता और ज़्यादा बढ़ी है, न सिर्फ एक सार्वभौम तमिलनाडु की बात उठी है बल्कि एक सार्वभौम खालिस्तान पंजाब की भी। नतीजतन भारत के कई शुभचिंतकों को भी यह आशंका है कि कहीं यह देश विघटन की ओर तो नहीं जा रहा है।

१७ जून १९४८ को भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी स्व० डा० बी० आर० अम्बेदकर ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री एस० के० दर की अध्यक्षता वाली समिति, जिसका गठन संविधान सभा के अध्यक्ष ने किया था, को प्रेषित अपने ज्ञापन में कहा था कि भाषाई राज्यों का अंत कई राष्ट्रों में होगा, क्योंकि कई ऐसे समूह हैं, जिन्हें अपनी जाति, भाषा एवं साहित्य पर इतना ज़्यादा गर्व है कि वे केन्द्रीय विधायिका को एक संघ में बदल देंगे; कि वे शायद आसानी से केन्द्रीय सरकार के लिए प्रशासन चलाना असम्भव कर दें; कि वे केन्द्र एवं राज्यों के बीच आवश्यक प्रशासकीय सम्बंधों के लिए घातक बन जायेंगे; कि भाषाई राज्यों के उच्च न्यायालयों से आये मुकदमों की सुनवाई करने में उच्चतम न्यायालय अपने को अक्षम महसूस करने लगेगा या शायद उसे बंद ही कर देना पड़ेगा; कि वे शायद एक ऐसी स्थिति पैदा कर दें, जिसे कोई देशभक्त भारतीय सोच भी नहीं सकता, क्योंकि उसका निहित अर्थ भारत को तोड़ना होगा एवं उसका अंत दुर्व्यवस्था एवं गड़बड़ी में होगा।

भाषाई राज्यों के खिलाफ जितनी गंभीरता से सवाल डा० अम्बेदकर ने उठाया, उतना किसी और ने नहीं। उसके भयावह नतीजों को आज कोई भी देख जान–सकता है। उसकी आशंका उन्होंने उसी समय व्यक्त कर दी थी, जब भाषाई राज्यों को कायम करने का अपराध हो रहा था।

प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को, जो पहले भाषाई राज्यों के गठन के खिलाफ थे, जब श्री पोट्टी श्रीरामुलु, जो भाषा के आधार पर आन्ध्र को राज्य बनाये जाने के लिए आमरण अनशन कर रहे थे, की मृत्यु का समाचार मिला, तो उन्होंने द्रवित होकर आन्ध्र को अलग राज्य बनाये जाने की घोषणा कर दी। उसके चलते एक सतत प्रक्रिया के बतौर अन्य भाषायी राज्यों का गठन होना, आरम्भ हो गया, जबकि दो उच्च स्तरीय समितियों ने उसका विरोध किया था। नतीजतन भारत अशांत, असंगत भाषाई राज्यों का एक समूह बना और भाषाई अल्पसंख्यकों पर अत्याचार शुरू हो गया। बाद में भाषाई राज्यों को दिये गये अपने समर्थन के लिए श्री नेहरू ने अफसोस ज़ाहिर किया, इसका संकेत श्री एच० बी० आर० आयंगर ने दिया था, जो वर्षों तक श्री नेहरू के प्रधान निजी सचिव रहने

के कारण उनकी भावनाओं को अच्छी तरह समझते थे।

आर० जी० के० ने इलस्ट्रेटेड वीकली के २७ मार्च १९८१ के अंक में लिखा था, "सिर्फ अपने व्यक्तित्व के बल पर ही नेहरू ने एकता का भ्रम पैदा किया था, लेकिन भारत की विशिष्ट समस्यायें ज्यों की त्यों बनी रहीं।" आजादी के शुरू के वर्षों में राष्ट्र के पैबंद में जो धागे लगाये गये, वे अक्षुण्ण रहे लेकिन यह कुछ वैसा नहीं था, जिसका श्रेय तत्कालीन नेता ले सकें, क्योंकि इन वर्षों में पैबंद की जगह एक बेल–बूटेदार कपड़ा लगाने की दिशा में हमें एक कदम बढ़ाना चाहिए था।

श्री जुल्फिकार अली भुट्टो, जो पाकिस्तान के एक बार राष्ट्रपति भी बने, ने अपनी पुस्तक "द मिथ ऑफ इंडिपेन्डेंस" में लिखा कि अपनी राष्ट्रीयता की भावना के बल पर भारत एक नहीं रहा है बल्कि पाकिस्तान एवं साम्यवादी चीन से उठने वाले बाहरी खतरों के कारण; अगर इस खतरे का अंत हो जाये, भारत तत्काल कई टुकड़ों में बिखर जायेगा। कई विख्यात भारतीयों को यह आशंका है कि शायद भुट्टो सही साबित हो सकता है।

एम० वी० कामथ के निम्नलिखित लेख से यह बात और स्पष्ट हो जाती है, जो 'सूर्या' ("जन्म पर आधारित हमारी सामाजिक व्यवस्था" शीर्षक से) जून १९८५ के अंक में प्रकाशित हुआ था, कि भाषायी राज्य देश के नेतृत्व के लिए सबसे बड़ी चुनौती हैं।

देश को कैसे तोड़ा जाये?

"लगता है कुछ पागलपन हम सबके दिमाग में घुस चुका है। समस्या यह है कि इसको लोग महसूस भी नहीं करते। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी प्रांतीय समितियों को बिल्कुल भाषायी आधार पर विभाजित कर, पहली गलती की। उस समय अंग्रेजों के खिलाफ उप–राष्ट्रीयता को एक हथियार के रूप में उभारने का विचार था। उप–राष्ट्रीयता एक ऐसी ताकत है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। भाषा जिस हद तक लोगों को जोड़ती है, उतनी कोई और चीज नहीं। लेकिन भाषावाद एक दोधारी तलवार है। वह एक तरह के लोगों को आपस में जितना ज़्यादा जोड़ सकती है, उतना ही ज़्यादा एक तरह के लोगों को दूसरों से दूर भी रख सकती है; और आज बिल्कुल यही हो रहा है।

एक बार जब प्रांतीय कांग्रेस समितियों का गठन भाषायी आधार पर हो गया, और जब भारत आजाद हुआ, तो भाषायी राज्यों की मांग उठना स्वाभाविक ही था। एक के बाद दूसरे राज्य की मांग होने लगी। लेकिन

पुराने मद्रास राज्य को लेकर कठिनाई की शुरुआत हुई, जो तेलुगू एवं तमिल जिलों को मिलाकर बना था और जिसके साथ एक मलयाली भाषी जिला, मालावार एवं एक कन्नड़ भाषी जिला, दक्षिण कन्नड़ भी जुड़े थे।

दक्षिण कन्नड़ एवं मालावार के लिए कोई जगह नहीं थी। ट्रावनकोर एवं कोचीन, दो तथाकथित देसी रियासतें थीं और जिन्हें शायद अंग्रेज छोड़ नहीं सकते थे। मालावार से दक्षिण कन्नड़ तक का भाग पहले के बम्बई प्रांत का हिस्सा हआ करता था। लेकिन बाद में कन्नड़ को दो भागों में विभाजित किया गया, जिसमें उत्तरी कन्नड़ बम्बई को मिला एवं दक्षिणी भाग मद्रास को। एक तरह से वे अनाथ थे लेकिन वहां का मुख्यमंत्री किसे बनाना चाहिए, जैसे मुद्दे को लेकर मद्रास के तेलुगू एवं तमिल भाषी क्षेत्रों में लगातार तनाव था। दोनों ही भाषायी समूहों के उम्मीदवार थे, लेकिन बहुत हद तक तनाव पर काबू पाया जा सका, क्योंकि दोनों इलाकों के नेताओं के बारी–बारी से मुख्यमंत्री बनने की सम्भावना थी; लेकिन पुलिस कार्रवाई के बाद जब हैदराबाद का विलय हो गया, तो तेलुगूवासियों को लगा कि उनका अपना अलग एक राज्य होना चाहिए। यह सर्वनाश हम लोगों का ही किया हुआ है।

वरिष्ठ कांग्रेसी नेता अप्रसन्न थे। राजगोपालाचारी को लिखे एक पत्र में जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, "उन्हें पूरा विश्वास है कि तेलुगू–भाषी क्षेत्रों को मिलाकर एक अलग राज्य बनाना एक अच्छी बात नहीं होगी।" उन्होंने आगे लिखा, "उनका राज्य कई मायनों में एक पिछड़ा राज्य होगा एवं वित्तीय संकट में घिरा होगा। वे केन्द्र से ज़्यादा मदद की अपेक्षा नहीं कर सकते..."

लेकिन तेलुगू भाषी लोगों का उत्साह जाग्रत हो चुका था और पोट्टी श्रीरामुलु, की मृत्यु के बाद यह करीब–करीब तय हो गया कि एक अलग भाषायी राज्य की मांग को नेहरू एवं पटेल को स्वीकार कर लेना चाहिए और एक बार जब आन्ध्र प्रदेश के गठन की मांग को स्वीकृति मिल गयी, तो फिर महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक एवं केरल के गठन को कौन रोक सकता था?

अब ये सारे राज्य एक दूसरे के खिलाफ बाधायें खड़ी कर रहे हैं। सुचारु प्रशासन के नाम पर यह जोर दिया जाता है कि सारे सरकारी परिपत्रों, दस्तावेजों को राज्य की भाषा में ही लिखा जाना चाहिए। इरादा यह है कि दूसरे राज्यों के आई० ए० एस० अधिकारियों से छुटकारा मिले, जिन्हें प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय सम्पर्क सूत्र के हित में रखा गया है। साधारण स्थिति में प्रत्येक राज्य में दूसरे राज्यों के पदस्थापित आई० ए० एस० अधिकारियों से उम्मीद की जाती है कि वे उस राज्य की भाषा

को जानते हों; अगर एक बंगाली आई० ए० एस० अधिकारी को गुजरात भेजा जाता है, तो उससे गुजराती भाषा समझने, या एक तमिल आई० ए० एस० अधिकारी को पंजाब भेजा जाता है तो उससे उम्मीद की जाती है कि वह पंजाबी अच्छी तरह बोलता समझता होगा, जबकि व्यवहार में सभी आई० ए० एस. अधिकारी उस राज्य की, जहां उन्हें भेजा जाता है, भाषा को धाराप्रवाह व्यक्त नहीं कर सकते। उस समय अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से काम चल जाता है।

आज अगर वे सम्बन्धित राज्य की भाषा को अच्छी तरह जानते हैं, तो भी उन्हें 'बाहरी' समझा जाता है। जल्दी ही नयी दिल्ली पर यह दबाव डाला जायेगा कि प्रत्येक राज्य की इच्छा है कि आई० ए० एस० अधिकारियों की पोस्टिग में भी 'माटी के पूत' वाला फार्मूला लागू हो। इससे अंततः दूसरी संवर्गी सेवाओं का भी अखिल भारतीय स्वरूप नष्ट हो जायेगा। तब देश का विखंडन पूरा हो जायेगा।

यह कोई दिवास्वप्न नहीं है। बम्बई के अखबार इधर हाल में यह छापने लगे हैं कि बहुत से आई० ए० एस० (पुरुष एवं महिला) अधिकारी बाहर के हैं और उस पर आश्चर्य व्यक्त किया जाता है कि वे महाराष्ट्र में क्या कर रहे हैं। आश्चर्य व्यक्त करने के बाद दूसरे ही कदम में यह मांग उठेगी कि उन्हें वहां से हटाया जाये; नयी दिल्ली को यह मालूम होना ही चाहिए कि वहां बिल्कुल वही घटित होने जा रहा है, ताकि बाद में उसे यह कहने का मौका न मिले कि इस आशय की चेतावनी उसे नहीं दी गयी थी।

बम्बई में एक दुष्प्रयास जारी है, ताकि देश के इस अन्तर्राष्ट्रीय नगर को एक महाराष्ट्रीय शहर में, सिर्फ इस आधार पर बदल दिया जाये कि यह महाराष्ट्र की राजधानी है। "महाराष्ट्र का कुछ भाग पहले ही तमिलनाडु एवं कर्नाटक में जा चुका है," इसी सन्दर्भ को आगे रखकर यह दबाव डाला जा रहा है कि सभी सरकारी पत्राचार मराठी भाषा में होने चाहिए। बम्बई दूरदर्शन को पूरी तरह मराठी दूरदर्शन में बदलने की भी मांग है। नगरपालिका के काम–काज को भी मराठी भाषा में कराने की योजनाएं हैं। इस तथ्य को भूलते हुए कि बम्बई में मराठी भाषी लोगों की आबादी ३२ प्रतिशत से ज़्यादा नहीं है। शिव सेना के नेतागण ध्वनि–संकेतों को भी मराठी में लिखने की मांग करते हैं।

बम्बई हमारे विवेक को संभालकर रखने की निर्णायक परीक्षा है। बम्बई महाराष्ट्र की राजधानी हो, इस आशय के संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दबाव के आगे नेहरू को जब समर्पण करना पड़ा था, तब हमें बहुत कुछ खोना पड़ा। नेहरू को शुरू में यह आशा थी कि उत्तर जर्मनी के

हानसियाटिक शहर की तरह बम्बई को भी नगर राज्य की तरह बरकरार रखा जा सकेगा लेकिन उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। तब तर्क यह था कि बम्बई बहुसंख्यक गुजरातियों से भरा (राजधानी) नगर नहीं हो सकता और अब बहस इस मुद्दे पर है कि बम्बई को महाराष्ट्र राज्य से बाहर करने की जरा–सी भी कोशिश का मतलब है एक हिंसक आन्दोलन को न्योता देना। इस आन्दोलन के समर्थक महाराष्ट्र के सभी भागों के हैं। जब जोश जाग्रत हो जाता है, तब विवेक का लोप हो जाता हैं।

आज ऐसा राष्ट्रीय नेतृत्व नहीं रहा, जो यह कहने की हिम्मत जुटा सके कि भाषायी राज्य राष्ट्रीय एकता की राह में बहुत बड़ी बाधा बन चुके हैं। लोगों की उप–राष्ट्रीयता की पहचान की प्रवृत्ति को उलटने के लिए शायद अब बहुत देरी हो चुकी है। लेकिन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जब एक बार उप–राष्ट्रीयता टिकाऊ हो जाती है तो देश का टूटना अवश्यम्भावी हो जायेगा। बम्बई से 'बाहरी लोगों' को निकालने की बातें होती हैं। दिनों एवं वर्षों को विच्छेदित अंकों की तरह उल्लेखित किया जाता है। आसाम की तरह एक आन्दोलन की धमकी दी जाती है। धीरे–धीरे एक से दूसरे राज्य के बीच वे व्यवधान खड़ा करेंगे, जिससे लोगों के विचार एवं व्यापार की स्वतंत्र गतिविधियां असम्भव हो जायेंगी। यह सब 'माटी के पूत' एवं उनके अपने हितों के नाम पर होगा। त्रासदी यह है कि "दिल्ली को जैसे यह मालूम ही नहीं कि इसकी नाक के नीचे क्या हो रहा है या वह इस शरारत में घनिष्ठ सहयोगी है?"

अगर संस्कृत को देश की सरकारी राष्ट्रीय भाषा के तौर पर अपनाया गया होता, तो जिस समस्या का आज हम सामना कर रहे हैं, शायद वह उठती ही नहीं। शायद ऐसा नहीं होता, अगर राष्ट्रीय नेतृत्व ने खुद ही समझौता कर भाषायी राज्यों का गठन न किया होता, यानी इस आशय के आन्दोलन हुए बिना इस तरह राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी को सरकारी भाषा के तौर पर अपनाने का एक मनोवैज्ञानिक माहौल भी बनता। लेकिन नेतृत्व ने पहले भाषायी राज्यों की मांग का प्रतिरोध किया और फिर समर्पण कर दिया। इतना ही नहीं, प्रधानमंत्री नेहरू ने, जो स्वयं ही हिन्दी अपनाये जाने के घोर विरोधी थे, हिन्दी को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी उन मौलाना अबुल कलाम आजाद को सौंप दी, जो हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाये जाने के उतने ही प्रबल विरोधी थे; उनको केन्द्र में शिक्षा मंत्री नियुक्त कर दिया गया। एक तरह हिन्दी के विरोधियों के गठजोड़ से यह स्पष्ट हो गया कि केन्द्र सरकार इस सिलसिले में दिये गये संवैधानिक निर्देशों को लागू करने के मामले में गंभीर नहीं थी। नतीजतन, जिन्होंने १९४९ में

हिन्दी को समर्थन या वोट दिया था, वे ही एक दशक बाद इसके विरोधी बन गये। इसके अलावा, संविधान ने केन्द्र में हिन्दी को सरकारी भाषा बनाये जाने की घोषणा कर दी थी, शिक्षा का, राज्यों की विषय सूची में होने के कारण, इस आशय का कोई कानून बनाकर लागू करना प्रकटतः मुश्किल हो गया।

बहरहाल, अब फटे दूध को लेकर जार–जार रोने से कोई फायदा नहीं। १९६७ में संसद ने सरकारी भाषा परिवर्तन विधेयक पास किया, जो भाषा की समस्या पर एक समझौता था। इस कानून ने सरकारी काम–काज के लिए सम्पर्क भाषा के तौर पर अंग्रेजी एवं हिन्दी, दोनों को, स्कूलों के लिए एक त्रिभाषी सूत्र एवं संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के लिए एक क्षेत्रीय भाषा की नीति को मान्यता दी। इसका असर; उन लोगों पर आघात जैसा था, जो एक समान राष्ट्रीय भाषा के लक्ष्य को प्राप्त करने में शक्ति से लगे हुए थे।

लेकिन अगर हम लोगों की एक राष्ट्रीय भाषा नहीं हो सकती थी, तो कम से कम हम लोगों की एक सामान्य लिपि तो हो सकती थी। इलाहाबाद में १९१० में सम्पन्न हुए सामान्य लिपि सम्मेलन में न्यायमूर्ति वी० कृष्णास्वामी ने बहुत ही सारगर्भित तरीके से इस मुद्दे को उठाया था– "उस जबरदस्त नुकसान पर विचार कीजिए, जो हम अलग–अलग लिपियों के चलते झेल रहे हैं तथा जो एक भाग के लोगों को दूसरे भाग के लोगों से विभाजित करती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि एक भाषा की निधि को दूसरे के हवाले कर दिया जाए और अगर एक सामान्य लिपि का माध्यम हो, तो क्या यह और आसान नहीं होगा? मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक लिपि का एक समुदाय के धर्म से कोई सम्बंध नहीं होता।"

एक सामान्य लिपि के लिए गांधी जी का जो तर्क था, वह 'अपने लोगों पर से फालतू बोझों को हटा लेने' की उनकी अगाध इच्छा पर आधारित था। १९३९ में उन्होंने दलील पेश की थीः "अपनी भावी पीढ़ी को अनेक लिपियों को सीखने की कठिनाई के बोझ से हमें लादना नहीं चाहिए। एक सामान्य लिपि राज्य की भाषाओं को सिर्फ समृद्ध कर सकती है, जैसा कि योरोप में हआ है।"

सभी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति हुई है ब्राह्मी से एवं देवनागरी इसकी सबसे ज़्यादा प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी है। ध्वन्यात्मक वर्तनी के हिसाब से यह करीब करीब श्रेष्ठ है। प्रत्येक ध्वनि के लिए एक अलग प्रतिनिधि अक्षर है। सर मोनिएर विलियम्स, १९वीं शताब्दी के प्रख्यात भारतविद्, ने इसको 'विश्व की सबसे संतुलित एवं श्रेष्ठ वर्णमाला' बताया था, एवं

तिलक तथा गांधी इसके प्रबल समर्थक थे। थोड़े–बहुत परिवर्तनों के साथ इसे सभी भारतीय भाषाओं के लायक बनाया जा सकता है। अगर राष्ट्रीय स्तर पर इससे एक सरकारी भाषा नहीं भी बनती, तो भी सभी भाषाओं के बीच एक एक्यबद्ध माध्यम की स्थापना हो गई होती।

राज्य पुनर्गठन आयोग ने १९५५ में जो सुझाव दिया था, उसे लागू कर राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में हम आगे बढ़े होते। इस आयोग ने सुझाव दिया था कि इंजीनियरिंग, वन सेवा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाओं का पुनर्गठन अखिल भारतीय स्तर पर होना चाहिए और अखिल भारतीय सेवाओं में प्रवेश करने वालों का ५० प्रतिशत तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या का एक तिहाई सम्बंधित राज्य के बाहर से होना चाहिए। इसके अलावा उतना ही–आयोग की राय में एक सामान्य भाषा, एकीकरण की सबसे बड़ी शक्ति है, यह सर्वत्र साबित हो चुका है–संघ के सभी सरकारी काम–काज के लिए अंग्रेजी के स्थान पर धीरे–धीरे हिन्दी को बढ़ाना चाहिए, जैसा कि संविधान में भी दिया हुआ है। जबकि गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के उम्मीदवारों को हिन्दी की एक विशेष परीक्षा पास करने को कहा जा सकता है, उसी तरह हिन्दी भाषी क्षेत्रों के उम्मीदवारों को हिन्दी के अलावा अन्य कोई भाषा, कोई दक्षिण भारतीय भाषा श्रेयस्कर होगी, की परीक्षा पास करने को कहा जा सकता है। यह इसलिए आवश्यक है कि अखिल भारतीय सेवाओं में भाग लेने वाले विभिन्न क्षेत्रों के प्रतियोगियों को बराबरी पर रखा जा सके एवं उनमें से किसी को भी असुविधा या भेदभाव बरते जाने जैसा न लगे। इसको और ज़्यादा सुरक्षित करने के लिए आयोग ने यहां तक कहा कि एक सीमित अवधि तक प्रत्येक राज्य से होने वाले चयन का प्रतिशत, राज्यवार जनसंख्या के हिसाब से तय किया जा सकता है।

हम लोगों को आशावान होना चाहिए कि अपनी कई असमानताओं के बावजूद भारत, जो यूरोप की तरह ही विशाल है, एक प्रधानमंत्री, एक न्यायिक प्रणाली एवं एक सामूहिक बाज़ार के साथ अब तक अपनी एकता को सुरक्षित रखने में सफल हुआ है; एवं थोड़े से राज–कौशल से भविष्य में भी इसे बरकरार रखने में समर्थ होगा। रोमन काल से ही यूरोप की पीढ़ियां, जो स्वप्न लगातार देखती आयी हैं, वह है एक राजनैतिक सत्ता के तहत एक संयुक्त यूरोप की स्थापना, वह भारत में पहले से ही एक सच्चाई है।

खण्ड चार

उपसंहार

२२
मेरी प्रतिबद्धता

यों तो चौधरी चरणसिंह ने राष्ट्र से सम्बद्ध प्रत्येक समस्या पर विशद विचार व्यक्त किये हैं किन्तु किसान ट्रस्ट की पत्रिका 'रियल इंडिया' के ८ दिसम्बर १९७९ के अंक में, 'ह्वाट आई स्टैंड फॉर' शीर्षक से प्रकाशित इस लेख में, उन्होंने समग्र रूप से इन समस्याओं के संदर्भ में अपने विचार रखे हैं। इस लेख को उपसंहार खण्ड में देने का निहितार्थ यही है कि आर्थिक नीति, ग्राम विकास, भूमि सुधार, जाति, मजदूर वर्ग, अल्पसंख्यक, शहरी समस्या, भाषा तथा अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर, संक्षेप में, चौधरी साहब की प्रतिबद्धता क्या थी, यह इस एक ही लेख से स्पष्ट हो जाता है।

मेरे एवं मेरे सामाजिक–आर्थिक विचारों के बारे में कुछ धारणाएं अमूमन लोगों ने बना रखी हैं। वे धारणाएं सम्भवतः सही स्थिति को प्रदर्शित नहीं करतीं। इसलिए जनता के बीच इन धारणाओं की व्याख्या जिस हद तक मैं कर सकता हूं, करना मेरा कर्तव्य है।

शुरू में, हालांकि, मैं यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि मेरे सारे विचारों को लोग पूर्णतः स्वीकार करें, इसके लिए मैं जोर नहीं दे सकता और न ही देता हूं। उदाहरण के लिए, मेरा विश्वास छोटे राज्यों में है। उत्तर प्रदेश एवं बिहार जैसे राज्य, मेरे विचार से, इतने बड़े हैं कि लोगों की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के अनुकूल इन राज्यों का प्रशासन हो ही नहीं सकता। कुछ और राज्यों की भी यही हालत है। मेरा यह ख्याल है कि कुछ छोटे राज्यों में जैसी शानदार प्रगति हुई है, उससे यह सूत्र मिल सकता है कि राज्यों का पुनर्गठन कैसे हो सकता है। इसके अलावा समानुपाती जनसंख्या वाले कई राज्य राज्यसभा में बराबर की संख्या से प्रतिनिधि भेज सकेंगे। संसदीय प्रक्रिया में भी तेजी आएगी। लेकिन फिर भी ये व्यक्तिगत विचार हैं, जिन्हें दूसरों पर मैं थोप नहीं सकता। मुझे यह भी ध्यान रखना है कि बहुदलीय भारतीय राजनीति में कुछ लचीलापन आवश्यक है।

सामाजिक आर्थिक मसलों पर जो मेरे विचार हैं, उन्हें राष्ट्रीय स्वीकृति मिले, इसके लिए मेरे जैसा एक साधारण तौर पर सक्रिय राजनीतिज्ञ कैसे जोर दे सकता हैं।

इस भूमिका के साथ मैं अपने कुछ विचारों की व्याख्या करना चाहता हूंः

आर्थिक नीति

मुझे महात्मा के एक उद्धरण से आरम्भ करने देंः जवाहरलाल नेहरू को ५ अक्टूबर १९४५ में लिखे एक पत्र में गांधी ने कहा, "मुझे विश्वास है कि अगर भारत को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करनी है एवं भारत के जरिए विश्व को भी, तो आज नहीं तो कल इस तथ्य को मानना होगा कि लोगों को गांवों में रहना पड़ेगा, शहरों में नहीं। करोड़ों लोग शहरों एवं महलों में एक–दूसरे के साथ शांति से कभी नहीं रह सकेंगे।

गांधीजी ने हालांकि यह मान लिया था कि विश्व में जिस तरह का विकास हो रहा है, उस लिहाज से इस आदर्श को अपनाने में कठिनाइयां होंगी। अतः नेहरू को सम्बोधित उसी पत्र में वे आगे लिखते हैं, "तुमको यह बिलकुल नहीं सोचना चाहिए कि मैं उसी ग्रामीण जीवन की बात कर रहा हूं, जैसा वह अभी है। आखिरकार प्रत्येक आदमी अपने सपनों की दुनिया में रहता है। मेरे आदर्श गांव में बुद्धिमान मनुष्यों का वास होगा। वे जानवरों की तरह गंदगी एवं अंधकार में नहीं रहेंगे। मर्द एवं औरत स्वतंत्र होंगे, दुनिया में किसी के भी खिलाफ अपने आपको बरकरार करने में सक्षम होंगे, कोई निठल्ला नहीं होगा, किसी को भी भोग–विलास में रहने की इजाजत नहीं होगी, प्रत्येक आदमी को अपने हिस्से का शारीरिक श्रम करना पड़ेगा। रेलवे, डाक एवं तार कार्यालय वगैरह के बारे में भी अनुमान लगाना सम्भव है। मेरे विचार से मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति ज़्यादा जरूरी है। बाकी चीजें बाद में उपलब्ध हो जाएंगी। अगर मैं मौलिक ज़रूरतों को ही भूल जाऊं, तो बाकी चीजें धरी की धरी रह जाएंगी।"

महात्मा जी के उस पत्र से पंडितजी के साथ बाकायदा पत्राचार की शुरुआत हुई। इस दौरान वे अपने विचारों की चर्चा करने के लिए मिले भी। इस बहस का समापन करते हुए गांधीजी ने १३ नवम्बर १९४५ को नेहरू को लिखा, "कल की बातचीत से मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि हमारे दृष्टिकोण में ज़्यादा अन्तर नहीं है। इसको साबित करने के लिए, जो कुछ भी मैंने समझा है, एक सूची में नीचे दे रहा हूं। अगर उसमें कोई भूल हो गयी हो, तो सुधार देनाः

१. तुम्हारे अनुसार मूल प्रश्न यह है कि मनुष्यों का उच्च स्तरीय बौद्धिक,

आर्थिक, राजनैतिक एवं नैतिक विकास कैसे हो? मैं इससे पूरी तरह सहमत हूं। (२) इसके लिए सबको समान अधिकार एवं अवसर मिलना चाहिए। (३) दूसरे शब्दों में, शहरियों एवं ग्रामीणों के खाने–पीने, कपड़े एवं रहन–सहन की अन्य स्थितियां एक समान होनी चाहिए। इस समानता को प्राप्त करने के लिए लोगों को अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यक सभी वस्तुओं जैसे –वस्त्र, खाने–पीने की चीजें, घर एवं प्रकाश तथा पानी के उत्पादन की व्यवस्था स्वयं करनी होगी। (४) मनुष्य का जन्म अकेले में रहने के लिए नहीं हुआ है बल्कि वह अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है, स्वतंत्र एवं परस्पर निर्भर। किसी को भी दूसरे पर बोझ नहीं बनना चाहिए, न बन सकता है। अगर ऐसी जिंदगी को सम्भव बनाने के लिए हम प्रयत्न करें, तो हम इस नतीजे पर पहुंचने के लिए मजबूर होंगे कि समाज की इकाई एक गांव होगा, या इसे लोगों का एक छोटा–सा प्रबंध कर सकने लायक समूह कह सकते हो, जो आदर्श स्थिति में आत्म–निर्भर होंगे, (अपनी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं के सिलसिले में) एक इकाई की तरह एवं सामूहिक सहयोग एवं आत्मनिर्भरता की भावना के साथ बंधे होंगे।"

जहां तक मैं जानता हूं, पंडित जी ने उस बहस का गांधीजी द्वारा किया गया समापन स्वीकार किया।

यहीं पर शायद मेरे सामाजिक एवं आर्थिक विचारों का सूत्र छिपा है। गांधीजी आदर्श को सामने रखते हुए भी मोटे–मोटे अनुमान के लिए तैयार थे। गांधीजी के लेखन में ऐसे तथ्यों का अम्बार है, इस भ्रम को तोड़ने के लिए कि वे औद्योगीकरण के खिलाफ थे। उन्होंने कहा था, "मैं उद्योग के खिलाफ नहीं बल्कि उद्योगवाद का विरोधी हूं।" उनका एक दूसरा उद्धरण यहां प्रस्तुत हैः "एक साधारण बुद्धिमान आदमी की तरह मैं जानता हूं कि मनुष्य उद्योग के बिना रह नहीं सकता, इसलिए औद्योगीकरण के खिलाफ मैं नहीं हो सकता। लेकिन मशीन उद्योग की प्रस्तुति के प्रति मैं ज़्यादा चितित हूं। मशीन बहुत तेजी से उत्पादन करती है और अपने साथ एक ऐसी अर्थ–व्यवस्था लाती है, जो मैं समझ नहीं सकता। मैं किसी ऐसी चीज को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसके बुरे प्रभावों को मैं देखता हूं और जो इसकी सारी अच्छाइयों पर भारी पड़ते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के लाखों दुर्बल लोग स्वस्थ एवं खुशहाल बनें एवं उनका आत्मिक विकास हो। इस काम के लिए अभी तक हमें मशीन की ज़रूरत नहीं। यहां असंख्य बेकार हाथ पड़े हुए हैं। लेकिन अगर हमारी समझ बढ़ती है, अगर हम मशीनों की आवश्यकता महसूस करते हैं, हमें निश्चय ही मशीनों को अपनाना पड़ेगा। हम उद्योग चाहते हैं, लेकिन हम पहले उद्यमी हो जाएं। हम लोग ज़्यादा स्वावलम्बी बनें, तब दूसरों के नेतृत्व के

पीछे चलने की मजबूरी नहीं होगी। हम मशीनों को प्रस्तुत करेंगे, जहां और जब, इसकी ज़रूरत होगी। एक बार जब हम लोगों ने अहिंसा पर जीवन को ढाल लिया है, हम लोग यह भी जान लेंगे कि मशीन को कैसे नियंत्रित किया जाए।"

उन्होंने यह भी कहा, "मैं मशीनों का नहीं, मशीनों के पीछे पागल हो जाने की सनक का विरोध करता हूं। यह वह सनक है, जिसे वे मशीन से श्रम की बचत कहते हैं। आदमी श्रम को बचाता चला जाता है, जब तक हजारों लोगों को कोई काम नहीं मिलता और उनको भूख से मरने के लिए गलियों में फेंक दिया जाता है। मैं समय और श्रम को बचाना चाहता हूं लेकिन मानवता के एक नगण्य हिस्से के लिए नहीं, बल्कि सबके लिए। मैं धन को एकत्रित देखना चाहता हूं, लेकिन कुछ लोगों के पास ही नहीं, सबके पास। आज मशीन की मदद से कुछ लोग लाखों लोगों को 'गुलाम' बनाना चाहते हैं। इसके पीछे दूसरों का श्रम निस्वार्थ बचाने की प्रेरणा नहीं है बल्कि सिर्फ लालच है। मशीन के इसी अमानवीय उपयोग के खिलाफ मैं अपनी पूरी ताकत से संघर्ष कर रहा हूं।"

गांधी जी के आर्थिक दर्शन का सूत्र निम्नलिखित उद्धरण से भी मिल सकता हैः

> "जैसा कि भारत के एक विख्यात पुत्र बताते हैं—वे और कोई नहीं, सर एम० विश्वेस्वरैया ही हैं—चाहे अंग्रेज के पास ३० गुलाम हों—या ३६ भी हो सकते हैं, मैं भूल—सुधार की गुंजाइश के साथ कहता हूं—एक अमेरिकी ३३ गुलामों का मालिक होता है। व्यक्तिगत तौर पर मैं सोचता हूं कि सही अर्थशास्त्र में गुलामों को रखने के लिए, चाहे वे मनुष्य हों, जानवर या मशीन, कोई जगह नहीं है, जिसे धर्म के साथ बदला जा सके। अर्थशास्त्र में गुलामी के लिए कोई स्थान नहीं है।"

गांधीजी मानते थे कि अगर हम अर्थ—व्यवस्था का प्रबंध इस तरह कर सकें कि उत्पादन एवं वितरण साथ—साथ एवं बराबर हो, तो शोषण एवं शक्ति के केन्द्रीकरण की निम्नतम सम्भावना रहेगी। गांधीजी ने औद्योगीकरण के मूल्य एवं अनिवार्यता को समझा एवं उसका विरोध नहीं किया। वह विकास का एक ऐसा रास्ता अपनाना चाहते थे, जिससे आदमी एक ऐसी प्रक्रिया का शिकार न हो जाए, जिसका अंत शोषण, निरकुंशता एवं गुलामी में हो।

मैंने उपदेश देने से थोड़ा ही कुछ ज़्यादा किया है, जिसे गांधीजी ने एक व्यावहारिक एवं औचित्यपूर्ण आर्थिक नीति के तौर पर प्रस्तुत किया था। पंडितजी का गांधीजी से विरोध था लेकिन इसके प्रमाण हैं कि वे

अपने जीवन के अंतिम दिनों में गांधीजी के विचारों के करीब पहुंच रहे थे।

इस संसार में कोई भी, उद्योग को, यहां तक कि बड़े उद्योगों को भी खत्म करना नहीं चाहेगा। मैंने कुछ लोगों को यह कहते सुना है कि अगर "छोटा ही खूबसूरत होता है, तो बड़ा दरियादिल।" यह हो सकता है, लेकिन विशालता का अर्थ आर्थिक सत्ता के एकत्रीकरण, बड़े पैमाने पर बेकारी एवं गरीबी नहीं होना चाहिए। बड़े पैमाने पर उत्पादन की भी एक सीमा है, अगर क्रय–शक्ति न हो एवं परिणामतः उत्पादित जिन्सों के लिए बाज़ार ही उपलब्ध न हो।

यही कारण है कि मैं लघु उद्योगों की वकालत करता हूं, यहां तक कि घरेलू (कुटीर) उद्योगों की भी, जो हितकारी होते हैं। इसके और भी कारण हैं, जिसकी चर्चा मैं आगे करूंगा।

लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि जिस दुनिया में आज हम रह रहे हैं, उसमें प्रतिरक्षा की मजबूती, कृषि कार्य को सहायता देने, स्वावलम्बन एवं दूसरे बहुत सारे कार्यों के लिए हमें न सिर्फ उद्योगों को बरकरार रखना है बल्कि उद्योगों को तेजी से फैलाना भी है। भारी उद्योगों की जिस अंतः संरचना को पंडित जी ने बुद्धिमत्ता से खड़ा किया था, वह आपत्ति काल में भी हमारे लिए सहायक सिद्ध हुआ है। वस्तुतः इसी अंतः संरचना की उपलब्धता के कारण ही आज हम छोटे उद्योगों की स्थापना के बारे में सोच भी सकते हैं।

हालांकि मैं यह मानता हूं कि व्यापारिक–औद्योगिक समुदाय की आर्थिक सत्ता पर नियंत्रण होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब व्यापार एवं निजी बैंक समेत उद्योगों के कुछ हिस्सों पर राज्य का सीधा नियंत्रण हो। हम उसकी इजाजत नहीं दे सकते कि एक छोटा–सा समूह लोगों की फटेहाली की कीमत पर दिनोंदिन मोटा होता जाए एवं सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं पर भी उसकी गहरी पकड़ हो जाए। इन सार्वजनिक उद्योगों को ज़्यादा मुनाफा देने वाला जैसा बनाना होगा। कीमत दर की नीति भी ऐसी होनी चाहिए कि बड़े पैमाने पर रोज़गार उपलब्ध कराने के लिए आवश्यक पूंजी इकट्ठी हो सके।

पंडित जी की नीतियांः मेरा मूल्यांकन

पंडितजी जैसे महामानव से मतभेद की बात कहना, मेरे जैसे साधारण आदमी के लिए गुस्ताखी होगी। हमारी आजादी के पहले पंडितजी लोगों के लोकप्रिय नेता हुआ करते थे एवं हम सभी उनके विनम्र स्वयंसेवक।

अपनी मृत्यु तक वे हिन्दुस्तान के निर्विरोध नेता रहे, जैसा डॉ० लोहिया ने भी एक बार उनको कहा था।

वे हमारे गणतांत्रिक संविधान के शिल्पी हैं। उन्होंने एक ऐसी विदेश नीति की योजना बनायी एवं इतनी कुशलता से उसे लागू किया कि पूरे विश्व में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी। उन्होंने पंचवर्षीय योजना की आधारशिला रखी और जबर्दस्त तकनीक एवं औद्योगिक विकास के रास्ते पर इस देश को आगे बढ़ाया। हमारी आजादी के निर्माण काल में उनके नेतृत्व की भूमिका को भारत की जनता हमेशा कृतज्ञता पूर्वक याद रखेगी।

इतिहास हालांकि एक निर्मम अभियोजक होता है। इतिहास की बारीक छानबीन एवं तीव्र आलोचना से किसी भी देश का कोई महान आदमी आज तक बच नहीं पाया है। नेहरू जैसा महान पुरुष भी इस ऐतिहासिक विश्लेषण से कैसे बच सकता है?

योजना सम्बंधी उनके लेखों का हमेशा लाभ नहीं मिला। उनकी औद्योगिक नीति ने एकाधिकारवाद को जन्म दिया, उनकी चुनाव प्रक्रिया ने धन–शक्ति को बढ़ावा दिया, उनके संविधान ने अक्खड़ तरीके से राज्य सरकारों को बर्खास्त करने एवं विधान–सभाओं को भंग करने की स्वीकृति दी, एवं उनकी आर्थिक नीति से निर्भरता बढ़ी एवं हमारी आंतरिक नीति पर विदेशी प्रभुत्व बढ़ा, साथ ही साथ बेकारी एवं आर्थिक असमानता की खाई और बढ़ी।

ऐसे विश्लेषण से हालांकि उनकी महानता, उनकी दृष्टि की तेजस्विता एवं जोरदार प्रयासों में कोई कमी नहीं आती। एक नेता को सिर्फ चापलूस जैसे अनुगामी की ज़रूरत नहीं होती एवं नेहरू को किसी खुशामदी की आवश्यकता नहीं। वे प्रशंसकों एवं निन्दकों, दोनों से, कहीं ज़्यादा महान हैं।

उनके जीवन काल में ही मैंने निर्भयता से उनकी कुछ नीतियों–जैसे सामूहिक खेती का विरोध किया था और उस हवाले पर उत्तर प्रदेश में अपना मंत्री पद त्याग दिया। मैं तब भी कहता था और आज भी, कि यद्यपि उन्होंने हिन्दुस्तान की तेजी से आर्थिक विकास की योजना बनायी, लेकिन वे देश की अक्षय निधियों का इस्तेमाल करने में असफल हो गये और जिस तरह के विकास की नीति उन्होंने तैयार की और लागू की, उसके नतीजों को वे पूरी तरह परख नहीं सके।

अनेक पंचवर्षीय योजनाओं एवं हजारों–करोड़ों रुपये निवेशित करने के बावजूद आज भयानक बेकारी एवं गरीबी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पहले की आर्थिक नीतियों में कुछ खामियां रह गयी थीं, जिनको दूर करने की ज़रूरत हैं।

ग्राम विकास की मेरी नीति

जैसा कि मैं अक्सर कहता हूं कि देहातों की तरह शहर में भी गरीबी है लेकिन कठोर सत्य यह है कि गरीबों की बेहिसाब आबादी गांवों में रहती है। इस गरीबी को हम कैसे दूर करेंगे?

संयोगवश, नयी कृषिक तकनीक ने खेतिहर उपज को जबर्दस्त रूप से बढ़ाने का हमें मौका दिया है। कल्पनाशील सिंचाई योजनाओं से हमें मौसम की सनक पर काबू पाने में मदद मिलेगी। अन्य निवेशों को भी आसानी से खरीदे जाने लायक मूल्य पर उपलब्ध कराना होगा। बिना किसानों को प्रोत्साहन दिये खाद्यानों का उत्पादन जैसे का तैसा बना रहेगा, जैसा कुछ वर्ष पहले सही निवेश एवं मूल्य दर की नीति के अभाव में हुआ था। हम लोग फिर से उस काल में लौटना बर्दाश्त नहीं कर सकते, जब बड़े पैमाने पर लगातार खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता था। हमारी अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि–प्रधान है।

नयी तकनीक ने छोटी जोत के फार्मों को भी लाभकारी बनाना सम्भव कर दिया है। अतः तीव्र खेतिहर विकास बड़ी संख्या में लोगों को लाभदायक रोज़गार दिला सकता है एवं खाद्यान्नों, दालों, चीनी, खाद्य तेलों की कमी होने से रोक सकता है।

खेती के केन्द्र में है किसान, इसलिए उसके साथ आदर एवं कृतज्ञता से पेश आना होगा। उसको अपने श्रम का लाभदायक प्रतिफल मिलेगा, यह आश्वासन जरूर मिलना चाहिए।

आज समस्या यह है कि खेती पर बहुत ज़्यादा लोग निर्भर हैं और उनके जीवन–निर्वाह के लायक साधन जुटाना असम्भव है। बड़े पैमाने पर खेतिहर उत्पादन के युग को खत्म करना होगा। इस तरह की खेती सामंत–गुलाम सम्बंधों को जन्म देती है। भूमिहीन मजदूर बंधुआ–गुलाम की जिंदगी जीते हैं। उनको मुक्त कराना है। बड़ी जोत वाले फार्मों को तोड़ने के बाद भी भूमि पर काफी दबाव रहेगा।

इसलिए लाभदायक रोज़गार के अन्य उपायों का पता लगाना होगा और इन उपायों को गावों में ही खोजना होगा। इसके पहले कि शहरों की तरफ पलायन हो एवं परिणामतः शहरी विकास की विस्फोटक स्थिति पैदा हो, जिससे भीड़–भाड़, झुग्गी–झोंपड़ी एवं प्रदूषण जैसी समस्याएं जुड़ी हुई हैं, देहाती उद्योगों एवं सामाजिक अंतः संरचना वगैरह से ही लाभदायक रोज़गार का अवसर निकालना पड़ेगा। इससे न सिर्फ देहातों एवं शहरों के बीच की आर्थिक एवं सांस्कृतिक खाई पटेगी बल्कि सामाजिक धनतंत्र का भी खात्मा होगा।

अंत में देहात के बेकारों, भूमिहीनों एवं अन्य प्रकार के गरीबों को भी संगठित करना होगा। उनको संगठित करना हालांकि मुश्किल है। इस आशय की कुछ अतिवादी कोशिशें अपने आप में असफल साबित हुई हैं। आज भूमिहीन या कृषक मजदूरों की संख्या पूरी आबादी की एक चौथाई है, एक हेक्टेयर से कम जोत वाले किसानों की भी उतनी ही संख्या है।

देहात के गरीबों को संगठित करने का एक ही तरीका है, वह है उनको स्थानीय सामाजिक एवं आर्थिक उद्योगों में रोज़गार मुहैया कराना एवं न सिर्फ गांव के धनिकों बल्कि शहरी लॉबी से भी उनकी सामूहिक मोल—भाव की शक्ति को विकसित करना।

भूमि—सुधार

बहुत से लोग मुझे कुलकों का नेता कहते हैं। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि मैं धनी किसानों का प्रतिनिधित्व करता हूं। मेरी पूरी जिंदगी, लेखनी एवं उत्तर प्रदेश में मंत्री के बतौर कार्य, इस झूठे दोषारोपण की गवाही है। उत्तर प्रदेश ही एक मात्र ऐसा राज्य है, जिसने मेरे जिहाद के कारण जमींदारों का दुबारा ज़मीन पर कब्जा नहीं होने दिया। मैं आमूल भूमि सुधार एवं होल्डिंग को सीमाबद्ध करने के पक्ष में हूं, जिसका सिद्धांत यह है कि ज़मीन का बंटवारा इस तरह से हो कि उसका प्रबंध एक परिवार, बिना मजदूरों को बहाल किये या बुआई या कटाई के लिए कम से कम मजदूरों को बहाल किये, कर सके।

मैं सामूहिक खेती का विरोधी हूं, जो भूमि—औद्योगिक समूहों पर खेती करने से अनेक कारणों से अलग है। भारतीय किसानों का अपनी ज़मीन से बहुत लगाव होता है। इसलिए किसानों का भयानक तरीके से अंत करके ही उनको ज़मीन के प्रति सीधे लगाव से वंचित किया जा सकता है। इसके अलावा यह खेतिहर विकास को नौकरशाही के रास्ते पर ले जायेगा। भारत की श्रम—शक्ति निधि भी ऐसी सामूहिक खेती की इजाजत नहीं देती।

जाति का सवाल

मैं जिंदगी भर इस बात को कहता रहा हूं कि जातिगत तिरस्कार गरीबों की, खासकर गांवों में, आर्थिक दुर्दशा को और बढ़ाता है। हरिजनों को महात्मा गांधी ने ईश—पुत्रों की संज्ञा दी थी। सिर्फ भावुक तरीके से जातिगत अत्याचार की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। जाति—व्यवस्था के अवरोध तथा भू एवं औद्योगिक सामंतों को पूरी तरह खत्म करने के

साथ ही साथ राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक बहुल अर्थ–व्यवस्था के विकास का एक स्थायी हल खोजना होगा। पेरियार ई० वी० रामास्वामी जैसे सामाजिक क्रांतिकारी की ज़रूरत शायद देश के प्रत्येक हिस्से में होगी।

दशकों से हरिजनों पर अत्याचार हो रहा है। राजनीतिक पार्टियां अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए इस दारुण परिस्थिति का शोषण करती हैं। सिर्फ नाटकीय अंदाज में प्रभावित क्षेत्रों की यात्रा से इसका अंत नहीं किया जा सकता।

संगठित मजदूर वर्ग

मेरा पहले भी यह विचार रहा है और आज भी वही है कि संगठित क्षेत्र की सुविधाएं बढ़ाते जाना अन्याय है, जब कि बहुसंख्यक आबादी अधनंगी, अंशतः नंगी एवं बेघरबार है। विकास के बढ़ने के साथ–साथ अलगाव का बढ़ना हमारे समय का विरोधाभास है।

निजी एवं सार्वजनिक खर्चों में तड़क–भड़क एवं फिजूलखर्ची के खिलाफ कड़ी कार्रवाई शायद इसका एक इलाज हो सकती है। उच्च–पदस्थ स्थानों पर किफायत बरतने के लिए कठोर तरीके से दबाव डालना होगा। इसके बाद ही हम मजदूर वर्ग को कह सकते हैं कि वह गरीबी एवं बेकारी को दूर करने के प्रयासों में साथ दे। इसके अलावा आमदनी, धन एवं बचत की सीमा भी तय करनी होगी। हम मजदूरों को त्याग करने के लिए नहीं कह सकते अगर हम ज़्यादा धनी लोगों को अपनी तड़क–भड़क की जिंदगी छोड़ देने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। शहरी प्रशासकीय अंतः संरचनाओं के बड़े अंश को भी तोड़ना होगा, ताकि दुर्लभ साधनों का उपयोग सिर्फ कुर्सी तोड़ने वाली नौकरियों के लिए नहीं– उपजाऊ रोज़गार के लिए हो सके।

इससे भी ज़्यादा स्थायी हल है रचनात्मक गतिविधियों का फैलाव, जो अनुविहित विधियों को सीमाबद्ध करेगा। यह सब मिलकर शैक्षणिक एवं प्रशासकीय व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला देंगे।

शहरी समस्या

अनियंत्रित विकास के नतीजों में से एक है नौकरी की तलाश में लोगों का गांवों से शहर की ओर पलायन। बहुतों को नौकरी नहीं मिलती, जिससे वे झुग्गियों में दयनीय जिन्दगी बसर करने को मजबूर हो जाते हैं। एक कल्पनाशील आवासीय योजना के अलावा बड़े पैमाने पर रोज़गार देने

की योजना से ही इस दुखद स्थिति का अन्त हो सकता है। इस बीच शहर में रहने वाले गरीबों की जनगणना करानी होगी एवं विशाल पुनर्वास योजनाएं तैयार करनी पड़ेंगी।

आवास, आवागमन, यातायात के साधनों, कानून एवं व्यवस्था जैसी शहरी समस्याओं का तत्काल निदान हो, इसकी युद्ध–स्तर पर कोशिश होनी चाहिए। पुलिस प्रणाली को सुचारु बनाना होगा। रोज़गार–स्थल के करीब दफ्तरों एवं आवासीय योजनाओं को स्थापित करने पर विचार करना होगा। पब्लिक स्कूल व्यवस्था की जगह पर तेजी से विस्तृत होने वाली स्कूली सुविधाओं को मुहैया कराना होगा, जिसमें आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा का प्रावधान हो। शायद एक नये शहरी पुलिस बल का भी गठन करना पड़ेगा, जो बच्चों, बूढ़ों, महिलाओं एवं अन्य को सड़क पार करने, बसों में चढ़ने–उतरने में मदद दे। शहरी समस्या का एक मानवीय निदान आवश्यक है।

अल्पसंख्यक

हमारी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ बहुसंख्यक समुदाय के अधिकारों की अवहेलना नहीं है और न किसी एक समुदाय की लल्लो–चप्पो करना। लेकिन यह मानना होगा कि अल्पसंख्यकों में, चाहे वे किसी भी देश में हों, हमेशा असुरक्षा की भावना रहेगी, जिसे दूर करने का कर्तव्य राज्य एवं बहुसंख्यक समुदाय का है। एक आर्यसमाजी की तरह मैं हिन्दू समाज में क्रांतिकारी सुधार के पक्ष में हूं एवं दहेज, जाति–प्रभुत्व एवं महिलाओं के खिलाफ जुल्म का अन्त चाहता हूं लेकिन विवाह, तलाक एवं उत्तराधिकार से सम्बन्धित अल्पसंख्यकों के पर्सनल लॉ की रक्षा करनी पड़ेगी, क्योंकि उनमें जो सुधार हो सकता है, वह उन समुदायों के लोगों द्वारा किये गये आन्दोलनों के नतीजे के तौर पर ही हो सकता है न कि राज्य द्वारा थोपे जाने से। वैसे दण्ड विधान एक ही होगा, जो देश के सारे निवासियों पर समान रूप से लागू होगा। सभी धर्मों के सभी आराधना–स्थलों की सुरक्षा की जिम्मेवारी राज्य की होगी एवं धार्मिक विश्वास की पूर्ण स्वतंत्रता तथा उसके अनुसार आचरण की भी गारंटी होनी चाहिए।

सिर्फ भय एवं आशंका ही अल्पसंख्यक समुदायों में किसी भी प्रकार की आक्रामकता को जन्म देती है। इस असुरक्षा की भावना को मिटाना ही इसका निदान है। लोगों के नागरिक अधिकारों की रक्षा करना जिन अधिकारियों का कर्तव्य है, उनकी इस सिलसिले में विशेष जिम्मेवारी है।

संघवाद भारत का अर्द्ध–संघवादी चरित्र संविधान निर्माण के दौर

में उमड़ी राष्ट्रीयता का ही प्रतिबिम्ब है। गांधीजी, जिन्होंने इस लहर को उठाया, ने यह भी जान लिया था कि विभिन्न सांस्कृतिक एवं भाषाई समूहों की आकांक्षाओं का गला नहीं घोंटा जा सकता। भारत की एकता एवं मजबूती को तभी बचाकर रखा जा सकता है, जब लोगों को एक बड़े परिवार के सदस्यों की तरह साथ–साथ सोचने एवं व्यवहार करने जैसा बनाया जाये एवं उनमें प्रशासन को सहयोग देने की भावना हो। और यह तभी सम्भव है, जब सत्ता का विकेन्द्रीकरण नीचे तक किया गया हो। यह समय है एक नये संघवाद की रचना के बारे में सोचने का। हालांकि सुरक्षा, लोगों के प्रजातांत्रिक अधिकारों की रक्षा, आर्थिक स्थायित्व, एवं पेशेवर श्रेष्ठता के स्तर को बरकरार रखने के लिए केन्द्र को निश्चय ही मजबूत करना होगा।

भाषा

देश के प्रधानमंत्री के तौर पर जो आश्वासन मैंने अपने पहले प्रसारण में दिया था, उसके महत्त्व को लोगों ने ठीक से समझा नहीं है। वह सिर्फ एक नकारात्मक रवैया नहीं था कि कोई भी भाषा थोपी नहीं जायेगी। वह एक सकारात्मक ऐलान था कि एक स्वीकृत सम्पर्क भाषा को विकसित करना होगा। इस संवेदनशील मुद्दे पर विचार करने के लिए हमें सभी राजनीतिक दलों एवं मुख्यमंत्रियों का एक सम्मेलन आयोजित करना पड़ेगा। इस बीच हमें यह देखना होगा कि कोई भाषा स्वदेशी या विदेशी, किसी भी हिस्से के लोगों पर थोपी न जाये।

राजनीतिक दल, नागरिक अधिकार एवं पुलिस–सुधार

मैं मुक्त समाज, मुक्त प्रशासन एवं मुक्त सरकार का पक्षधर हूं। अत्यधिक गोपनीयता–जहां राष्ट्रीय हित के तकाजों का दबाव हो, उसे छोड़कर–का मैं विरोध करता हूं। मैं राजनीतिक दलों की स्वतंत्र गतिविधियों, चाहे वह विवादास्पद ही क्यों न हों, का भी पक्ष लेता हूं। भारत की समस्याओं का समाधान उसकी जनता के संघर्षों के जरिये ही हो सकता है। गांवों एवं शहरों के गरीब जाग चुके हैं और अब उन्हें दबाकर नहीं रखा जा सकता। नागरिक अधिकारों को हमारे राजनीतिक विकास का ठोस आधार होना चाहिए। निरंकुश सत्ता का कोई सिद्धांत, लोगों की मुक्ति के किसी सुगम अधिनायकवादी उपाय का कोई विचार, मेरी प्रकृति से मेल नहीं खाता।

राजनीतिक दलों की बहुलता भारत जैसे विविधता वाले देश में

अनिवार्य है। हम अलग–अलग राजनीतिक दर्शनों के जैविक विकास को रोक नहीं सकते।

पुलिस प्रणाली को सुचारु बनाना है। आम पुलिसकर्मी की मर्यादा को भी बचाना है। पुलिसकर्मियों को अपने व्यवहार से जनता का दोस्त बनना चाहिए। अपराध अनुसंधान प्रक्रिया को भी मजबूत बनाना होगा।

जनसंख्या नियंत्रण

आम तौर पर यह माना जाता है कि गरीबी का कारण विशाल आबादी है। गरीबी अशिक्षा एवं अंधविश्वास पर सीधा आक्रमण कर, हम लोग जनसंख्या को स्थिर कर सकते हैं। विभिन्न किस्म की सेवाओं का तेजी से विस्तार करना पड़ेगा, जबकि देश के दुर्लभ साधनों का उपयोग गरीबी को मिटाने एवं लोगों की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को ऊपर उठाने में करना होगा, जिसका जनसंख्या नियंत्रण पर व्यापक असर पड़ेगा।

मीडिया नीति

मुझे पूरा विश्वास है कि तथाकथित बुद्धिजीवी मंच से व्याख्यान देकर लोगों को शिक्षित नहीं कर सकते। लोगों में खुद को शिक्षित करने लायक पर्याप्त समझदारी है, जैसा किसी विख्यात आदमी ने कहा था–अगर आप लोगों को यह बता दें कि परिस्थिति कैसी है, वे इतने बुद्धिमान हैं कि अपनी समस्या आज ही हल कर लें।

रॉबर्ट रोजेलिनी ने कहा हैः

> "जनसंचार सुविधाओं के जरिये हम एक ऐसे युग में आ चुके हैं, जहां बातें बहुत ज़्यादा हो चुकी हैं, जो वस्तुतः जनसंचार के साधनों द्वारा रचित नकली बौद्धिकता एवं बेकार की जानकारी पर आधारित उप–संस्कृति है।"

जानकारी हमेशा बुद्धिमत्ता के समतुल्य नहीं होती है। मेरे विचार से संचार, खासकर सरकारी मीडिया, और ज़्यादा जनोन्मुखी होना चाहिए, न कि सरकारी रुझान जैसा। लोगों को उपदेश देने की संस्कृति की जगह लोगों से सीखने की संस्कृति को लाना चाहिए।

प्रचार–प्रकाशन एवं मत–प्रचार आम तौर पर एक अवमानित संस्कृति है। किस सीमा तक यह दूषित हो सकती है, इसे आपातकाल के दौरान लोगों ने देखा सूचना–तंत्र को बहुत ज़्यादा सरल बनाना होगा। हमारे

पास ग्रामीण वार्ताकारों की एक ऐसी संस्था अवश्य होनी चाहिए, जो सिर्फ वस्तुगत सूचना के प्रबंधक का काम कर सकें एवं लोगों के अनुभवों को उनके ही लिए संक्षेपण में मदद दे सकें। हम लोगों को बड़ी संख्या में ग्रामीण नाट्यशालाओं, वाचनालयों एवं पुस्तकालयों के गठन के बारे में भी विचार करना चाहिए।

हमें बड़ी संख्या में ट्रांसमीटरों के बारे में सोचना होगा, जिसमें से प्रत्येक की पहुंच कुछ लाख लोगों से ज़्यादा की न हो। स्थानीय लोगों के सांस्कृतिक संप्रेषण की गुंजाइश पर ज़्यादा जोर देना होगा। जहां तक सम्भव हो, जन–संस्थाओं का ऐसे ट्रांसमीटरों पर नियंत्रण होना चाहिए। हमें गैर–परम्परागत तरीके से सोचना है। उसी तरह, हमें ऐसे बहुत से ग्रामीण समाचार–पत्रों को निकालने की योजना भी बनानी होगी, जिनका संचालन लोग स्वयं करेंगे। सरकारी मीडिया या बड़े व्यापारिक महानगरीय स्वामित्व वाले निजी मीडिया द्वारा लोगों के दिमाग को नियंत्रित करने की प्रणाली को खत्म करना होगा।

यह सब कहते हुए भी मैं इस तथ्य पर जोर देना चाहता हूं कि इन सब खामियों के बावजूद प्रेस को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखना होगा। सरकारी वितरण पर इसकी निर्भरता को खत्म करना होगा।

यहां तक कि, अगर प्रेस मेरे एवं मेरी नीतियों के खिलाफ भी हो, जैसा अमूमन वह है, तो भी मैं प्रेस की स्वतंत्रता को कम करने में विश्वास नहीं रखता। प्रेस ने गांधीजी के युग में जो क्रांतिकारी भूमिका अदा की थी, उसी भूमिका के लिए उसे हमें फिर से तैयार करना होगा।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार, १९४१. (२०१ पृष्ट)

हाउ टू एबोलिश जमींदारीः ह्विच एल्टरनेटिव सिस्टम टू एडाप्ट। (ज़मींदारी उन्मूलन कैसे करेंः किस वैकल्पिक प्रणाली को अपनाएं) १९४७. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

एबोलिशन ऑफ ज़मींदारीः टू अल्टरनेटिव्ज। (जमींदारी उन्मूलनः दो विकल्प) १९४७. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (२६३ पृष्ट)

एबोलिशन ऑफ जमींदारी इन यू० पी०: क्रिटिक अंसरड। (उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलनः आलोचकों को जवाब) १९४९. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

व्हितहर कोआपरेटिव फार्मिंग? (सामूहिक खेती की दिशा?) १९५६. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश।

एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन उत्तर प्रदेश। (उत्तर प्रदेश में कृषि क्रांति) १९५७. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश १९५८ लखनऊ, सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश। (६६ पृष्ट)

जॉइंट फार्मिंग एक्स–रैडः द प्रॉब्लम एंड इट्स सोल्यूशन। (संयुक्त खेतीः समस्या और समाधान) १९५९. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (३२२ पृष्ट)

इण्डियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन। (भारत की गरीबी और उसका समाधान) १९६४. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई। (५२७ पृष्ट)

इण्डियन इकोनॉमिक पॉलिसीः दि गांधियन ब्लूप्रिंट। (भारत की अर्थनीतिः एक गांधीवादी रूपरेखा) १९७८. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (१२७ पृष्ट)

इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इण्डियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर। (भारत की भयावह आर्थिक स्तिथिः कारन एवं निदान) १९८१. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (५९८ पृष्ट)

लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स। (उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार एवं कुलक वर्ग) १९८६. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (२२० पृष्ट)

'विशिष्ट रचनाएं: चौधरी चरण सिंह' भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री चरण सिंह द्वारा १९३३ और १९८५ के बीच लिखित २२ महत्वपूर्ण लेखों और भाषणों का संग्रह है। इस पुस्तक के अध्ययन से आज का पाठक वर्ग जान सकेगा कि मौजूदा समय की चुनौतियां न तो नई हैं और न ही समाधानहीन। इनसे निपटने के लिए एक मन–सोच अथवा जिगरा चाहिए, जो निश्चय ही धरा–पुत्र चरण सिंह में था। उनका लेखन उस प्रकाशस्तंभ की तरह है जो समुद्र में भटके हुए जहाजों को किनारे तक आने का रास्ता दिखाता है। उनके लेखन के आलोक में हम मौजूदा चुनौतियों को सही परिप्रेक्ष्य में न केवल समझ सकते हैं अपितु उनका समाधान भी पा सकते हैं। इन लेखों में उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन लेखों को सामाजिक लेखन, आर्थिक लेखन, राजनीतिक लेखन एवं उपसंहार – चार खण्डों में विभाजित किया गया है।

चौधरी चरण सिंह की अध्यात्मिक अंतश्चेतना और राजनीतिक मेधा महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गांधी से अनुप्रेरित रही, तो सरदार पटेल उनके नायक रहे। इन विभूतियों पर चौधरी साहब ने अपने विचार लेखों में प्रस्तुत किये हैं। जाति–प्रथा, आरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण, राष्ट्रभाषा जैसे सामाजिक मुद्दों के साथ ही शिष्टाचार जैसे विरल विषय पर भी दो लेख **खण्ड एक: सामाजिक लेखन** में दिये गये हैं।

चौधरी साहब भारत की उन्नति का मूल आधार कृषि, हथकरघा और ग्रामीण भारत को मानते थे। उनकी दृष्टि में ग्रामीण भारत ही वह नियामक तत्व रहा जिसे प्रमुखता देकर देश को आर्थिक रूप से सशक्त बनाया जा सकता है, साथ ही बेरोजगारी जैसी विकट समस्या को भी दूर किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में भूमि सम्बंधी सुधारों और जमींदारी समाप्त करने को लेकर चौधरी चरण सिंह पर धनी किसानों के पक्षधर होने के आरोप विरोधियों ने लगाये। उनका उन्होंने बेहद तार्किक ढंग से उत्तर दिया है। गांव–किसान और खेती के प्रति उपेक्षापूर्ण नीतियां एवं काले धन की समस्या जैसे तथा उपरोक्त विषयों पर केन्द्रित लेख **खण्ड दो: आर्थिक लेखन** के अन्तर्गत दिये गये हैं।

खण्ड तीन: राजनीतिक लेखन के अन्तर्गत भारत की लम्बी गुलामी के मूल कारणों का विश्लेषण, गांधी–चिंतन, देश में पहली गैर–कांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार की आधारभूत नीतियां, देश विख्यात माया त्यागी कांड का समाजशास्त्रीय विश्लेषण, भाषा आधारित राज्यों के खतरे आदि मुद्दों के अलावा उनके नायक सरदार पटेल की स्मृति पर आधारित लेख हैं। इसी खण्ड में चौधरी साहब के ऐतिहासिक महत्व के दो भाषण भी संकलित हैं, जो लोकशाही पर संकट और राष्ट्रीय विघटन के खतरों के प्रति सचेत करते हैं।

अंतिम **खण्ड चार: उपसंहार** है, जिसमें चौधरी साहब ने राजनीति, समाज नीति और देश से सम्बंधित अधिकतर मुद्दों पर संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

Charan Singh Archives

www.charansingh.org

ISBN 978-1-68564-806-0

9 781685 648060

Price ₹१९९